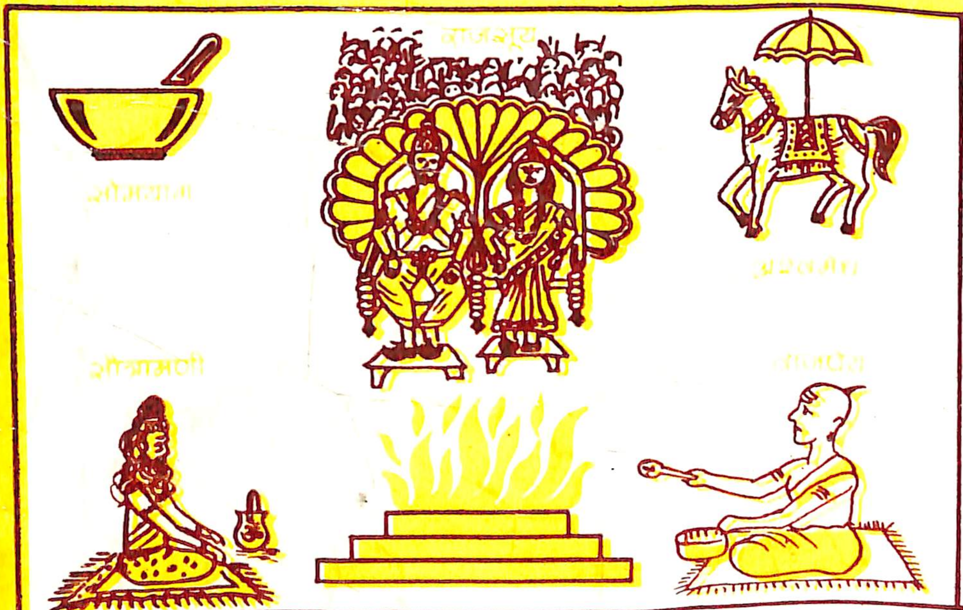


आधुनिक सन्दर्भ में प्रमुख श्रौतयागों की उपादेयता

(सौत्रामणी, सोमयाग, वाजपेय, अश्वमेध एवं राजसूय याग)



डॉ. (प्रो.) प्रभाकर शास्त्री

राजस्थान संस्कृत अकादमी

1995

आधुनिक सन्दर्भ में प्रमुख श्रौतयागों की उपादेयता

[अखिल भारतीय वेद सम्मेलन, नाथद्वारा में पठित सौत्रामणी, सोमयाग, वाजपेय, अश्वमेध एवं राजसूय यागों के निबन्धों का संकलन]

सम्पादक
प्रो. (डॉ.) प्रभाकर शास्त्री
निदेशक
राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर



प्रकाशक
राजस्थान संस्कृत अकादमी (संगम)
जयपुर

1995

प्रकाशक—
राजस्थान संस्कृत अकादमी (संगम)
वीरेश्वर भवन, गणगौरी बाजार
जयपुर-302 002 (राज.)
☎ 321450, 318887

मुद्रित प्रतियाँ : 500

मूल्य : 150/– एक सौ पचास रुपये

लेज़र टाइप सैटिंग
कम्प्यूटर वर्ल्ड,
चमेलीवाला मार्केट, एम. आई. रोड,
जयपुर ☎ 375429

मुद्रक :
आभा प्रिन्टर्स
बोरडी का रास्ता,
जयपुर ☎ 321896

सूचनिका



प्रकाशकीयम्

वैदिक संस्कृति में यज्ञ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है। ''यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।'' पाश्चात्य शोध विद्वानों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि प्राचीन भारत की वेदकालीन संस्कृति का श्रेष्ठ धार्मिक और सामाजिक अनुष्ठान यज्ञ था, जो दूसरे शब्दों में ''पशुकर्म'' कहा जा सकता है (पशुयाग का आधार लेकर); सभी धार्मिक कार्य यज्ञ की परिधि और परिभाषा में लाये जाते थे—अत: यह प्राचीनतम आर्य धर्म था। 'पूजा' जो पुष्पकर्म कहा जा सकता है, बाद में शुरू हुआ। यज्ञ और पूजा का यह तात्त्विक भेद, जो पाश्चात्य शोध-शास्त्रियों ने बतलाना चाहा है, हमारे गले उतरे या नहीं, किन्तु यह सर्वसंमत है कि यज्ञ वेदकालीन सर्वोच्च अनुष्ठान था। तभी तो प्राचीन धर्मशास्त्रकारों ने संस्कृत द्विजों के लिए अनुष्ठेय कार्यों में गिनाये जाने वाले यज्ञों को ''संस्कारों'' में शामिल करते हुए संस्कारों की संख्या 48 तक पहुँचा दी थी और 21 प्रकार की यज्ञ संस्थाओं को संस्कारों में गिना दिया था। सुसंस्कृत गृहस्थों द्वारा किये जाने वाले 21 प्रकार के यज्ञ प्राचीन भारत में सुविदित थे। यह बात अलग है कि आज बहुत से प्रबुद्ध जनों को, छात्रों को, यहाँ तक कि अध्यापकों को भी इनका पूर्ण परिज्ञान न हो तो कोई आश्चर्य नहीं। गृहस्थों द्वारा समय-समय पर (तथा कुछ नियमित रूप से) किये जाने वाले ये 21 प्रकार के यज्ञ गोपथ ब्राह्मण में इस प्रकार अभिहित हैं—''स एवं त्रिवृतं सप्ततन्तुमेकविंशति संख्यं यज्ञमपश्यत् (1/1/12)।'' अर्थात् सात-सात प्रकार के यज्ञ तीन वर्गों में विभाजित थे। पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ।

गृहस्थों द्वारा विवाह के समय जिस गृह्याग्नि का आधान किया जाता है, उसमें से किये हुए पाकों से (गृहस्थ के लिए आवश्यक पाककर्म) करणीय आवश्यक याग 'पाकयज्ञ' कहे गये हैं। अग्नि के आधान का, अग्नि के भेदों का (जैसे लौकिकाग्नि, वैतानाग्नि, सभ्याग्नि या आहवनीय, दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य, श्रौताग्नि आदि) तथा उन पर किस प्रकार याग किये जाएँ, इन विधियों का वैदिक वाङ्मय में विपुल विस्तार है। गृह्य, आवसथ्य, शालाग्नि या औपासनाग्नि (जो गार्हपत्याग्नि के ही अभिधान हैं) जीवन भर गृहस्थ द्वारा अखण्ड रखा जाने वाला अग्नि था। घर बसाने के लिए जो अग्नि अपरिहार्य होता है, वह तो प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ होना

ही चाहिए। किन्तु जो संस्कारी गृहस्थ अन्य वैदिक यज्ञ भी समय-समय पर करना चाहें वे उन यज्ञों के लिए श्रौताग्नि का आधान करते थे, जिसमें से श्रौतयाग किये जाते थे। ये दो माध्यमों से किये जाते थे, विभिन्न हविष्यों से (जिनमें पय से लेकर घृत, दधि और पशु तक गिनाये जा सकते हैं) तथा सोमरस से। हविष्यों से किये जाने वाले सात प्रकार के यज्ञ हविर्यज्ञ और सोम से किये जाने वाले सात प्रकार के यज्ञ सोमयाग कहे गये। चूँकि "देवता विशेष के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग (हविष्यादि का)" यह यज्ञ की परिभाषा हुई, अत: उन देवताओं का, उन द्रव्यों का, उन विधियों का और यज्ञों का जो विवेचन किया गया, वह अनन्त विस्तार वाले ऐसे वाङ्मय की सृष्टि कर गया, जिसका मन्थन कर आज तक वैदिक विद्वानों के शोध चले आ रहे हैं। इनमें जितना विचार मन्थन किया जाए, कम है, क्योंकि जबसे पौराणिक पूजाकर्म की प्रक्रिया शुरू हुई, सामान्य गृहस्थ को भी पूजा प्रक्रिया का परिज्ञान तो हो गया, पर वैदिक यज्ञ प्रक्रिया धीरे-धीरे विरल हो जाने के कारण विद्वान् कर्मकाण्डियों और यज्ञ में श्रद्धा रखने वाले यजमानों तक सीमित रह गई।

यज्ञ विधि की "परम्परा" तो हमारे यहाँ निरन्तर समाहित रही, यहाँ तक कि वेद के मन्त्रों से किये जाने वाले यागों के स्थान पर शतचण्डी याग, सहस्र चण्डी याग आदि अथवा विष्णु के, राम के या अन्य उपास्यों के उद्देश्य से किये जाने वाले यागों के आयोजनों द्वारा पौराणिक मन्त्रों से आहुति देने तक की प्रथा चलाकर यज्ञ की परिधि को इतना विस्तृत कर दिया गया कि वेदमन्त्रों द्वारा आहुति आवश्यक नहीं रही। हमने तो यहाँ तक सुना है कि रामचरितमानस के पारायण के बाद उसकी चौपाइयों या दोहों से भी अग्नि में आहुतियाँ दी जाने लगी हैं। यह सब वैदिक यज्ञ संस्था के प्रति भारतीय समाज की अनन्य श्रद्धा का ही द्योतक है।

परिणाम यह है कि प्राचीन वैदिक काल का जो विशाल यज्ञात्मक कर्मकाण्ड था, वह अल्पज्ञात होने लगा। तभी तो जयपुर के सवाई ज़यसिंह जैसे राजाओं को जब यह कुतूहल हुआ कि वेदकाल में जैसे श्रौतयाग हुआ करते थे, उनका अनुष्ठान करवाना परम श्रेयस्कर होगा तो उन्होंने ऐसे यज्ञ किये। सवाई जयसिंह ने अपने गुरू से वाजपेय याग करवाया (क्योंकि वह श्रेष्ठ ब्राह्मण द्वारा ही अनुष्ठेय होता है) और स्वयम् ने अश्वमेध यज्ञ किया। स्वाभाविक है कि जिस जयपुर नगरी के साथ स्थापना काल से ही श्रौतयागों के अनुष्ठान का यह इतिहास जुड़ा

हुआ है। उसमें श्रौतयाग की मीमांसा की परम्परा भी रही हो। तभी तो इस नगर में निरन्तर वेद विज्ञान और यज्ञ विधान का विमर्श होता रहा है। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में पं. मधुसूदन ओझा ने "यज्ञ सरस्वती" और "यज्ञ मधुसूदन" आदि नामों से यज्ञ विज्ञान पर जो ग्रन्थ लिखे, उनकी धूम भी सारे देश में उसी प्रकार मच गई, जिस प्रकार उनके वेदविज्ञान या इतिहास ग्रन्थों की मची थी। पं. मोतीलाल शास्त्री ने हजारों पृष्ठों का वाङ्मय हिन्दी में निबद्ध किया, जो उपलब्ध है।

श्रौतयागों के विवेचन की इसी परम्परा को आगे बढाने की दृष्टि से राजस्थान संस्कृत अकादमी ने एक संगोष्ठी इसी विषय पर आयोजित की थी। यह संगोष्ठी जयपुर में आयोजित न होकर वल्लभदर्शन के प्रधान पीठ श्रीनाथद्वारा में आयोजित हुई, जिसमें देश के मूर्धन्य वेदविद्वानों ने भाग लिया। इसमें श्रौतयागों के महत्त्व का, उनके इतिहास का, आधुनिक सन्दर्भों में उनकी अर्थवत्ता आदि का विवेचन तो हुआ ही, उनके कुछ प्रकारों के (जैसे सौत्रामणी इष्टि, वाजपेय, अश्वमेध आदि) विस्तृत विवरण, मीमांसा आदि भी विमृष्ट हुए। जैसा ऊपर स्पष्ट है, इक्कीस प्रकार के यज्ञों में गृह्याग्नि में से किये जाने वाले सात पाकयज्ञ (औपासन होम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिश्राद्ध, श्रवणा और शूलगव) कहने को तो यज्ञ हैं ही, किन्तु स्मृतियों और गृह्यसूत्रों में विहित होने के कारण इन्हें स्मार्तयज्ञ कहा जाता है, जो एक प्रकार से गृहस्थ के लिए विहित नित्यकर्म हैं और स्मार्ताग्नि में किये जाते हैं।

सात सोम संस्थाएँ और सात हविर्यज्ञसंस्थाएँ विधिविधान से श्रौताग्नियों में विशिष्ट उद्देश्यों से किये जाने वाले यज्ञ हैं। अत: इन्हें ही श्रौतयाग कहा जाता है। वैसे तो सोमसंस्थाओं में अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम आते हैं और हवि: संस्थाओं में अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणी और पिण्डपितृयज्ञ आते हैं किन्तु इनके अन्य भेदोपभेद और समुच्चय इतने हैं कि यज्ञसंस्था का बहुत बड़ा विस्तार उपलक्षित होता है। उदाहरणार्थ सोमसंस्थाओं में गवामयन, राजसूय, अश्वमेध आदि अनेक सुप्रसिद्ध यज्ञ भी आते हैं। राजसूय और अश्वमेध मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय द्वारा करणीय होते हैं और रामायण काल से लेकर महाभारत काल और सवाई जयसिंह के काल तक इनका जो इतिहास मिलता है, उससे ये दो तो जनसामान्य में भी सुविदित हो ही गये हैं।

इन्हीं श्रौतयागों के, जिनमें ज्योतिष्टोम ही नहीं, उसके भेदोपभेद भी शामिल हैं, विभिन्न पक्षों पर विवेचन प्रस्तुत करने वाले जो शोधपत्र श्रीनाथद्वारा की इस अखिल भारतीय विद्वद् गोष्ठी में पढ़े गये, उनका यथावत् संकलन इस ग्रन्थ में आपको मिलेगा। अकादमी इससे पूर्व समीक्षा चक्रवर्ती पं. मधुसूदन ओझा द्वारा व्याख्यात वेदविज्ञान का प्रारम्भिक परिचय कराने हेतु श्रीकर्पूरचन्द्र कुलिश की एक पुस्तक 'वेदविज्ञान' हिन्दी में प्रकाशित कर चुकी है। स्वयं ओझाजी के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'छन्दः समीक्षा' और 'वर्णसमीक्षा' भी प्रकाशित कर चुकी है (जिनमें क्रमशः शास्त्र और वर्णमालानुशासन विवेचित हैं) किन्तु यज्ञ विधानों पर शोधात्मक आकलन करने का उद्देश्य पूरा करने वाला यह ग्रन्थ अपने आप में अनूठा है।

इससे पूर्व वेदभाष्य पद्धतियों तथा वेदभाष्यकारों पर प्रकाश डालने वाले शोधपत्रों का संकलन अकादमी द्वारा प्रकाशित किया गया है, जिसका शीर्षक है ''वेदार्थ विचार के सन्दर्भ में प्रमुख वेदभाष्यकारों का योगदान'' यह भी श्रीनाथद्वारा में 1992 में आयोजित विद्वद् गोष्ठी में पढ़े गये शोधपत्रों का संकलन ही था। वेदवाङ्मयवारिधि के अवगाहन के लक्ष्य से प्रकाशित इन ग्रन्थों की शृंखला में आने वाला श्रौतयाग विवेचक यह अभिनव उपक्रम भी विद्वानों और जिज्ञासुओं का ध्यान आकृष्ट करेगा, इस आशा के साथ आपकी सेवामें प्रस्तुत है।

ऋषि पंचमी 2052,
30 अगस्त, 1995
सी/8 पृथ्वीराज रोड, जयपुर

कलानाथ शास्त्री
अध्यक्ष
राजस्थान संस्कृत अकादमी

सम्पादकीयम्

राजस्थान संस्कृत अकादमी ने सन् 1993 ई. में मन्दिर मण्डल, एवं संस्कृत विकास समिति, नाथद्वारा के संयुक्त तत्त्वावधान में एक अखिल भारतीय वैदिक संगोष्ठी का आयोजन किया था, जिसका विषय था—'प्रमुख वेदभाष्यकारों का योगदान।' इस संगोष्ठी में पठित शोध लेखों का प्रकाशन होने के बाद एक दिन सहसा यह विचार उत्पन्न हुआ कि यज्ञों की महिमा पर चर्चा तो होती है, परन्तु उसके शास्त्रीय स्वरूप से सामान्य जन पूर्णत: परिचित नहीं। विशेषत: श्रौतयागों का स्वरूप विवादास्पद होता जा रहा है—पशुबलि को आधार मान कर। कुछ कहते हैं—सभी श्रौतयागों में हिंसा नहीं होती। कुछ विद्वानों का कथन है वैदिक काल में पशु बलि अनिवार्य थी। 'यज्ञीया हिंसा हिंसा न भवति' सिद्धान्त भी प्रचलन में आया और अब तो उन यागों के मूल स्वरूप में ही पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। ऐसे एक अश्वमेध यज्ञ को मैंने जयपुर में आयोजित होते देखा है और वैदिक ग्रन्थों में जो उसका स्वरूप पढ़ा है, दोनों का तुलनात्मक अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। इसी विचार ने प्रेरित किया कि एक अखिल भारतीय संगोष्ठी आयोजित की जानी चाहिए, जिसमें अधिकृत विद्वान् उन श्रौतयागों की शास्त्रीय दृष्टि से समीक्षा करें तथा आधुनिक सन्दर्भों में, साम्प्रतिक काल में उनके आयोजन की उपादेयता पर भी प्रकाश डालें।

'वेद' एक रहस्यमय ज्ञान की निधि है। उसी एक मन्त्र की अनेक व्याख्यायें दृष्टिगत होती है। किसी मन्त्र का सायणाचार्य जो अर्थ प्रस्तुत करते हैं, महर्षि दयानन्द भिन्न ही विवेचन करते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी समझ से लौकिक अर्थ प्रस्तुत किया है, तो कुछ उसमें विज्ञान खोजते हैं। कोई आध्यात्मिक दृष्टि से वेदार्थ करता है, तो अन्य आधिदैविक या आधिभौतिक व्याख्यान करता है। मन्त्रों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों की निर्वचन की दृष्टि से नानार्थता तथा उनकी यथोचित संगति भी विचारणीय पक्ष है। यह सब उनके लिए तो सरल है, जो शास्त्राभ्यास में निरत हैं, निरूक्तादि वेदाङ्गों के सहयोग से वेदार्थ चिन्तन करते हैं। सर्व सामान्य के लिए तो वही अर्थ अधिक उपयुक्त है, जो उन्हें प्रभावित करें या उनके लिए बोधगम्य हो। वेद के गूढ़ रहस्यों के प्रति जिज्ञासु व्यक्तियों को ज्ञान संवर्द्धन में कितनी सफलता मिल पाती है तथा वह उसे प्राप्त कर कितनी शक्ति का अनुभव करता है, यह सब भी विशेष संयोग से ही सम्भव हो पाता

है। कारण स्पष्ट है, पल्लवग्राही पाण्डित्य तो सर्वत्र सुलभ है, परन्तु वह गूढ़ गम्भीर ज्ञान सर्वत्र दुर्लभ है।

यज्ञों के महत्त्व पर भी बहुत कुछ लिखा गया है। शास्त्रकारों का स्पष्ट अभिमत है कि प्रत्येक कार्य के दो फल होते है—प्रत्यक्ष या परोक्ष। मीमांसकों का सिद्धान्त है कि कर्म ही ईश्वर है। यज्ञों के निष्पादन में भी यही दृष्टि है। प्रत्यक्ष फल तो सभी देखते है कि वातावरण की शुद्धि हो जाती है, वर्षा होती है, जो सभी प्राणियों के लिए जीवनदायक मानी गई है। महर्षि मनु ने लिखा है—

"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्ज़ायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥"

अग्नि में डाली गई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है। सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है तथा अन्न से समस्त प्राणी जीवित रहते हैं। मीमांसक यज्ञ से 'अपूर्व' की उत्पत्ति मानते हैं, जो प्राणी के लिए परलोक में सुख का साधन बनता है। अतः प्राचीन काल में, वैदिक काल में यज्ञ कर्म अनिवार्य कर्म था। अब प्रश्न है—यज्ञों के वैविध्य को लेकर। तो यह स्पष्ट है, जैसी कामना वैसा ही उसका संसाधक यज्ञ। यद्यपि यज्ञ सामान्य का अनुष्ठान तो 'विधि' अर्थात् अनिवार्य कर्म माना गया है, तथापि विशिष्ट यज्ञों के सम्पादनार्थ फलश्रुति का संयोजन कर दिया गया—पुत्रकामः, स्वर्गकामः, पशुकामः, भूतिकामः जिसे जो कामना हो, वह उसी कामना से उस विशिष्ट याग का सम्पादन करे।

वैदिक यागों की संख्या अनन्त है। फिर भी प्रमुखतः सोमसंस्था, हविःसंस्था तथा पाकसंस्था के रूप में इनका प्रमुखता से प्रचलन रहा है। इनमें भी सोमयाग अधिक आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। 'सोम' को लेकर आज भी पर्याप्त विवाद है, जबकि आयुर्वेद शास्त्र में इसका स्पष्ट स्वरूप प्राप्त होता है कि यह एक वनस्पति है तथा विशिष्ट स्थान पर उत्पन्न होती है।

भारतीय संस्कृति किंवा वैदिकसंस्कृति तीन तत्त्वों पर विशेष बल देती है। किसी भी कार्य के सम्पादन में विधि, वित्त तथा श्रद्धा का होना विशेष फलदायक माना है। इसमें भी 'विधि' अर्थात् प्रयोग ज्ञान अत्यावश्यक बिन्दु है। किसी भी कार्य को विधिपूर्वक सम्पन्न करने पर ही अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है। शास्त्रकारों का निर्देश है कि कर्म सम्पादन में वित्तशाठ्य नहीं किया जाना चाहिए। 'वित्तशाठ्यं विवर्जयेत्।' अपनी शक्ति के अनुसार, परन्तु अभिप्रेत द्रव्य व्यय में कृपणता नहीं करनी चाहिए और तीसरी बात का सम्बन्ध 'श्रद्धा' से है। यदि उस कर्म विशेष के सम्पादन के प्रति आपकी मानसिकता नहीं है, तो उसके अनुष्ठान का कोई औचित्य नहीं है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने भी स्पष्ट कहा है—

'श्रद्धावान् लभते सर्वम्।'

अस्तु यह सत्य है कि श्रौतयाग अनेक हैं। सामान्यत: लोक में जिनका प्रचलन है, वे हैं—सोमयाग, अश्वमेध, वाजपेय, राजसूय आदि। विचार-विमर्श के बाद प्रमुख पाँच श्रौतयागों को चिन्तन का विषय बनाया गया, जिसमें ''सौत्रामणी'' याग को भी जोड़ा गया। शक्तिहीन होने पर व्यक्ति को किस प्रकार शक्ति सम्पन्न बनाया जा सकता है—यही इस याग का प्रमुख उद्देश्य है। मैंने इन पाँचों श्रौतयागों की आधुनिक सन्दर्भ में उपादेयता पर माननीय *डॉ. सुधीर कुमार जी गुप्त* से चर्चा की तथा उनसे निवेदन किया कि वे इन पाँचों यागों के महत्त्व पर एक महत्त्वपूर्ण लेख तैयार करें, जो इस उल्लेखनीय वैदिक संगोष्ठी का मुख पत्र हो। उन्होंने मेरे आग्रह को मूर्तरूप प्रदान किया तथा शारीरिक दुर्बलता व अस्वस्थता के उपरान्त भी श्रमपूर्वक शोधपत्र लिखा। संस्कृत अकादमी तथा व्यक्तिश: मैं उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना पुनीत कर्त्तव्य मानता हूँ, यद्यपि इस ग्रन्थ के प्रकाशन से पूर्व 15 जून, 1995 को उनका आकस्मिक निधन हो गया तथापि उनके योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। उन्होंने इस ग्रन्थ में प्रकाशित हो रहे समस्त आलेखों को मनोयोगपूर्वक पढ़ा तथा उनके महत्त्वपूर्ण सुझावों के अनुसार आलेखों को संशोधनार्थ आलेख लेखकों को भेजा भी गया था। इस कार्य में कुछ समय लगा और इसीलिए इसके प्रकाशन में विलम्ब हुआ है। इस ग्रन्थ के तथा संगोष्ठी के आयोजन में वेद तथा वैदिक वाङ्मय के परम्परागत वैदुष्य संवलित वाराणसीस्थ मिश्र बन्धुओं का विशिष्ट सहयोग भी अविस्मरणीय है। संगोष्ठी की योजना को मूर्तरूप देने में तथा विशिष्ट आलेखकों के चयन में इनका योगदान संस्मरणीय है। इनमें डॉ. (प्रो.) युगल किशोर जी मिश्र ने राजसूय याग पर तथा डॉ. श्री किशोर जी मिश्र ने अग्निष्टोम (सोमयाग) पर जो विवेचन किया है, वह सर्वसामान्य पाठक के लिए भी परम उपादेय है।

जिन विशिष्ट पाँच श्रौतयागों पर इस संगोष्ठी में चर्चा हुई है, उसमें शास्त्रीय दृष्टि के साथ कुछ आलेख केवल विवरणात्मक न होकर आलोचना प्रधान भी हैं तथा शोधपूर्ण भी। अश्वमेध के सम्बन्ध में डॉ. पुष्कर दत्त शर्मा द्वारा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उठाये गए बिन्दु महत्त्वपूर्ण हैं तथा चिन्तन हेतु आमन्त्रित करते है, चाहे परम्परावादी रूढ़िता सिद्धान्त में विश्वास करने वाले व्यक्तियों को रुचिकर न लगें। इसी प्रकार डॉ. कमला प्रसाद सिंह, वाराणसी का वाजपेय याग के सम्बन्ध में प्रस्तुत चिन्तन भी मननीय व पठनीय है।

डॉ. श्री सुधीर कुमार जी गुप्त के महत्त्वपूर्ण एवं परिचयात्मक आलेख के उपरान्त ''सौत्रामणी'' याग का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया है—महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर के वेदव्याख्याता डॉ. उमेश दाश ने। इनके शोध प्रबन्ध का विषय भी श्रौतयागों से सम्बद्ध रहा है तथा वर्तमान में भी आप डी. लिट्

उपाधि के लिए दर्शपौर्णमास यागों के महत्त्व पर शोध कार्य कर रहे हैं। इनके आलेख में ''सौत्रामणी'' श्रौतयाग के अतिरिक्त भी बहुत कुछ सामग्री संकलित है, जो वेद एवं वैदिक वाङ्मय के महत्त्व का प्रतिपादन करती है।

इसी प्रकार दूसरे युवा वेदज्ञ डॉ. जगन्नाथ गुरांगाई, पूर्व व्याख्याता वेद, वनस्थली विद्यापीठ एवं वर्तमान में धर्मोपदेशक भारतीय गोरखा सेना ने सरल एवं सारगर्भित रूप में 'सौत्रामणी' याग के शास्त्रीय महत्त्व को उजागर किया है।

प्रो. श्री वामदेव जी मिश्र, काशी विद्यापीठ वाराणसी ने सौत्रामणी याग का परिचय प्रस्तुत करने के उद्देश्य से आलेख लिखा है। आपका वैदिक वाङ्मय व विशेषत: यागों पर विशेष अध्ययन है, न केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से, अपितु प्रायोगिक दृष्टि से भी, तथापि अत्यधिक व्यस्तता के कारण आपने परिचयात्मक लेख लिखकर ही सही, शुभाशीर्वाद प्रदान किया है। मेरी उनसे कुछ विशिष्ट अपेक्षायें थी, जिन पर वे अधिकृत रूप से अपने विचार प्रस्तुत कर सकते थे, विशेषत: यज्ञीय हिंसा को लेकर। क्या आज के प्रबुद्ध युग में भी पशुबलि के बिना यज्ञ का सम्पादन नहीं किया जा सकता? यह बात भिन्न है कि शास्त्रकारों ने अनेक यागों को कलिवर्ज्य प्रकरण में प्रस्तुत कर इस विवादस्पद विषय पर प्रतिबन्ध सा लगा दिया है, तथापि क्या ऐसा किया जाना युक्ति संगत है? इस प्रश्न पर तो विचार किया ही जा सकता था। नवदिल्लीस्थ पं. महादेव शास्त्री जी ने तो वार्तालाप प्रसंग में पशुबलि को नितान्त अनिवार्य माना है और उसकी खानापूर्ति के लिए किये जाने वाले अन्य विधानों को कथमपि शास्त्रीय नहीं माना है।

'सौत्रामणी' श्रौतयाग के शास्त्रीय स्वरूप विवेचन के बाद 'सोमयाग' का विश्लेषण किया गया है। वस्तुत: इस याग पर सर्वाधिक आलेख प्राप्त हुए है। आलेखक हैं—

1. सर्व श्री (डॉ.) श्रीकिशोर मिश्र, वाराणसी
2. सर्व श्री (डॉ.) दयानन्द भार्गव, जोधपुर
3. सर्व श्री (डॉ.) विनायक जी त्रिपाठी, रीवां
4. सर्व श्री (डॉ.) महेन्द्र कुमार मिश्र, अलीगढ़
5. सर्व श्री नारायण दत्त शर्मा, नई दिल्ली
6. सर्व श्री विष्णुदत्त जी पुरोहित, नाथद्वारा

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के संस्कृत विभाग के प्रवाचक पद पर कार्यरत डॉ. श्रीकिशोर मिश्र ने अग्निष्टोम व सोम याग में अभेद स्थापित करते हुए सप्त सोम संस्थाओं में सर्वप्रथम परिगणित अग्निष्टोम का शास्त्रीय दृष्टि से स्वरूप प्रस्तुत किया है। जोधपुरस्थ जयनारायण विश्वविद्यालय के प्रोफेसर

डॉ. दयानन्द जी, भार्गव ने सोमयाग (अग्निष्टोम) के वैज्ञानिक स्वरूप को उजागर किया है। अद्यतन सन्दर्भ में यह लेख मननीय, पठनीय एवं चिन्तनीय है।

शासकीय संस्कृत महाविद्यालय, श्री अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय रीवां (मध्यप्रदेश) के वेद विभागाध्यक्ष प्रो. (डॉ.) विनायक त्रिपाठी जी के आलेख का शीर्षक है—''आधुनिक सन्दर्भ में प्रमुख श्रौत यागों में सोमयाग की उपदेयता।'' डॉ. त्रिपाठी का अभिमत है कि श्रौतयाग आज भी उतने ही उपादेय हैं, जितने वैदिक काल में थे, वेद के ही प्रमाणों से उन्होंने प्रमाणित किया है कि यज्ञ भारतवर्ष के मूल स्वरूप के संरक्षण में सम्वर्द्धन में, राष्ट्रीय एकता के सन्दर्भ में, सभी प्राणियों को साथ लेकर चलने में, लौकिक एवं पारलौकिक सभी प्रकार के कल्याण प्रदान करने में सक्षम हैं। सोमयाग के प्रकारों का उल्लेख करते हुए डॉ. त्रिपाठी ने प्रतिदिन साध्य इतिकर्त्तव्यता पर प्रकाश डाला है तथा सोमलता के सम्बन्ध में भी परिचायात्मक विवरण प्रस्तुत किया है।

वार्ष्णेय कालेज, अलीगढ़ के संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ. महेन्द्र कुमार मिश्र व उनकी धर्मपत्नी श्रीमती (डॉ.) मञ्जू मिश्र ने ''अग्निष्टोम याग व्यावहारिक कर्मकाण्डीय पक्ष'' शीर्षक से शोध निबन्ध प्रस्तुत किया है। पुरातन वैदिक यागों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए डॉ. मिश्र ने इष्टि, पशु तथा सोम भेद से यज्ञ को तीन भागों में विभक्त किया है। इसके उपरान्त उन्होंने गौतम धर्मसूत्र का आधार लेकर सप्त सोम संस्थाओं का उल्लेख किया है तथा उनमें प्रथम अग्निष्टोम का शास्त्रीय स्वरूप उपस्थित किया है। इस लेख में सोमयाग में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्दों जैसे—प्रवर्ग्य, महावेदि, उपवद, प्रातरनुवाक, महाभिषव का व्याख्यान भी प्राप्त होता है, जिससे यागविधि बोधगम्य हो गई है।

श्री नारायण दत्त शर्मा, नई दिल्ली ने ''अग्निष्टोम यज्ञ का वैशिष्ट्य'' शीर्षक शोधपत्र में अग्निष्टोम की उत्पत्ति, अग्निष्टोम की व्युत्पत्ति, नामान्तर, प्रथम सोमयाग के रूप में अग्निष्टोम का महत्त्व, उसकी सर्वकामसाध्यता तथा इस याग की प्रमुख कतिपय विशेषताओं पर सारगर्भित विचार प्रस्तुत किये हैं। लेखक के विषय के अतिरिक्त श्री शर्मा ने जो शोध सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं।

श्रीमद् वल्लभाचार्य का या उनके मतानुयायियों पुष्टिसम्प्रदायाचार्यों का इन श्रौत यागों से कोई सम्बन्ध रहा है या नहीं, अथवा वे किस याग के अनुष्ठान पर विशेष बल देते हैं, उन्हें कौनसा श्रौतयाग अभीष्ट रहा है—आदि प्रश्नों के समाधान हेतु जब चिन्तन प्रवृत्त हुआ, तो यह तथ्य समुख आया कि श्रीमद् वल्लभाचार्य महाप्रभु सोमयाग को विशिष्ट महत्त्व प्रदान करते थे। कांकरोली के द्वारकाधीश मन्दिर के महन्त गोस्वामी श्री ब्रजकिशोर जी महाराज से सोमयाग

के सम्प्रदायानुकूल स्वरूप पर जब चर्चा हुई तो उन्होंने इस पर विस्तार से आलेख भेजने को कहा था, परन्तु स्मरण पत्र के उपरान्त भी वह महत्त्वपूर्ण एवं विषय प्रतिपादक आलेख प्राप्त नहीं हो सका। संगोष्ठी स्थल पर पं. विष्णुदत्त पुरोहित से जब चर्चा हुई थी तो उन्होंने उसी समय जो विचार व्यक्त किये थे, उनके द्वारा वे लिपिबद्ध प्राप्त होने पर यहाँ यथावत् प्रकाशित किये गये हैं। अच्छा होता, यदि शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग की दृष्टि से सोमयाग पर तुलनात्मक दृष्टि से चर्चा होती तथा वही आलेखबद्ध प्रकाशनार्थ प्राप्त होता।

तीसरा याग है—'वाजपेय।' इस पर तीन आलेख प्राप्त हुए है। प्रथम आलेख लेखक हैं—पं. रामप्रपन्न जी शास्त्री व्याकरणाचार्य। इन्होंने गुरुमुख से जो वैदिक यागों का ज्ञान प्राप्त किया, उसे यहाँ "वाजपेय यज्ञ का स्वरूप और आधुनिक युग में श्रौतयज्ञों की व्यावहारिकता" शीर्षक से महत्त्वपूर्ण आलेख प्रस्तुत किया है। यद्यपि श्री शास्त्रीजी का यह विवेचन शास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है, तथापि एक न्यूनता अवश्यमेव दृष्टिगत होती है, वह है—शोध सन्दर्भों का उल्लेख न करना। यदि सन्दर्भोल्लेखन हो जाता तो निश्चय ही यह शोधपरक हो जाता एवं 'नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते' की सीमा में आबद्ध हो जाता।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के वरिष्ठ उपाचार्य डॉ. कमला प्रसाद सिंह ने 'वाजपेय याग' शीर्षक से लिखे अपने शोध लेख में वाजपेय याग की प्रतीकात्मक दृष्टि पर विशेष प्रकाश डाला है। वाजपेय के शास्त्रीय स्वरूप को चित्रित कर उन्होंने उसका प्रतीकात्मक रूप में विश्लेषण किया है। आधुनिक युग में यह विवेचन बुद्धिगम्य भी है।

डॉ. महेन्द्र कुमार मिश्र ने अग्निष्टोम के साथ 'वाजपेय याग के कुछ एक महत्त्वपूर्ण कृत्य' शीर्षक से जो आलेख प्रस्तुत किया है, उसमें प्रारम्भ में तो याग की विधि पर प्रकाश डाला है तथा इसे सोमयागों में महत्त्वपूर्ण याग स्वीकारा है।

'अश्वमेध याग' के केवल दो ही आलेख प्राप्त हो सके। इनमें प्रथम आलेख है—बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के वरिष्ठ प्रोफेसर डॉ. श्री वीरेन्द्र कुमार जी वर्मा का। 'अश्वमेध' शीर्षक से प्रस्तुत इस आलेख में अश्वमेध याग के मूल स्वरूप व विधि का शास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण है तथा अन्त में विद्वान् लेखक ने आधुनिक सन्दर्भ में इसकी उपादेयता पर भी प्रकाश डाला है तथा इसे राष्ट्र की समृद्धि का सूचक माना है।

डूँगर स्नातकोत्तर महाविद्यालय बीकानेर के पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ. पुष्कर दत्त शर्मा ने "अश्वमेध यज्ञ का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण" शीर्षक लेख में अश्वमेध यज्ञ के शास्त्रीय दृष्टिकोण को समक्ष रखकर उन सभी बिन्दुओं को विचारार्थ प्रस्तुत किया है, जो सर्वसामान्य के लिए बुद्धिगम्य नहीं है। जैसे अश्वमेध

यज्ञ का फल चक्रवर्ती सम्राट् होना, सम्पूर्ण विश्व में भ्रमण करने के लिए अश्व को कितना समय लगेगा तथा उसके साथ होने वाली किसी भी घटना का परिज्ञान यज्ञकर्ता राजा को कैसे होगा ? उनकी दृष्टि में तो अश्वमेध यज्ञ एक सुन्दर परिकल्पना मात्र है। आधुनिक सन्दर्भों में यह लेख विचारणीय एवं मननीय है।

पञ्चम एवं अन्तिम श्रौतयाग पर तीन आलेख चर्चित रहे। इनमें दो आलेख विषय प्रतिपादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम आलेख प्रस्तुत किया है—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के वेद विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष डॉ. युगल किशोर मिश्र जी ने। इन्होंने 'राजसूय याग' के शास्त्रीय पक्ष को सरल रूप में प्रस्तुत किया है। याग में प्रयुक्त होने वाली समस्त पारिभाषिक शब्दावली का भी स्पष्टार्थ प्रस्तुत किया है, जिससे इस याग की विधि स्वत: स्पष्ट हो गई है।

दूसरा आलेख अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ. सत्यप्रकाश सिंह ने प्रस्तुत किया है, जिसका शीर्षक है—"राजसूय यज्ञ विधि और महत्त्व।" प्रो. सिंह ने राजूसय याग की विधि की मीमांसा नये सन्दर्भों में प्रस्तुत की है। उनकी दृष्टि में एक राजा को स्वयं को सबल प्रमाणित करने के लिए 'राजसूय' यज्ञ अनिवार्य रूप से करना चाहिए। डॉ. सिंह ने राजसूय याग के प्रत्येक कर्म की अधुनातन व्याख्या की है तथा प्रतीकात्मक मानते हुए उसका विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रायोगिक एवं व्यावहारिक पक्ष के समन्वय को प्रस्तुत करने वाले इस यज्ञ का आलेख मननीय है।

तीसरा व अन्तिम आलेख—लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली के वरिष्ठ व्याख्याता डॉ. रमेशचन्द्र दाश शर्मा का है। डॉ. शर्मा ने राजसूय याग के सम्पूर्ण विषय को विवरणात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया है, जिनकी युक्तिसंगत व्याख्या पूर्व प्रस्तुत दो लेखों में हो चुकी है।

इस प्रकार त्रिदिवसीय अखिल भारतीय वेद संगोष्ठी में अठारह शोध पत्र प्रस्तुत हुए, जिनका यह संकलन सर्वजन हिताय अकादमी प्रकाशित कर रही है। इनके मनोयोग पूर्वक अध्ययन से सर्व सामान्य बुद्धिजीवी भी श्रौतयागों के मूल स्वरूप को समझ सकता है तथा भ्रान्त विचारधाराओं का खण्डन करने में सक्षम भूमिका निर्वाह कर सकता है।

मैं अकादमी के निदेशक के रूप में तथा व्यक्तिगत रूप से मन्दिर मण्डल, नाथद्वारा के समस्त अधिकारी गण, सम्माननीय श्री गोविन्द लाल जी महाराज तिलकायत जी, **जिलाधीश** महोदय एवं विशेषत: मुख्य कार्यक्रम निष्पादन अधिकारी **श्री कैलाशनाथ जी वाजपेयी** तथा उनके सहयोगी **श्री दिनेश जी** को साधुवाद प्रदान करना अपना पुनीत कर्तव्य मानता हूँ, जिनके अविस्मरणीय सहयोग से

यह त्रिदिवसीय वेद संगोष्ठी सानन्द सम्पन्न हुई, जिसका उद्घाटन तत्कालीन विधानसभाध्यक्ष माननीय **श्री हरिशंकर जी भाभडा,** वर्तमान उपमुख्यमन्त्री राजस्थान के ओजस्वी एवं प्रेरणाप्रद भाषण से हुआ। आवास एवं आगन्तुक अतिथि विद्वानों के भोजनादि की व्यवस्था के साथ मन्दिर मण्डल की ओर से की गई अविस्मरणीय सम्मान व्यवस्था के लिए श्री वाजपेयी जी एवं उनके सहयोगी श्री दिनेश जी धन्यवाद के पात्र हैं। इस कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के प्रान्त कार्यवाह **माननीय पं. गिरिराज जी शास्त्री दादा भाई** का विशिष्ट अतिथि के रूप में शुभागमन तथा कार्यक्रम के **अध्यक्ष मेवाड़ महामण्डलेश्वर माननीय महन्त श्री मुरली मनोहर शरण देवाचार्य** का जो शुभाशीर्वाद प्राप्त हुआ है, वही इसे सफलता दिलाने का प्रमुख कारण है। नाथद्वारा में इस कार्यक्रम के प्रमुख सूत्रधार के रूप में संस्कृत विकास समिति, नाथद्वारा के **मन्त्री श्री बालकृष्णजी शास्त्री** को कथमपि विस्मृत नहीं किया जा सकता। मैं राजस्थान संस्कृत अकादमी के समस्त पदाधिकारियों, विभिन्न समिति के सदस्यों, पत्रवाचकों, आयोजकों एवं उद्घाटन सत्र के मुख्य अतिथि, विशिष्ट अतिथि, अध्यक्ष महोदय के साथ मन्दिर मण्डल एवं संस्कृत विकास समिति के समस्त पदाधिकारियों के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ, जिनकी अहैतुकी कृपा से यह गोष्ठी सर्वविध उल्लेखनीय गोष्ठी प्रमाणित हो सकी। वस्तुत: भगवद्गीता के—

''ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥''

सन्देशानुसार हृदिस्थित आनन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र स्वरूप श्री श्रीनाथ प्रभु की ही लीला है, जिसमें समस्त प्राणी निमित्त मात्र है। मैं उनकी सत्प्रेरणा से प्राप्त यह ज्ञानोपहार उन्हीं के चरणारविन्दों में समर्पित कर रहा हूँ।

इति शम्

निवेदक
डॉ. प्रभाकर शास्त्री

1

आधुनिक सन्दर्भ में प्रमुख श्रौतयागों की उपादेयता, उत्पत्ति एवं विकास, [संक्षिप्त परिचय]

डॉ. सुधीर कुमार गुप्त
जयपुर

**ओ३म् यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधया अग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥
यस्मात् कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरवदध्म एनम्।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह॥ ओ३म्॥**

सज्जनों,

इस वेदगोष्ठी में भाग लेने एवं विषयप्रवर्तन के लिए आमन्त्रकों एवं आप सब का परम आभारी हूँ। इस गोष्ठी के आयोजन के लिए राजस्थान संस्कृत अकादमी के अधिकारी गण, प्रमुख रूप से इसके निदेशक डॉ. प्रभाकर शास्त्री जी, इस संस्थान के अध्यक्ष एवं संचालक अधिकारीगण को बहुत साधुवाद हैं। वर्तमान में इसकी परम आवश्यकता सुव्यक्त है, क्योंकि आज सामान्य वेदभक्त और वेदानुयायी जन श्रौतयागों के स्वरूप आदि से नितान्त अपरिचित है और इस कारण कुछ संस्थाएँ श्रौतयागों के नाम से स्वकल्पित यागों का अनुष्ठान कर रही हैं। इस गोष्ठी का लक्ष्य ''आधुनिक सन्दर्भ में प्रमुख श्रौतयागों की उपादेयता'' का निर्धारण है। इस निर्धारण के लिए जैसे श्रौतयागों के विवरण, उनमें विनियुक्त मन्त्रों के अर्थ आदि और क्रियाओं की उपयोगिता आदि का ज्ञान अपेक्षित है,

वैसे ही इन यागों की उत्पत्ति, विकास, परिचय एवं कुछ अन्य सम्बन्धित विषयों आदि की जानकारी भी अपेक्षित है। इस लेख में यह जानकारी ही यथाशक्ति एवं यथामति संक्षेप में देने का प्रयास किया गया है।

श्रौतयाग

'श्रौत' का अर्थ 'श्रुति में विहित, वर्णित या केवल संकेतित' है। सामान्यत: एवं मूलत: चार मूल वेदों—ऋग्वेद की शाकल, सामवेद की राणायनीय, शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन और अथर्ववेद की शौनक संहिताओं को 'श्रुति' माना जाता है। कालान्तर में शाखासंहिताओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों को भी श्रुति माना जाने लगा और **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** सूत्र बना कर ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी 'वेद' कहा और माना जाने लगा। उपनिषदों में कर्मकाण्डीय यज्ञों का विवेचन नहीं है। शाखासंहिताओं और ब्राह्मणों में मूल वेदसंहिताओं में निर्दिष्ट यागों की प्रमुख क्रियाओं का कुछ क्रमिक वर्णन एवं उनमें विनियुक्त मन्त्रों का संक्षिप्त व्याख्यान है। श्रौतसूत्रों में इन यागों की समस्त क्रियाओं का सूत्रशैली में क्रमिक पूर्ण वर्णन है। इस प्रकार श्रौतयागों के तीन स्तर हैं। पहले दो स्तरों का तीसरे स्तर में अन्तर्भाव हो गया है। अत: तीसरे स्तर का क्रमबद्ध एकीकृत रूप ही सविशेष विवेच्य और व्याख्येय अभीष्ट है। यहाँ तीनों ही स्तरों पर विहंगम दृष्टि प्रस्तुत की जा रही है।

श्रौत साहित्य

2. उपर्युक्त चार मूल वेदसंहिताओं के अतिरिक्त नौ शाखा-संहिताएँ—ऋग्वेद की अद्यावधि अप्रकाशित आश्वलायन और शांखायन संहिताएँ,[1] सामवेद की कौथुम और जैमिनीय, शुक्ल यजुर्वेद की काण्व, कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय, काठक और मैत्रायणी तथा अथर्ववेद की पैप्पलाद संहिताएँ मिलती हैं। कृष्ण यजुर्वेद की एक कठ-कपिष्ठल संहिता तथा एक मूल कृष्ण यजुर्वेद के नाम से तैत्तिरीयसंहिता का बृहत् संस्करण भी प्रकाशित हुए हैं।

3. ब्राह्मण ग्रन्थ अनेक मिले हैं। श्रौतयागों के सन्दर्भ में ऋग्वेद के ऐतरेय और शांखायन या कौषीतकि, सामवेद के ताण्ड्यमहाब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण और यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय ब्राह्मण ही महत्त्वपूर्ण हैं। शेष में गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेद का है, अन्य दैवत, वंश, षड्विंश, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण, मन्त्र, आर्षेय और सामविधान ब्राह्मण सामवेद के हैं।

4. श्रौतसूत्रों में ऋग्वेद के आश्वलायन और शांखायन, यजुर्वेद के कात्यायन, बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी या सत्याषाढ, वैखानस, भारद्वाज और मानव, सामवेद के आर्षेय कल्पसूत्र, लाटयायन, द्राह्यायण और जैमिनीय तथा अथर्ववेद का वैतान श्रौतसूत्र उपलब्ध हैं।

श्रौतयागों का परिचय

5. श्रौतयाग चौदह हैं—सात हविर्याग और सात सोमयाग। अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य, निरूढ़पशुबन्ध और सौत्रामणी हविर्याग हैं। इनमें चरु—पुरोडाश हवि का प्रयोग होता है।

6. अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम सोमयाग हैं। इनमें सोम रस का प्राधान्य होता है। राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध और सर्वमेध यज्ञों को भी सोमयाग माना गया है।

7. इस गोष्ठी में अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी और अश्वमेध यागों पर विशेष विचार किया जाना अभीष्ट है।

यज्ञ और याग

8. यज्ञ और याग दोनों एक-दूसरे के पर्याय हैं और ✓ यज् से क्रमश: 'न' और 'घञ्' प्रत्यय लग कर निष्पन्न हुए हैं। पाणिनि ने धातुपाठ में इस धातु के तीन अर्थ—देवपूजा, संगतिकरण और दान दिए हैं। इन तीनों अर्थों में संगतिकरण का प्रामुख्य है, क्योंकि देवपूजा और दान के मूल में भी यही भाव है। प्रलयकाल की समाप्ति पर तदेकम् के मन में सृष्टिरचना की जो इच्छा होती है, उस इच्छा को नासदीय सूक्त में मन का प्रथम—विस्तारशील, यत्—यज्ञमय और प्रयत्नोन्मुख कह कर संगतिकरण की ही अभिव्यक्ति की गई है—

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥"[2]

यहाँ एक की कामना को सत् और असत् का बन्धु (✓ बन्ध् से) अर्थात् योजक कह कर भी संगतिकरण के भाव को अभिव्यक्त किया गया है। यहाँ तदेकम् के साथ-साथ दो तत्त्व और माने गए हैं—अप्रकेत सलिल और आभुयत्—

"तम आसीत् तमसा गूल्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥"[3]

तदेकम् अपने मन की कामना का अप्रकेत सलिल में आधान कर उसमें गति, तेज और वाक् (= स्वर, शब्द) उत्पन्न करता है। यह अवस्था ही पुरुष सूक्त का 'पुरुष' है जिससे समस्त सृष्टि का विकास होता है। अतः यज्ञ या याग का मूल रूप संगतिकरण ही है। उपर्युक्त आदिम मूल सृष्टि में और उस से आगे भी अनेक शक्तियों का विकास और योग होता है। यही 'देवपूजा' है। विभिन्न सम्प्रदायों में उपास्य शक्तियों की पूजा इसी का विकसित रूप है। सृष्टिरचनाकाल में जो आदान और प्रदान क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं, उन से ही 'दान' की अनुभूति प्राप्त होती है। सृष्टिरचना दुःखदायिनी स्थिति (= तुच्छ्य) में पड़े हुए आभु यत् के कल्याण के लिए होती है। इस कारण यज्ञ के मूल में भी दूसरों के हित की भावना है। ऋग्वेद के पहले मन्त्र में तदेकम् को अथवा पुरुष सूक्त के पुरुष को अग्नि कहकर मूल यज्ञ अर्थात् सृष्टि का देव और ऋत्विज् आदि कहा है। आगे जो भी श्रौतयाग वैदिक साहित्य में वर्णित और विकसित हुए हैं, सब इसी यज्ञ के रूपान्तर और मानव की परिस्थितियों के अनुकूल विकसित क्रियाएँ हैं।

9. वेदों और यज्ञों का अविनाभाव सम्बन्ध है। ऋग्वेद के पहले मन्त्र और सूक्त से ही यज्ञ का वर्णन चालू हो जाता है, जो चारों वेदों में ओतप्रोत है। जैसा ऊपर कहा गया है, सृष्टि यज्ञरूप ही है। वेद इस सृष्टि के अंग हैं और पुरुष के वाक् तत्त्व के ही रूपान्तर हैं। अतः ये यज्ञरूप ही हैं।

10. मन्त्रों में यज्ञ से सम्बन्धित अनेक तत्त्वों का वर्णन पाया जाता है। वहाँ यज्ञ, अध्वर और क्रतु आदि शब्द अनेकशः प्रयुक्त हुए हैं। यज्ञों के अनेक ऋत्विजों के नाम भी वहाँ पाए जाते हैं, जैसे अधोदत्त मन्त्रों में—

"त्वमग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निद्दतायतः।
तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसी ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे॥[4]

आ वक्षि देवाँ इह विप्र यक्षि चोशन् होतर्नि षदा योनिषु त्रिषु।
प्रति वीहि प्रस्थितं सोम्यं मधु पिबाग्नीध्रात् तव भागस्य तृप्णु॥[5]

स सद्म परि णीयते होता मन्द्रो दिविष्टिषु। उत पोता निषीदति॥
उत ग्ना अग्निरध्वर उतो गृहपतिर्दमे। उत ब्रह्मा निषीदति॥"[6]

11. प्रमुख ऋत्विजों के कर्म भी यहाँ बताए गए हैं—

"ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥"[7]

यहाँ क्रमशः होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु के कर्मों को बताया गया है।

12. अथर्ववेद में यज्ञों से सम्बन्धित तीन अग्नियों—गार्हपत्य, आह्वनीय और दक्षिण का भी उल्लेख मिलता है—

"स परमां दिशमनुव्यचलत् तमाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन् ॥
आहवनीयस्य च वै स गार्हपत्यस्य च दक्षिणाग्नेश्च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥"[8]

13. इसी प्रकार जुहू, उपभृत्, ध्रुवा आदि पात्रों के और उपसद् आदि कई क्रियाओं के नाम भी मन्त्रों में आए हैं। उन सबका विवरण यहाँ अनपेक्षित है। केवल इतना लेख ही पर्याप्त है कि ऋग्वेद में यज्ञ को सिद्धिदायक कहा गया है—

"मन्द्रजिह्वा जुगुर्वणी होतारा दैव्या कवी।
यज्ञं नो यक्षतामिमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम् ॥"[9]

14. यज्ञों के प्रसंग में मन्त्रों से सम्बन्धित देवताओं के परिकल्प पर भी विचार अपेक्षित है, क्योंकि अग्नि आदि देवताओं को लक्ष्य कर के अग्नि में आहुतियाँ दी जाती हैं। देव और देवता दोनों एक-दूसरे के पर्याय हैं। देव से स्वार्थ में तल् प्रत्यय लग कर देवता बना है, अतः दोनों समानार्थक हैं। देव शब्द क्रीड़ा, विजिगीषा, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, व्यवहार, द्युति, स्तुति और गति—इन दस अर्थों वाली √ दिव् से बनता है। दो दिव्-धातुएँ और भी हैं, जिन के अर्थ मर्दन और परिकूजन हैं। जिन-जिन प्राणी, पदार्थ; स्थिति और दृश्य आदि में इन बारह, विशेष रूप से पहले दस में से एक वा अधिक अर्थ संगत हों, वे सब देव या देवता होते हैं। अतः मन्त्रों के देवता का अर्थ मन्त्र में प्रतिपादित या वर्णित विषय है/हैं। इन विषयों को अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, यज्ञ और संज्ञान आदि-आदि नामों से अभिहित किया गया है। ये अग्नि आदि शब्द केवल आग आदि के वाचक न होकर अपने-अपने धातुज एवं अक्षरज अर्थों के द्योतक अभीष्ट हैं जिन में इन के अग्नि (आग) आदि अर्थ भी समाहित होते हैं। यथा अग्नि के ईश्वर, विद्वान्, आग, गति

और राजा आदि अनेक अर्थ होते हैं। वैदिक भाषा और मन्त्रों के प्रतिपादनों का यथार्थ बोध न रहने पर अथवा किन्हीं भावनाओं से प्रेरित होने से इन अग्नि आदि शब्दों को उन-उन नामों के सजीव प्राणियों के समान विग्रहवती सप्राण शक्तिविशेष मान लिया गया और तदनुरूप मन्त्रों का अर्थ किया जाने लगा, जो वेदों के प्रतिपादनों आदि के विरुद्ध है। श्रौतयागों में अग्नि, इन्द्र, वरुण, विष्णु, पितरः आदि देवताबोधक शब्द अपने-अपने व्यापक अर्थों में अभीष्ट हैं और "**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमित्याहुः**"[10] के अनुसार परमेश्वर के भी वाचक हैं और अपने-अपने धातुज और अक्षरज अर्थों के भी द्योतक हैं। वैदिक देवताओं के इस स्वरूप एवं वैदिक भाषा की धातुज प्रकृति के आलोक में श्रौतयागों में भी महान् अर्थसम्पत्ति अभिप्रेत है।

15. ब्राह्मणग्रन्थों में अग्नियों को समस्त देव तथा अग्नि, वायु और आदित्य को देवों का हृदय कहा गया है। वीर सन्तान वाला वीर जन, नष्ट हुए पाप वाले, दिन, यज्ञ पर उपजीवित, आनन्दात्मा, सत्यव्रत के पालक, वायु के अनुगामी, ब्राह्मण, प्राण, गातुविद्, अग्नि, वायु, सूर्य, सर्प, मन, यश, वाक्, विद्वान्, श्री, स्तोम, आदित्य, चन्द्रमा, दिशाएँ, पर्जन्य, मन, चक्षु, श्रोत्र, वनस्पतियाँ, ओषधियाँ आदि-आदि देव या देवता माने गए हैं।[11]

16. इसी प्रकार वहाँ यज्ञ का क्षेत्र भी बहुत व्यापक माना गया है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण के मत में पुरुष तब तब अनुत्पन्न रहता है, जब तक वह यज्ञ नहीं करता। यज्ञ करने पर ही वह उत्पन्न माना जाता है—

"अजातो ह वै तावत् पुरुषो यावन्न यजते, स यज्ञेनैव जायते।"[12]

काठकसंहिता के अनुसार यज्ञ गौओं और अश्वों से बढ़ता है।[13] इस प्रकार के कथनों का लक्ष्य मानव को सतत यज्ञशील बने रहने की प्रेरणा देना है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में होता, अध्वर्यु और ब्रह्मा को यज्ञ की तीन इन्द्रियाँ कहा गया है।[14]

17. ब्राह्मणग्रन्थों में वायु, आत्मा, त्रयी विद्या, पाँच ऋत्विज्—दो अध्वर्यु, प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता, अग्नि, परलोक में यजमान की आत्मा, पुरुष, सविता, भुवन की नाभि, सोमराजा, देवरथ, दैव्य वाजी, विदद्वसु, विष्णु, वसु, विश्, समस्त रूप, श्रेष्ठतम कर्म, रेतः, वरुण, वाक्, वात, विराज्, संवत्सर और स्वर्गलोक आदि को यज्ञ कह कर[15] इस की व्यापकता और महिमा का वर्णन किया गया है।

18. इस गोष्ठी में विचार्यमाण याग सोमयाग हैं। सोमयागों में सोम का प्राधान्य माना गया है। सामान्यत: सोम को अब अज्ञात एक ओषधि का रस माना जाता है। यह शब्द ✓ सु निचोड़ना, निकालना से निष्पन्न है। ऋग्वेद के मन्त्र "**अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्। किं नूनमस्मान् कृणवदराति: किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य॥**[16] में यह अध्यात्मज्ञानजन्य ईश्वर के बोध और साक्षात्कार अथवा अनुभूति का वाचक है, क्योंकि इस मन्त्र में वर्णित उपलब्धियाँ—अमरता, ज्योति: की प्राप्ति और वैराभाव ओषधिविशेष के रस के पीने से प्राप्त नहीं हो सकती हैं।

19. ब्राह्मणग्रन्थों में सोम शब्द के पुष्कल अर्थ मिलते हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं। सोम द्युलोक और पृथिवीलोक का गर्भ है। अरुण पिंगाक्षी गाय से सोम को खरीदा जाता है, क्योंकि यह निश्चय से सोम का रूप है। सोम आदित्य है, क्योंकि यह अदिति से पृथिवी में उत्पन्न होता है। इन्द्र सोम की योनि (अर्थात् उत्पत्तिस्थान) है। सोम उत्तम हवि है। सोम ऊर्ज् वनस्पति, उत्तम पवि, ओषधियाँ, गिरियों में होने वाला, चन्द्रमा, समस्त देवता, वृत्र, पय:, पशु, भुवनों का पति, ब्राह्मणों का भक्ष्य, रस, राजा, यज्ञों में सम्पन्नतम, सत्य, श्री, ज्योति, स्वर, यशस्वितम, सर्वदेवत्य, इन्द्र का युज्य सखा, वीरुधों का पति, सामनों रूप प्रिय तनु वाला, सब देवता, अन्न, वाज, यश आदि-आदि है।[17]

20. तैत्तिरीय संहिता की मान्यता है कि सोम से यज्ञ करने वाला मानों क्रूर कर्म, करता है—'**क्रूरमिव खलु वा एष करोति य: सोमेन यजते।**'[18] कपिष्ठलसंहिता के मत में सोम से यज्ञ करने वाले के देवता और ब्रह्म यातयाम हो जाते हैं।[19] सोम का अभिषव उस की हिंसा करना है।[20] इन कथनों के मूल में यह भावना प्रतीत होती है कि किसी के मूल रूप को परिवर्तित करना हिंसा है। यज्ञों में विनियुक्त अर्थात् आहुत पदार्थों का दृश्यमान रूप बदल जाता है।

21. सोम के पाँच मुख हैं, जिनसे वह सब भूतों का भक्षण करता है। उस के ये मुख ब्राह्मण, राजा, श्येन, अग्नि और त्वै (= त्वयि = सोम स्वयं ?) हैं।[21] सोम का यज्ञ करना वीर्य का धारण करना है।[22]

22. इन यागों में पशुयाग और पशु की आहुति का भी निर्देश पाया जाता है। अत: ब्राह्मणग्रन्थों और मन्त्रों में पशु का परिकल्प भी अवलोकनीय है जो इस प्रकार है। अन्न ही पशु और उनका मांस है। घी पशुओं का रूप है। पशु पाँच हैं—पुरुष, अश्व, गाय, भेड़ और बकरी, क्योंकि इन को देखा गया—

"एतत् पञ्च पशून् अपश्यत् (अग्निः) पुरुषमश्वं गामविमजं, यदपश्यत् तस्मादेते पशवः।"[23]

देवी विश्, व्रीहि और यव, ओषधियाँ, घर, अग्नि, प्राण, ब्राह्मण की सभा, आदित्य, पूषा, प्रगाथ, शक्वरियां, तृतीय सवन, सोम राजा, स्वर्गलोक, इडा, जगती, द्विहिंकार, वामदेव्य, मरुत्, पृथिवी लोक, यज्ञ, यश, बालखिल्य, विराज् और चार उत्तर छन्द आदि पशु हैं।[24]

23. शतपथब्राह्मण में प्रजापति, यज्ञ और पशु—इन तीनों का तादात्म्य किया गया है—"कतमः प्रजापतिरिति। यज्ञ इति। कतमो यज्ञ इति। पशुरिति।[25] इस तादात्म्य के आलोक में प्रजापालक शक्तियाँ और पदार्थ आदि पशुपदवाच्य हैं।

24. यजुर्वेद में अग्नि, वायु और सूर्य को पशु कहा गया है—"अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त। वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त। सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त।"[26] अथर्ववेद में गाय आदि का धान आदि से तादात्म्य किया गया है—"धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत्। तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवति॥"[27] तथा अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः। कब्रू फलीकरणाः शरोऽभ्रम्। श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम्॥"[28]

25. महाभारत में भी अन्न और पशुओं का तादात्म्य माना गया है—

"श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोक – परायणाः॥"[29]

यहाँ 'पुरा' शब्द का प्रयोग इंगित करता है कि महाभारतकाल में वैदिक मूल धारा में परिवर्तन आ चुका था और उस काल में पशु आदि के लौकिक रूढ़ अर्थ ले कर यज्ञों में पशुहिंसा एवं अन्य दुष्कर्म चालू हो चुके थे। महाभारतकार को यह रुचिकर नहीं था। वे मानते थे कि यज्ञों में सुरा और मछलियों आदि के प्रयोग की अवतारणा धूर्तों द्वारा की गई है। वेदों में ऐसा प्रतिपादन नहीं है—

"सुरा मत्स्या मधुमांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥"[30]

26. अतः सार रूप में कहा जा सकता है कि जो कुछ भी बाह्य और आन्तरिक चक्षुओं और बुद्धि आदि द्वारा देखा जाता है, वह सब कुछ 'पशु' है। इसलिए

यह शब्द ग्राम्य और आरण्य पशु माने जाने वाले प्राणियों में ही सीमित नहीं है। फलत: 'पशुयाग' के भी व्यापक अर्थ और भाव आदि अभिप्रेत हैं।

27. इस गोष्ठी में विचार्यमाण श्रौतयागों से सम्बन्धित कतिपय आधारभूत विषयों का विवेचन ऊपर किया गया है। इससे श्रौत यागों के मूल में जा कर उनके वैदिक ऋषियों को अभिप्रेत भावों को समझने में सहायता प्राप्त होगी। केवल दो विषयों पर विशेष विचार प्रस्तुत नहीं किया गया है—विभिन्न देवताओं का और यागों में की जाने वाली उपसद् आदि क्रियाओं का विवेचन। देवतानामों के अर्थ ब्राह्मणोद्धारकोष में देखे जा सकते हैं। उन का संकलन इस सीमित लेख में न सम्भव है, न अपेक्षित। विनियुक्त क्रियाओं पर प्रत्येक याग का विवेचन प्रस्तुत करने वाले अधिकारी विद्वान् प्रकाश डालेंगे। अत: अब विचार्यमाण यागों का संक्षेप में परिचय दिया जाता है। यहाँ इन यज्ञों के श्रौतसूत्रीय स्वरूपों का परिचय म.म.पं. चिन्नस्वामी शास्त्री के यज्ञतत्त्वप्रकाश तथा डॉ. ए. बी. कीथ के रिलीजन एण्ड फिलोसोफी ऑफ दी वेद एण्ड उपनिषद्ज के आधार पर दिया गया है।

अग्निष्टोम

28. यह जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी कि इस याग से सम्बन्धित मन्त्र किस वेद में किस स्थल पर हैं। अत: इस याग का वैदिक भाव और मन्त्रों का सार देना सम्भव नहीं रहा है। ब्राह्मणग्रन्थों के मत में अग्नि ही अग्निष्टोम है। इस का प्रतिष्ठान अग्नि है। यह वैश्वानर अग्नि का **उपावसर्जन** है। अग्नि पहला और सूर्य दूसरा अग्निष्टोम हैं। प्रजापति ने अग्निष्टोम से वैश्वदेव **यज्ञक्रतु** का निर्माण कर प्रजा की सृष्टि की।[31] नासदीय सूक्त के अनुसार तदेकम् की कामना के अप्रकेत सलिल में आधान से सृष्टि होती है। अत: कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओं द्वारा प्रदत्त अग्निष्टोम का यह व्याख्यान नासदीय सूक्त की सृष्टिप्रक्रिया का निर्देशक है। देवों अर्थात् विद्वान् आदि ने अग्निष्टोम से इस लोक को जीता। अग्निष्टोम संवत्सर और यज्ञों का मुख है। अग्निष्टोम वायु, लोक में प्रतिष्ठा का साधन, आत्मा, पशुबन्ध, सब कामनाओं का साधक पूर्ण यज्ञ, ज्येष्ठ और प्रजापति यज्ञ, ज्योतिष्मान् पुण्यलोक की प्राप्ति का साधन, पुरुषसम्मित, प्रतिष्ठा, ब्रह्मवर्चस्, ब्रह्म, पूर्ण आयु का प्रापक, सूर्य, विराज् और प्रजापति है।[31]

29. **ताण्ड्यमहाब्राह्मण** के मत में अग्निष्टोम सृष्टियज्ञ है, क्योंकि इसकी विभिन्न क्रियाओं से ही संवत्सर आदि काल, मानव आदि प्राणी और सब ऋतुएँ आदि उत्पन्न होते हैं। यज्ञ और मनुष्य आदि सब इसी के प्रसव हैं।[32]

30. **यज्ञतत्त्वप्रकाश** के विवरण के अनुसार श्रौत पद्धति में एक दिन चलने वाला यह सोमयागों की प्रकृति (अर्थात्—मूल आधार) है और सब यागों से पहले किया जाता है। इसमें बहुत से इष्टिपशुओं का अनुष्ठान होने पर भी उन इष्टियों के अंग सोम की प्रधानता के कारण इसे सोमयाग माना गया है। अग्निष्टोम साम से समाप्त होने के कारण इसको अग्निष्टोम कहा जाता है। यह ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अलग-अलग होता है। ऋग्वेदीय में विविध याज्या, पुरोनुवाक्या, शस्त्र और पुरोरुक् आदि होते हैं, सामवेदीय में गान से विशिष्ट किए जाने वाले यागसम्बन्धी देवताओं के स्तोत्र होते हैं। अग्निष्टोम याग में 12 स्तोत्र होते हैं, जिनमें अन्तिम अग्निष्टोम स्तोत्र होता है। इस के बाद कोई और स्तोत्र नहीं पढ़ा जाता है।

31. इस सोमयाग को वसन्त ऋतु में त्रैवर्णिक आहिताग्नि अधिकारी व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ सदा करता रहे , अन्यथा प्रत्यवाय (= जीवन में विघ्न-बाधाएँ) आते हैं। यहाँ एक लता रूप द्रव्यविशेष को खरीद कर उसका रस निकाल कर उस की देवताओं को आहुति दे कर शेष को यजमान और ऋत्विज् पी लें। अब यह सोमलता नहीं मिलती है। इसके स्थान पर अब पूतीका नामक लता का प्रयोग किया जाता है। सोम मानव को अपूर्व आयु, बल, पुष्टि, मेधा और सर्वातिशायी आत्मशक्ति का प्रदाता है। इस याग में ऋत्विग्वरण, मथित अग्नि का स्थापन और 24 होम करने आदि का विधान किया गया है। इसमें अग्नि और विष्णु देवता होते हैं। यजमान और उसकी पत्नी के स्नान, वस्त्रपरिधान आदि-आदि अनेक कर्मों के करने का भी विधान किया गया है।[33]

32. डॉ. ए.बी. कीथ[34] ने इस याग का विवरण सुस्पष्ट और कुछ लम्बा दिया है। इस याग में विनियुक्त मन्त्रों का निर्देश किसी ने भी नहीं किया है।

33. अग्निष्टोम के इस कर्मकाण्डीय विवरण से यह सुव्यक्त है कि इसमें ऐसी कोई क्रियाएँ लक्षित नहीं होती हैं, जिन में ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित अग्निष्टोम यज्ञ के स्वरूप या लक्ष्य की अभिव्यक्ति होती हो। यहाँ अन्य ही भाव और लक्ष्य उभर रहे हैं।

वाजपेय याग

34. इस याग से सम्बन्धित वेदमन्त्र मुख्य रूप से माध्यान्दिन शुक्ल यजुर्वेदसंहिता के अध्याय 9 में हैं। इस का प्रारम्भ दिव्य, गन्धर्व, केतपू और

वाचस्पति सवितृ देव से यज्ञ और यज्ञपति को ऐश्वर्य आदि के दान के लिए प्रवृत्त करने, ज्ञान आदि को पवित्र करने और मानवों के वाज के आस्वादन की प्रार्थना से होता है। इस अध्याय में वाज-शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है। यह पद गत्यर्थक ✓ वज् से निष्पन्न है। निरुक्त[35] में 'वाजिन्' को 'वेजनवान' कह कर ✓ विज् (वेग से चलना) से निष्पन्न माना गया है। दोनों ही स्थितियों में यह गति, प्राप्ति और ज्ञान अर्थों का वाहक सिद्ध होता है। अत: सविता का यजमान के 'वाज' के आस्वादन का अर्थ मानव को इन गत्यादि के प्रदान और उस के द्वारा इनके उपयोग का मूल्यांकन आदि करना है। अत: इसमें ऊर्ज् की प्राप्ति, पाप से मुक्ति, मही (पृथिवी) से वाज की प्राप्ति, विश्ववेदस्, जव, बल, उत्तम नाक को चढ़ने, वनस्पतियों द्वारा वाज के विमोचन, अमृत के साथ सोम के द्वारा प्राप्ति, आयु, प्राण और शरीराङ्गों की यज्ञात्मकता आदि के लिए प्रार्थना की गई है। इसके अन्तिम मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि सब जन शत्रुहीन, महान्, ज्येष्ठभाव और परम ऐश्वर्य से युक्त और शासित हों—

> **"इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इममुष्य–पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।"**[36]

यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द 'विकासशील मानवमात्र का वाचक है, रूढिगत वर्ण या जाति मात्र का बोधक नहीं है।

35. जैमिनीय ब्राह्मण के मत में वाजपेय अन्नपेय है, अर्थात् इससे अन्न की प्राप्ति और उसका उपभोग किए जाते हैं, इस लिए अन्नाद्य का इच्छुक वाजपेय यज्ञ करें—

> **"वाजपेयेनान्नाद्यकामो यजेत। अन्नपेयो ह वा एष यद् वाजपेय:।"**[37]

वाजपेययाजी अन्न की उज्जय अर्थात् प्राप्ति करता है। इस याग के करने से वाज अर्थात् स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। यह सूर्य ही वाजपेय है। वाजपेय से यज्ञ करने वाला सम्राट् हो जाता है। यह वाजपेय ब्राह्मण और राजन्य का है। सोम ही वाजपेय है। अत: वाजपेययाजी सोम पी कर वाज को प्राप्त करता है। वाजपेययाजी स्वाराज्य को प्राप्त करता है। दही, जल और घी से त्र्यह अग्निहोत्र वाजपेय, पुरुषमेध और अश्वमेध का रूप है। वाजपेययाजी देवों का उपावर्तन करता

है और देवताओं में से एक देवता हो जाता है। वाजपेय वियोनि प्राजापत्य है। ब्रह्म ही वाचस्पति और वाजपेय है।[38]

36. ब्राह्मणग्रन्थों में वाज का तादात्म्य अमृत अन्न, स्वर्गलोक, वीर्य, सोम अन्न, ओषधियों, पशुओं, प्रजा और मास से किया गया है। वाक् वाज से प्रसूत है। सोम पीने से वाज की प्राप्ति होती है।[39]

37. डॉ. ए.बी. कीथ के मत में राजसूय, वाजपेय और महाव्रत रहस्यात्मक क्रियाएँ नहीं हैं। ये सरलता से बोधगम्य हैं।[40] अनेकों के मत में वाजपेय शरद् ऋतु का पर्व है। इसे स्वतन्त्र भी किया जा सकता है अथवा सर्वमेध के छठे दिन भी [उसके अंग के रूप में] किया जा सकता है। इसमें एक अभिषव (Pressing) का दिवस, कम से कम 13 दिन अभिषेक के और 3 उपसद् दिन अर्थात् न्यूनतम 17 दिन तो लगते ही हैं। इसे एक वर्ष तक भी फैलाया जा सकता है। षोडशी क्रिया में एक सत्रहवाँ स्तोत्र और शस्त्र जोड़ दिया जाता है। त्रिवृत् और पञ्चदश स्तोमों के स्थान पर 17 बहिष्पवमान और माध्यन्दिन पवमान स्तोत्र कर दिए जाते हैं। चषकों (Cups) की संख्या में अंशु, अदाभ्य और 5 वाजपेय या ऐन्द्र चषक जोड़कर वृद्धि कर दी जाती है। मरुतों के लिए एक रंगबिरंगी वन्ध्या गाय और प्रजापति के लिए 17 विषाणहीन, परन्तु प्रसव में समर्थ बकरियाँ भी लाई जाती हैं। यजमान, उसकी पत्नी और ऋत्विज् सुवर्ण की मालाएँ पहनते हैं, जो दक्षिणा के लिए प्रयुक्त की जाती हैं। इस क्रतु की विशेष क्रियाएँ मध्याह्न के अभिषव से प्रारम्भ होती हैं। घुड़दौड़ की जाती है। इसमें यजमान विजयी होता है। नेष्ट्र द्वारा प्रदत्त सोमचषक के विकल्प में सुराचषकों का आधान किया जाता है, जिन्हें क्षत्रिय या वैश्य प्रतिनिधियों को दे दिया जाता है। अब यजमान यज्ञयूप पर चढ़ता है। पुरोहित आदि नमक के साथ अश्वत्थ के पत्तों से इसका स्पर्श करते हैं। अब उतर कर वह सिंहासन पर बैठता है और जल दुग्ध आदि 17 वाँ अधिक के मिश्रण से उस पर छींटे डाले जाते हैं। अब 17 उज्जितियों के साथ यह क्रतु समाप्त हो जाता है।[41]

38. **यज्ञतत्त्वप्रकाश**[42] के विवरण में कुछ अन्तर प्रतीत होता है। वहाँ वाजपेय को षोडशी संस्था बताया गया है। इसमें प्रात: और माध्यन्दिन, सवन अग्निष्टोम के समान ही होते हैं। तृतीय सवन भी षोडशिग्रहस्तोत्र के अन्त तक षोडशी (शि?) के समान ही किया जाता है। उसके बाद एक वाजपेय नामक स्तोत्र पढ़ा जाता

है। एक चमसगण होतृचमसों में मुख्य होता है। स्तोत्र 17 स्तोमों वाला होता है। शस्त्र होता का ही होता है। इसे संस्थाओं में से एक संस्था माना गया है। याजुष साहित्य और क्रियाओं में इसका विधान नहीं है। तण्ड्यमहाब्राह्मण और छन्दोगसूत्र में इसका विधान होने से कुछ याज्ञिक इसे करते हैं। तैत्तिरीय आदि का वाजपेय इससे भिन्न है। उसमें 17 दीक्षाएँ, तीन उपसद् और एक सुत्या होती हैं। प्रजापति के (लिए ?) 17 सवनीय पशु होते हैं। यूप 17 आरत्नियों वाला होता है। इस पर 17 कपड़े लपेटे जाते हैं। प्रजापति देवता के 17 सोमग्रह और 17 सुराग्रह होते हैं। अब सुराग्रहों के स्थान पर पयोग्रह (दूध के ग्रह) रखते हैं। सुत्या के दिन सब ऋत्विजों को सोने की माला पहननी होती है। ऋत्विजों को दक्षिणा में 17-17 रथ, अश्व, हाथी, गाड़ी, दासी, दास, निष्क, गाय, बकरी, भेड़ और दुन्दुभि दिए जाएं। सवनीय पशुकर्म में प्रजापति के पशुओं के साथ 5 क्रतुपशुओं को भी उपाकृत अर्थात् लाकर या देकर पर्यग्निकरण तक कर्म के पहले ही क्रतुपशुओं को लाकर वपा तक कर्म कर के रुक कर ब्रह्मसाम के समय शेष बचे हुए पशुओं के साथ रहे। फिर सात शरावों (= सराइयों) के परिमाण के नैवार चरु को निरूपित कर उनसे (प्रचरेत) कार्य करे। शेष सब कुछ मूल क्रिया (= प्रकृति) के समान है। यह आप्त वाजपेय है। इसके अतिरिक्त भी कोई कुरुवाजपेय भी है। उसकी क्रियाओं में अनेक विलक्षणताएँ हैं।

39. इस विवरण की याजुष मन्त्रों के उपर्युक्त सार और ब्राह्मणग्रन्थों के विवेचन के साथ तुलना से ऐसी प्रतीति होती है कि वाजपेय के इस कर्मकाण्डीय स्वरूप का विकास कालान्तर में हुआ। विभिन्न क्रियाओं में विनियुक्त मन्त्रों और उनके कर्मकाण्डीय विवेचन से ही इसकी आधुनिक सन्दर्भ में वास्तविक उपादेयता का निर्णय सम्भव है, जो इस लेख की परिधि से बाहर है।

राजसूय याग

40. इस याग से सम्बन्धित मन्त्र यजुर्वेद के दसवें अध्याय में मुख्य रूप से आए हैं। वहाँ 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग भी बहुत-से मन्त्रों में हुआ है। इस याग का प्रारम्भ मित्रावरुण का अभिषेक करने, इन्द्र को शत्रुहीन करने एवं मधुर फल वाली ऊर्जा और चैतन्य से युक्त तथा राज्य प्रदान करने वाली क्रियाओं को करने के आह्वान से होता है। इसमें मानव के द्वारा अपने को और (अमुष्मै =) अन्य को राष्ट्रपद से अभिहित पदार्थ आदि देने के लिए विविध प्रकार की राष्ट्रप्रद

शक्तियों से कामना की गई है। 'अमुष्मै' शब्द अदस् का चतुर्थी एकवचन का रूप है। निरुक्त[43] में यास्क ने 'असौ' (अदस् का पुंल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन रूप) को ✓ अस् (फेंकना) से निष्पन्न माना है। अत: इसे निर्दोष और विविध गुणों से युक्त प्रार्थी का भी वाचक माना जा सकता है। यही भाव यहाँ अभिप्रेत है। राजा को क्षत्र का उल्व, जरायु, योनि और नाभि कहा गया है। उसकी सब ओर से रक्षा की कामना की गई है। अभिषिक्त व्यक्ति—राजा के दिशाओं में गतिशील होने पर विभिन्न छन्द, साम, स्तोम, ऋतुएँ और द्रविण उसकी रक्षा करते हैं। इस राजा का अभिषेक सोम के द्युम्न, अग्नि के भ्राज, सूर्य के वर्चस् और इन्द्र के इन्द्रिय से किया जाता है। इससे वह क्षत्रों का क्षत्रपति बन जाता है। देवजन शत्रुहीन अमत्त राजा को प्रेरणा देते रहें, जिससे वह महान् क्षत्र, ज्यैष्ठ्य और महान् जानराज्य आदि को प्राप्त कर प्रजा का पालन कर सके। इस प्रकार यह विष्णु, प्रजापति और इन्द्र आदि के गुणों वाला हो जाए। इस विधि से यह राजा वरुण (रूप) होकर साम्राज्य का पालक हो जाता है।

41. **ब्राह्मणोद्धारकोष** में इस राजसूय याग से सम्बन्धित अधिक जानकारी संकलित नहीं की गई है। सम्भवत: ब्राह्मणग्रन्थों में इसका अश्वमेध आदि के समान महत्त्व और विविध भाव बहुत अधिक नहीं हैं। वहाँ इस यज्ञ को राजाओं के लिए ही निर्धारित माना गया है—"**राज्ञ एव राजसूयम्।**" तैत्तिरीयब्राह्मण और काठकसंहिता के मत में वह वरुणसव है। इस यज्ञ के सम्पादन से पूर्ण आयु प्राप्त होती है।[44] यह कथन इसको क्षत्र नृप की परिधि से बाहर कर मानवमात्र के लिए उपयोगी और इस कारण सबके द्वारा करने योग्य घोषित कर देता है।

42. **यज्ञतत्त्वप्रकाश** के विवरण[45] के अनुसार यह क्षत्रिय राजाओं के लिए निर्दिष्ट है। यह 129 इष्टियों, दो पशुयागों, सात दर्विहोमों और छह सोमयागों का समूह है। इस कारण इसमें इष्टियाँ, पशुयाग और सोमयाग समान प्रधानता वाले होते हैं। यह एक वर्ष से कुछ अधिक समय में पूरा होता है। फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा को इसे आरम्भ किया जाता है। एक वर्ष तक चातुर्मास्य कर्म किए जाते हैं। इसके बाद सोमयाग आदि क्रियाएँ होती हैं। सोमभक्षण वैकल्पिक है। यजमान राजा को तो न्यग्रोधावरोध रस पिलाया जाए और ब्राह्मण ऋत्विज् सोम पीएं। दीक्षा, उपसद् और सुत्या कर्मों की दक्षिणा हज़ार गौएँ हैं। पाँच देविका हवियों की दक्षिणा एक गाय और एक वृषभ (= बैल) हैं। बारह इष्टियाँ ब्रह्मा आदि के घरों पर की जाती हैं।

43. प्रधान याग कर के स्विष्टकृत याग से पूर्व ब्रह्मा राजा को प्रजाओं के समक्ष निवेदित करता है कि यह आपका राजा है। विविध क्रियाएँ सम्पन्न करके राजा का अभिषेक किया जाता है। इस कर्म में आहवनीय वेदि पर ऋत्विज् और ग्रामीण वैश्य भी बैठते हैं। राजा अध्वर्यु को 'ब्राह्मण' कहता है और अध्वर्यु ब्राह्मण-धर्मों का परिपालन करते हुए उन का अनुस्थापन करने के कारण राजा को ब्राह्मण कहता है। इस क्रिया में शुनःशेप आख्यान और तत्सम्बन्धी ऋग्वेदीय मन्त्रों को होता सुनाता है।

44. इस राजसूय याग के बीच-बीच में और अन्त में भी अनेक क्रियाओं का विधान किया गया है, जो इस यज्ञ में सम्पन्न की जाती थीं।[45] इस याग के स्वरूप के परिचय के निमित्त इतना ही वर्णन यहाँ अभीष्ट है।

45. इस याग में शुनःशेप के आख्यान और तत्सम्बन्धी शिक्षाओं एवं मन्त्रों के श्रवण का विधान कर के यह इंगित किया गया है कि राजा और प्रजा दोनों को हर स्थिति में जागरूक, उत्साह से ओतप्रोत और कर्मठ रहना चाहिए एवं मन्त्रों में वर्णित उदात्त भावों से संचालित होते रहना चाहिए।

46. इन वर्णनों से यह सुव्यक्त हो जाता है कि मन्त्रों और ब्राह्मणों में कर्मकाण्डीय पुट अधिक नहीं है। वहाँ शासक के गुणों और कर्तव्यों आदि पर विशेष बल है। सूत्रकालिक राजसूय में कर्मकाण्डीय क्रियाएँ पर्याप्त आ गई हैं, जिनके कारण वैदिक राजकीय आदर्श गौण हो गए भासित होते हैं।

47. आजकल देश में शासनव्यवस्था परिवर्तित हो गई है। शासन के कर्णधार केन्द्र में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री और उसका मन्त्रिमण्डल हैं और राज्यों में राज्यपाल, मुख्यमन्त्री और उसका मन्त्रिमण्डल। इनके कार्यकाल की अवधि अल्पकालीन—पाँच वर्ष की है। उससे पूर्व भी उनका सत्ताधिकार जा सकता है। इन पदों पर जो व्यक्ति सत्ता में आते हैं, वे सब भी न वेदानुयायी होते हैं और न ही क्षत्रिय। अतः राज्याभिषेक पर आधारित क्षत्रिय राजाओं द्वारा किया जाने वाला राजसूय आदि कोई भी यज्ञ जीवनपर्यन्त निर्बाध सत्ता की प्राप्ति के लिए आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अव्यावहारिक एवं अनुपादेय है। आज का राजसूय तो शपथग्रहणसमारोह में सीमित हो गया है। 'राष्ट्र' का अर्थ 'दीप्ति', 'ज्ञान' आदि कर इनकी प्राप्ति के निमित्त इस याग को सब कोई कर सकते हैं, परन्तु धन, सम्भार और समय जुटाने की समस्या उसके सामने भी आएगी। अतः जो

इन साधनों को जुटा सकें, वे इसे दीप्ति आदि की प्राप्ति के निमित्त इसे कर सकते हैं। इस याग की अवान्तर क्रियाओं पर अधिकारी विद्वान् प्रकाश डालेंगे।

सौत्रामणी याग

48. इस याग के मन्त्र माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता के 19, 20 और 21 वें अध्यायों में संकलित हैं। यह सोमयागों की संस्था में है। इस याग का यजुर्वेदीय सारभूत रूप प्रस्तुत है।

49. स्वादिष्ट मधुमत् तीव्र अमृत सोम से इन गुणों से युक्त पेय पदार्थ बनाया जाता है। यह बलवर्धक और रक्षा में समर्थ सुरा[46] होता है। इस सोम से ब्रह्म, क्षत्र, तेज और बल प्राप्त होते हैं। यह मानव को हिंसा, ऋण और पाप से बचाता है।[47] इससे विविध प्रकार के ऐश्वर्य, ज्ञान, शक्ति, पवित्रता, दीर्घायुष्य और विपत्तिनाश प्राप्त होते हैं। सृष्टिरचनाविषयक मन्त्र और पापमोचन की प्रार्थनाएँ भी यहाँ हैं। इसका लक्ष्य राष्ट्ररक्षा भी है।[48]

50. इस याग से द्युलोक आदि से स्वस्ति एवं गायत्री आदि छन्दों से आत्मा को तेज, बल और आयु आदि प्राप्त होते हैं।

51. इस प्रकरण में कुछ मन्त्र ऐसे भी आए हैं, जिनसे छाग, मेष और ऋषभ आदि की आहुति दिए जाने का विधान भासित होता है। यह इन शब्दों के लौकिक रूढ़ अर्थों को ग्रहण करने से ही होता है। जैसा पशु शब्द के ऊपर 21 से 25 अनुच्छेदों में दिए गए ब्राह्मणग्रन्थों के और "सौत्रामणी याग" लेख[49] के विवेचन से ज्ञात होता है, ये छाग आदि शब्द अपने यौगिक या धातुज अर्थों में अभिप्रेत हैं। अतः इस याग से सबकी रक्षा ही अभिप्रेत है, जैसा ब्राह्मणों के अनुपद दिए गए विवेचन से स्पष्ट होता है।

52. शतपथब्राह्मण के मत में पाप से अच्छी प्रकार रक्षा करने के कारण इस याग को सौत्रामणी कहते हैं। अश्विनौ और सरस्वती ने नमुचि के इन्द्रिय और प्राण को लेकर भी पुनः उसे प्रदान कर उसे पाप से बचाया। अतः यह कर्म सौत्रामणी याग हो गया—

> "तावश्विनौ च सरस्वती च इन्द्रियं वीर्यं नमुचेराहृत्य तदस्मिन् पुनरदधुस्तं पाप्मनोऽत्रायन्त सुत्रातं बतैनं पाप्मनोऽत्रास्महीति तद्वाव सौत्रामण्यभवत्, तत् सौत्रामण्यै सौत्रामणीत्वम्॥"[50]

53. असत् से रक्षा को भी सौत्रामणी कहा गया है। यजमान द्वारा प्राप्त समृद्धि रूप सोम ही यह रक्षा है। इस याग से पशुसमृद्धि भी प्राप्त होती है। वाणी और यज्ञ से चिकित्सित होने पर यजमान क्रमशः सारस्वत और ऐन्द्र हो जाता है।

54. इस याग का एक अन्य रूप भी है। इन्द्र ने विष्णु की सहायता से वृत्र से ऋक्, यजुः और साम को छीना। इन से यज्ञ करने पर उसने व्रीहि (= ऋक्), यव (= यजुष्) और त्रयी विद्या (= सामन्) को प्राप्त किया।

55. **शतपथब्राह्मण** ने इस याग को सुरावान् बर्हिषद् यज्ञ कहा है—**"सुरावान् वा एष बर्हिषद्यज्ञो यत्सौत्रामणी॥"**[51] इष्टि और पशुबन्ध दोनों सौत्रामणी हैं। यही ब्राह्मणयज्ञ है। भ्रातृव्यवान् को सौत्रामणी याग करना चाहिए।[51]

56. सूत्रकाल तक आते-आते इस याग का अन्य श्रौतयागों के समान एक क्रमबद्ध रूढ़ और विकृत रूप हो गया। **यज्ञतत्त्वप्रकाश** के अनुसार इस याग का स्वरूप संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। इसके अनुसार यह पशुयाग है और दो प्रकार का है—चरक और कोकिल। दोनों में केवल इतना ही भेद है कि चरक सौत्रामणी में तीन पशु होते हैं—1. अश्विदेवता का धूम्रवर्ण अज, 2. सरस्वतीदेवताक मेष और 3. चन्द्रदेवताक मेष। कोकिल सौत्रामणी में पाँच पशु होते हैं—1. ऐन्द्र, 2. आश्विन, 3. सारस्वत, 4. ऐन्द्र और 5. ऐन्द्रवायोधस। इन पशुओं का अनुष्ठान निरूढ़पशुबन्ध के समान एक साथ ही किया जाता है। वपायाग के पश्चात् सुराग्रह का ग्रहण होता है। कलियुग में उसका निषेध है। अतः इसके स्थान पर पयोग्रहों का प्रयोग किया जाता है। ये ग्रह तीन होते हैं। यहाँ पशुयाग वाले ही देवता होते हैं। उन (ग्रहों) से आहुतियाँ देकर पितरों का उपस्थापन कर पशुपुरोडाश याग किया जाता है। पुरोडाश तीन होते हैं, जिनके देवता इन्द्र, सविता और वरुण होते हैं। इसके बाद अंगयागों का अनुष्ठान कर, सौत्रामणी याग को समाप्त कर एक वारुण कपाल से अवभृथेष्टि कर स्नान कर के तथा अग्नियों को समारोपित कर घर आ जाता है।[52]

57. इस काल में सुरा का तादात्म्य लौकिक सुरा से कर उसके पान को महत्त्व दिया गया। इसके विरोध और दुष्प्रभावों आदि के कारण अब इसके स्थान पर दूध का प्रयोग किया जाने लगा है। यह इंगित करता है कि वैदिक मन्त्रों के भावों और विधियों में समय-समय पर तत्कालीन मान्यताओं के अनुरूप परिवर्तन

किए गए। प्रत्येक मानव में अनेक दुर्बलताएँ होती हैं। प्रतिष्ठित व्यक्तियों की दुर्बलताएँ गुणों के रूप में आदृत होकर तत्कालीन समाज का अंग बन जाती हैं। श्रौतयागों के साथ भी यही हुआ। अत: उनके उपलब्ध रूप में वे पूर्णत: व्यवहार्य नहीं हैं। देश, समाज और मानव के हित में मान्त्रिक भावों के अनुरूप शोधन कर सौत्रामणी याग का उपयोग किया जा सकता है।

अश्वमेध यज्ञ

58. अश्वमेध यज्ञ बहुत प्रसिद्ध है। सामान्यत: इसके मध्यकालीन रूप का ही अत्यल्प ज्ञान सामान्य जन को होता है। उस काल में इसने एक बहुत स्थूल हिंसक रूप प्राप्त कर लिया। उस काल में इसे चक्रवर्ती राजाओं के अपने चक्रवर्त्तित्व की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया।

59. अश्वमेध का मान्त्रिक स्वरूप मुख्य रूप से यजुर्वेद में मिलता है। इसका प्रारम्भ अग्निचयन से होता है। अग्निचयन की पाँच चितियाँ मानी गई हैं—1. प्रजापति:, 2. देवा: 3. इन्द्राग्नी और विश्वकर्मा 4. ऋषय: और 5. परमेष्ठी। मानव को अपने आप को क्रमश: इन शब्दों से अभिव्यक्त गुणों से गुणी बनाकर लोक-कल्याण करना है, जैसा यजुर्वेद के अग्निचयन प्रकरण के सबसे पहले मन्त्र में विधान किया गया है—

"युञ्जान: प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धिय:।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥"[53]

अपना और दूसरों का कल्याण करने का अभिलाषी व्यक्ति अपने प्रथनशील मन, बुद्धि और कर्मों को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए युक्त करता हुआ परमेश्वर और ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त कर समस्त भूमण्डल में फैला दे। अत: मानव का मन भी अश्व है।

60. अश्वमेधीय मन्त्रों का प्रमुख भाग यजुर्वेद के 22 से 25वें अध्यायों में माना गया है। अध्याय 22 का प्रारम्भ शुक्र और अमृत (अग्नि) से आयु की रक्षा की प्रार्थना से होता है। यहाँ विभिन्न कर्म करने वाले मानव की बुद्धियों और कर्मों को सन्मार्ग की प्रेरणा देने, सुमति को बढ़ाने और विद्वानों आदि के आने की कामना की गई है। राष्ट्रप्रार्थना में राष्ट्रीय समाज, ब्राह्मण, क्षत्रिय, यजमान (= वैश्य ?)[54], महिलाओं, गाय आदि पशुओं एवं कृषि आदि की उन्नति तथा

फलवती ओषधियों की कामना की गई है। यह कामना भी की गई है कि मानव के सब अंग, शक्तियाँ और कर्म आदि यज्ञमय हों।

61. मानव सृष्टिकर्ता, सब कुछ के प्रदाता प्रजापति परमेश्वर की उपासना आदि करता है, आत्मसात् करता है, सृष्टि के सात्त्विक स्वरूप का अनुभव करता है और उस प्रजापति परमेश्वर में गति करना चाहता है। उसे सृष्टि के तत्त्व का बोध हो जाता है। वह मानवेतर पशु-पक्षियों आदि का यथोचित उपयोग करता है। यह मानव अपने लक्ष्य को प्राप्त कर अपने और विश्व के कल्याण की कामना करता है।

62. ब्राह्मणग्रन्थों में अश्वमेध का यही स्वरूप व्यक्त हुआ है। वहाँ अश्वमेध को अन्न, सब देवों से अन्वायत्त, आदित्य, उत्सन्न यज्ञ, यज्ञों में ऋषभ, चन्द्रमा, अतिव्याधी यज्ञ, सब पापों और ब्रह्महत्या से पार उतारने वाला, तेज और ब्रह्मवर्चस् से व्यृद्ध करने वाला, प्रजापति, यजमान, यज्ञों का राजा, देवों का ओज और बल, द्युलोक, राष्ट्र, श्री और वीर्य आदि माना गया है। दही, जल और घी से त्र्यह अग्निहोत्र अश्वमेध का रूप है। अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास करते रहने वाले का हर मास अश्वमेध होता रहता है।[55]

63. ब्राह्मणों के मत में अग्नि ही श्वेत अश्व है। आंसु ही अश्व है। वहाँ अश्व को सूर्य, पशुओं में ओजिष्ठ, बलिष्ठ, बृहद् वयः, स्तोम, चन्द्रमा, क्षत्र, परम दक्षिणा, प्राजापत्य, वज्री प्राजापत्य, वज्र, वरुणदैवत्य, विराट् छन्द, वीर्य और वृषा आदि कहा गया है। अश्व को स्वर्गलोक का ज्ञाता और यजमान आदि भी कहा गया है।[56]

64. इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि अश्व और अश्वमेध शब्द मन्त्रों में अनेक व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। यज्ञों के हिंसारहित होने के कारण वेदों को आगे वर्णित पश्चात्कालीन अश्वमेध का स्वरूप अभीष्ट नहीं कहा जा सकता। उसमें वैदिक उदात्त भावों आदि का अभाव है। **यज्ञतत्त्वप्रकाश** के वर्णन के अनुसार अश्वमेध का यह पश्चात्कालीन स्वरूप इस प्रकार है।

65. वैसे तो इस यज्ञ के सम्पादन का अधिकारी एकछत्राधिपति सार्वभौम शासक ही है, अन्य सामान्यजन नहीं है, परन्तु कात्यायन ने सभी राजाओं को इसके करने का अधिकारी माना है। अतः इसे **राजयज्ञ** भी कहा गया है। यह सब फलों को देने वाला, ब्रह्महत्या आदि पापों का नाशक और राजाओं के लिए सब लाभों का प्रदाता है।

66. सोमयाग होते हुए भी यहाँ सवनीय पशु अश्व है। यह विशिष्ट प्रकार से उत्पन्न सोमरस पिलाया हुआ अश्व होता है।

67. इस याग को करने के लिए सांग्रहणी इष्टि, प्रजापति देवताक पशुयाग, अमावास्येष्टि इत्यादि कर्म कर यज्ञीय अश्व और चतुरक्ष कुत्ते को तालाब आदि में प्रविष्ट कर कुत्ते को मारकर, अश्व के पैरों के नीचे से फेंक कर, अश्व का प्रोक्षण कर सेना की देखरेख में वर्ष भर भ्रमण के लिए छोड़ दे। उसके सुरक्षित लौट आने पर ही इस यज्ञ को करे। अश्व के लौटने की प्रतीक्षा करता हुआ राजा विहित यज्ञकर्म करता रहे और अश्व के मार्ग में उसके पदचिह्नों पर भी निर्धारित क्रियाएँ कराए।

68. यागकाल में 21 यूप होते हैं। अश्व को बाँधकर तूपर आदि 13 पशु बाँधे जाते हैं। 21 यूपों से 349 ग्राम्य और 360 आरण्य पशु बाँधे जाएँ। उपाकरण और पर्यग्निकरण करके आरण्य पशुओं को जंगल में छुड़वा दे और ग्राम्य पशुओं के संज्ञपन आदि पाशुक कर्म करे।

69. अश्व का संज्ञपन अर्थात् वध कर, महिषी वावाता और परिवृक्ती रानियों की परिक्रमा आदि अनेक विहित कर्मों को कर के अश्व और तूपर आदि के माँस की आहुतियाँ दे। पत्नीसंयाज, सर्वस्तोम, अतिरात्र सोमयाग, प्राजापत्य पशुयाग इत्यादि कर ग्राम में आ कर वर्षभर ऋतुपशुओं से यज्ञ करे।[57]

70. इस विवरण से यह सुव्यक्त हो जाता है कि श्रौत सूत्रों में अश्व और अश्वमेध के वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों के भाव तिरोहित हो गए हैं। वहाँ अश्वमेध शासक के चक्रवर्तित्व अथवा नृपत्व का बोधक मात्र रह गया है, सामान्य एवं अध्यात्मज्ञानी लोकोपकारी जन इसकी परिधि से बहिष्कृत हो गए हैं और इसमें हिंसा एवं शक्ति प्रदर्शन प्रमुख हो गए हैं।

उपसंहार

71. वर्तमान काल में उपर्युक्त श्रौतयागों में से केवल अश्वमेध के प्रणयन के समाचार यदा-कदा पढ़ने में आए हैं। स्वभावत: ही इस का श्रौतसूत्रीय पूर्ण रूप आज राजाओं आदि के अभाव में प्रयोज्य नहीं है। अत: इसे राजाओं से भिन्न जनों द्वारा भी किया जाना मान कर कुछ परिवर्तित संक्षिप्त रूप में किया जाता है, जिसमें अश्व के देश भर में भ्रमण और हिंसा आदि को मध्यकालीन रूप में न कर सम्भवत: उपेक्षित कर दिया जाता है। अन्य क्रियाओं में भी परिवर्तन अनिवार्य है। इसका और अन्य सभी श्रौतयागों का वैदिक आध्यात्मिक रूप विस्मृत

हो चुका है। इनके वर्तमान सम्पादन में जिन वैदिक मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है, विनियुक्त उन मन्त्रों के अर्थ सामान्यत: न यज्ञ करने वालों को ज्ञात होते हैं, और न कराने वालों को। आधुनिक अश्वमेध आदि में की जाने वाली क्रियाओं का विवरण उपलब्ध नहीं है। इन्हें अब मान्यता की श्रद्धा से सम्पन्न किया जाता है। अग्नि में डाले गए पदार्थों का उन के गुणों के अनुरूप वातावरण पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। उच्चारित मन्त्रों आदि की ध्वनि का भी प्राकृतिक प्रभाव वायुमण्डल पर पड़ता है, परन्तु विनियुक्त मन्त्रों के अर्थों और भावों के अज्ञान के कारण याज्ञिक और उपस्थित सामान्य जन मन्त्रों में निहित आध्यात्मिक आदि विभिन्न भावों और आदर्शों आदि को आत्मसात् करने में असमर्थ रहते हैं। इस कारण विशाल श्रौतयागों के यान्त्रिक सम्पादन की वैचारिक एवं आध्यात्मिक उपादेयता विचारणीय कोटि में ही आती है। सम्भवत: इसीलिए पिछली शती में वेदों के महान् उद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने पञ्च महायज्ञों—ब्रह्म, देव, अतिथि, पितृ और बलिवैश्वदेव या भूत यज्ञों और 16 संस्कारों के अतिरिक्त अन्य श्रौतयागों के स्वरूप आदि पर कुछ नहीं लिखा है। यजुर्वेदभाष्य में भी कर्मकाण्डपरक अर्थों का परिहार किया है। अनेकश: अग्निहोत्र से अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ करने की प्रेरणा अवश्य दी है। विद्यावाचस्पति पं. मधुसूदन शर्मा ने **यज्ञसरस्वती** में कुछ यज्ञों की विधि दी है। यह द्रष्टव्य है।

72. आजकल अनेक नए यज्ञों—गायत्री महायज्ञ, चण्डी महायज्ञ, शत/सहस्र कुण्डी यज्ञ एवं संकल्प यज्ञ आदि की उद्भावना कर के सम्पादन किया जा रहा है। इनका प्रमुख लक्ष्य पौराणिक मान्यताओं और भावनाओं का प्रचार आदि है। श्रौतयागों से इनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने से इनकी उपादेयता का यहाँ विचार अप्रासंगिक है।

73. जिन श्रौतयागों का वर्णन ऊपर दिया गया है, उनकी श्रौतसूत्रीय कार्यान्विति उसी रूप में आधुनिक परिप्रेक्ष्य में न सम्भव है, न उपादेय। यज्ञ करने वालों के पास न इतना समय है, न इतने साधन हैं। इस पद्धति में मन्त्रगत पशु आदि शब्दों के लौकिक रूढ़ अर्थ कर के गौ आदि पशुओं के वध, सुरापान, अनुचित मैथुन और अश्लील हास-परिहास आदि की उद्भावना करके **"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"** के शातपथ कथन को **"यज्ञो वै पापिष्ठं कर्म"** के रूप में परिवर्तित कर दिया है। जनभावनाओं के आलोक में पशुवध आदि कुछ कर्मों को कलियुग में वर्जित

कहकर जनता के विरोध से तो बचाव कर लिया गया है, परन्तु पूर्वतर तीन युगों—सत्य, त्रेता और द्वापर में यज्ञों में पशुवध आदि के विधान और प्रचलन की मान्यता की मूक घोषणा कर दी गई है। वस्तुतः जो कर्म कलियुग में निषिद्ध हैं, वे प्राचीनइतर युगों के सन्दर्भ में भी परिवर्जनीय, जघन्य और अवैदिक ही माने जाएंगें। श्रौतयागों से सम्बन्धित मन्त्रों के बृहस्पति आंगिरस द्वारा ऋग्वेदीय मन्त्र—"यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्" (10/71/3) के अनुसार यौगिक व्याख्यान और ब्राह्मणग्रन्थों में प्रकाशित श्रौतयागों के विशिष्ट भावों से अनुभूति लेकर अपने और दूसरों के उपकार के निमित्त किए जाने पर उपर्युक्त श्रौतयाग न केवल आधुनिक परिप्रेक्ष्य में ही, अपितु युगयुगान्तरों तक—प्रलयकालपर्यन्त उपादेय रहेंगें। समस्त वेदानुयायी इस धारा में इन यागों के अधिकारी विद्वानों के विचारों से अनुभूति लेकर उपयुक्त चिन्तन कर अपना मत और मार्ग निर्धारित कर लें।

"ओम् स्तुता मया वरदा वेदमाता।
प्रचोदयन्ती पावमानी द्विजानाम्॥
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं
ब्रह्मवर्चसम्।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥"

अथर्ववेद, 19/71/1

"यस्मात् कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मुमा देवास्तपसावतेह॥"

अथर्ववेद, 19/72/1

॥ ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः। ओम्॥



परिशिष्ट

आजकल इस भारत देश में श्रौतयागों के नामों से तो अनेक यज्ञ होते रहते हैं, जिनका विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है। अश्वमेध याग में न राजा होता है और न अश्व का वध आदि। इनके अनुकरण में भी कुछ याग होते हैं। इस प्रकार के यागों की परम्परा प्राचीन काल में भी रही होगी। स्वामी विद्यानन्द सरस्वती ने महाभारत के अनुशासन पर्व से एक स्पर्शयज्ञ का परिचायक यह पद्य उद्धृत किया है—

"यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः।
स्पर्शयज्ञं करिष्यामि विधिरेष सनातनः॥"

इस यज्ञ में पशुओं को छू-छू कर चारा प्राप्त करने के लिए छोड़ दिया जाता था।[58] यह बारह वर्ष से अधिक चलने वाले दुर्भिक्ष में किया जाता था।

2. **ज्ञानयज्ञ**—राजस्थान पत्रिका, जयपुर के 2 अगस्त, 1994 के अंक में प्रकाशित एक समाचार के अनुसार लक्ष्मीनारायण मन्दिर, लक्ष्मी नारायण पुरी, गलता रोड़, जयपुर में 2-4 अगस्त, 1994 तक एक ज्ञानयज्ञ का आयोजन था, जिसमें पहले दिन प्रातः छै बजे एक शोभायात्रा, प्रतिदिन 8 बजे से वेदप्रबन्ध पाठ हवन, 10 बजे सुदर्शनसहस्रनाम अर्चना, 11.30 बजे पूर्णाहुति, आरती, गोष्ठी, सायं 5.30 बजे सामूहिक विष्णु-सहस्रनाम पाठ, 6 बजे वेदपाठ आदि, 7.30 बजे लक्ष्मीपूजा तथा रात को 8 बजे नित्य पूर्ण आहुति की व्यवस्था की गई थी। स्पष्ट है कि इस और ऐसे ही गायत्री यज्ञ और शतकुण्डी यज्ञ आदि में वेद और वैदिक श्रौत क्रियाओं का स्थान अतिगौण और नगण्य है। यहाँ पौराणिक क्रियाएँ ही प्रमुख हैं, जिनका प्रचार ऐसे यज्ञों के माध्यम से अभीष्ट है।

ब्रह्मपारायण यज्ञ—आर्यसमाज में यह यज्ञ बहुत प्रचुर है। स्वामी दयानन्द ने अग्निहोत्र की दैनिक पद्धति भी निर्धारित की है और सत्संगों एवं समारोहों आदि के अवसरों के लिए भी। विशिष्ट अवसरों की पद्धति में कुछ मन्त्रों से दी जाने वाली कुछ आहुतियाँ अधिक हैं। इनका विवरण संस्कारविधि के सामान्य

प्रकरण में है। विविध संस्कारों में संस्कारानुरूप मन्त्रों की आहुति आदि क्रियाओं का भी विधान है। आजकल विशिष्ट अवसरों की विशिष्ट आहुतियों से पूर्व एक, दो, तीन या चारों वेदों के आद्योपान्त मन्त्रों से भी आहुतियाँ दी जाती हैं। ऐसी आहुतियों वाले यज्ञ कुछ दिन तक प्रात: और सायं नियमित रूप से चलते रहते हैं, तभी अभीष्ट समस्त मन्त्रों की आहुतियाँ पूरी होती हैं। अनेक बार इन में अनेक मन्त्रों के भावों आदि की व्याख्या भी की जाती है जिस के लक्ष्य वेदज्ञान का प्रचार, उस में रुचि उत्पन्न करना, जनता को अपने जीवन में वैदिक आदर्शों को अपनाना आदि हैं। वैदिक होते हुए भी ये यज्ञ यहाँ विचारित श्रौतयाग नहीं हैं।

इन अनुकरण यज्ञों के विवरण से यह भली-भाँति समझा जा सकता है कि वेदों में आस्था रखने वाले पौराणिक और आर्यसमाजी हिन्दू वास्तविक श्रौतयागों में अपने धर्माचार्यों के माध्यम से कोई क्रियात्मक गति नहीं रखते हैं।

सन्दर्भ

1. इनके हस्तलेख प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान, जोधपुर में हैं। अपने अध्यक्षीय काल में डॉ. फतह सिंह ने इनकी खोज की और डॉ. रामधारी सिंह ने अपने एक लेख में इनका कुछ परिचय दिया था।
2. ऋ0 10/129/4
3. वहीं, 10/129/3
4. वहीं, 2/1/2
5. वहीं, 2/36/4
6. वहीं, 4/9/3-4
7. वहीं, 10/71/11
8. अथर्ववेद, 15/6/13-15
9. ऋ0 1/142/8
10. वहीं, 1/164/46
11. देखें ब्राह्मणोद्धारकोष, पृ. 410-423
12. जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण, 3/3/4/8
13. काण्ठकसंहिता, 35/3
14. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 1/8/6/6

15. देखें, ब्राह्मणोद्धारकोष, पृष्ठ 655-664
16. ऋ0 8/48/3
17. ब्राह्मणोद्धारकोष, पृ. 835-839 देखें।
18. तैत्तिरीयसंहिता, 6/4/8/1-2
19. कठकपिष्ठलसंहिता, 45/5
20. तैत्तिरीयसंहिता, 6/6/7/1
21. शांखायन आरण्यक, 4/9; कौषीतकि उपनिषद्, 2/9
22. तैत्तिरीयसंहिता, 2/6/10/3
23. शतपथब्राह्मण, 6/2/1/2
24. ब्राह्मणोद्धारकोष, पृ. 476-489 देखें।
25. शतपथब्राह्मण, 11/6/3/9
26. यजुर्वेद, 23/17
27. अथर्ववेद, 18/4/32
28. वहीं, 11/3/5
29. महाभारत, अनुशासनपर्व, 115/49
30. स्वामी विद्यानन्द सरस्वती की डॉ. कृष्णलाल की पुस्तिका "वैदिक यज्ञों का स्वरूप" की भूमिका में पृ. 7 पर उद्धृत महाभारत, शान्तिपर्व, 265/10 पद्य। पाटि. 29 का पद्य भी यहीं से लिया गया है।
31. ब्राह्मणोद्धारकोष, पृ. 40-41 देखें।
32. ताण्डयमहाब्रा., 4/2/11-14; 5/21; 6/1/1-2; 2/1-2;3/1-5
33. यज्ञतत्त्वप्रकाश, पृ. 57-61
34. रिलीजन एण्ड फिलोसौफी ऑफ दी वेद एण्ड उपनिषद्ज़, अध्याय 20/8, पृ. 326-332
35. निरुक्त, 2/28
36. यजुर्वेद, 9/40
37. जैमिनीयब्राह्मण, 2/192
38. ब्राह्मणोद्धारकोष, पृ. 725-726 देखें।
39. वहीं, पृ. 725 देखें।
40. रिलीजन एण्ड फिलौसौफी ऑफ दी वेद एण्ड उपनिषद्ज़, पृ. 55

41. वहीं, पृ. 339
42. यज्ञतत्त्वप्रकाश, पृ. 85-86
43. निरुक्त, 3/16
44. ब्राह्मणोद्धारकोष, पृ. 684 देखें।
45. यज्ञतत्त्वप्रकाश, पृ. 108-115
46. डॉ. सुधीर कुमार गुप्त, सुरा, आर्यावर्त, ग्वालियर, जुलाई, 1963, पृ. 5-12 भी देखें।
47. यजुर्वेद, 19/1-11
48. वहीं, अध्याय 20-21
49. डॉ. सुधीर कुमार गुप्त, सौत्रामणी याग, गुरुकुल पत्रिका (हरिद्वार), मार्च-अप्रेल, 1973, पृ. 331-334
50. शतपथब्राह्मण, 12/7/1/14
51. ब्राह्मणोद्धारकोष, पृ. 842 देखें।
52. यज्ञतत्त्वप्रकाश, पृ. 108
53. यजुर्वेद, 11/1
54. सम्भव है यह यजमान शब्द चारों वर्णों का द्योतक हो। ऐसा प्रतीत होता है कि तीनों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के उच्च एवं ज्ञानी व्यक्ति ही शूद्र कहलाते हों। देखें डॉ. सुधीर कुमार गुप्त, वेदलावण्यम् में पारस्करीयोपनसूत्रों की भूमिका, 'शूद्रों की स्थिति और उनका उपनयन', पृ. 35-57
55. शतपथब्राह्मण, 11/2/5/5
56. ब्राह्मणोद्धारकोष, पृ. 140-143
57. यज्ञतत्त्वप्रकाश, पृ. 115-120
58. डॉ. कृष्णलाल, वैदिक यज्ञों का स्वरूप, नई दिल्ली, 1989 की स्वामी विद्यानन्द सरस्वती की भूमिका, पृ. 5-6।



2

आधुनिक सन्दर्भ में "सौत्रामणी" याग की उपादेयता

डॉ. उमेश प्रसाद दाश
व्याख्याता वेद
महाराजा संस्कृत कॉलेज, जयपुर

यज्ञ शब्द का अर्थ—

यज्ञ शब्द "यज्"[1] धातु से निष्पन्न है। यज् का अर्थ है देव पूजा, सङ्गतिकरण तथा दान। इन तीनों अर्थों में देव शब्द का सम्बन्ध पूजा, सङ्गतिकरण तथा दान से जोडना युक्ति संगत प्रतीत होता है। इस प्रकार "यज्" धातु का अर्थ हुआ—देव की पूजा, देव के साथ सङ्गतिकरण तथा देव के लिए दान। यद्यपि इन तीनों अर्थों में ही विद्वान् यज्ञ शब्द के अर्थ का अन्वेषण करते हैं,[2] तथापि यज्ञ की अवधारणा से ज्ञात होता है कि यज् धातु का प्राचीन अर्थ देव के साथ यजमान का सङ्गतिकरण ही है।[3] सङ्गतिकरण का तात्पर्य है कि "यजमान पिण्ड का ब्रह्माण्ड के साथ सम्बन्ध स्थापित करना। इसी को दृष्टि में रखकर महर्षि याज्ञवल्क्य[4] का कथन है, कि जो यज्ञ से, ऋचाओं से, यजुषों से तथा आहुतियों से देवों को प्रसन्न करता है, वह उन्हें प्रसन्न कर उनमें भागीदार बनकर प्रतिष्ठित होता है। महीदास ऐतरेय[5] ने प्रवर्ग्य इष्टि के प्रसङ्ग में कहा है कि जो व्यक्ति इस प्रवर्ग्य के अनुष्ठान को ठीक-ठीक जानता है, तथा जो इसके द्वारा यजन करता है, वह ऋङ्मय, यजुर्मय, साममय, वेदमय, ब्रह्ममय तथा अमृतमय होकर देवताओं के पास पहुँच जाता है। इन दोनों उद्धरणों से सङ्गतिकरण का अर्थ प्रमाणित हो जाता है।

वैदिक संस्कृति में यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व है। यज्ञ ऋषियों की साधना से

उत्पन्न ऋतम्भरा प्रज्ञा का वह आलोक है, जिसमें संस्कृति का अणु परमाणु प्रद्योतित होता है।[6] ऋग्वेद से यह सिद्ध होता है कि पौरुष यज्ञ से ही सारी सृष्टि हुई।[7] देवों ने यज्ञ से यज्ञ का यजन कर सृष्टि की रचना की।[8] यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है। इस ब्रह्माण्ड या सृष्टि का मूल केन्द्र यज्ञ है।[9]

इस विश्व में जो भी कुछ क्रियायें की जाती हैं, उसके केन्द्र में मनुष्य स्थित है। इस तथ्य को शटाल्काट् पार्सन्स[10] नामक विद्वान् ने भलि-भाँति प्रमाणित करते हुए कहा है कि, यज्ञ एक क्रिया है, एक अनुष्ठान है। उसके केन्द्र में मनुष्य की स्थिति मान्य है। यह विश्व द्वन्द्वात्मक है—यह संसार लौकिकता तथा अलौकिकता से परिव्याप्त है।[11] यज्ञ लौकिक है, पवित्र और अलौकिक बनाने की प्रक्रिया है।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने मनुष्य के तीन जन्मों को बताया है।[12] वह पहले अपने माता-पिता से जन्म लेता है। तदनन्तर वह यज्ञ से उत्पन्न होता है तथा अन्त में उसकी उत्पत्ति मृत्यु से होती है। वैदिक ऋषियों ने इस ब्रह्माण्ड में एकात्मता स्थापित करने के लिए जिस मार्ग का अन्वेषण किया था, वह यज्ञ है। इस परिप्रेक्ष्य में पाश्चात्य विद्वानों ने अध्वर शब्द की व्युत्पत्ति मार्गवाचक अथवा शब्द से की है।[13]

ऐतरेय ब्राह्मण में यज्ञ को सुतर्मा नौका बताया गया है।[14] ऋषिगण यज्ञ के द्वारा व्यष्टि चैतन्य को समष्टि चैतन्य में अन्तर्हित कर देते थे। एतदर्थ यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि अनृत से हटकर मैं सत्य को प्राप्त कर रहा हूँ।[15] जब यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित होती है, तभी ऋत का सन्धान होता है। ऋत के द्वारा मनुष्य उदात्त से उदात्ततम होता है। इसी को दृष्टि में रखकर ऋषि प्रजापति ने ऋग्वेद में कहा था कि अग्नि के अच्छी तरह से प्रज्वलित हो जाने पर मैं केवल ऋत की ही बात करूँगा।[16] यज्ञ के सम्बन्ध में यह धारणा बलवती है कि हम देवता को यदि हवि प्रदान करेंगे तो वह देव विनिमय में हम को कुछ देगा। याज्ञवल्क्य ने इस विषय में अच्छा प्रस्तुत किया है।[17] ऋषि प्रश्न करता है कि आत्मयाजी तथा देवयाजी में कौन श्रेष्ठ है। ऋषि इसका अन्तर भी प्रस्तुत करता है कि इन दोनों में आत्मयाजी श्रेष्ठ है। यजमान जब इस भावना से यज्ञ करता है कि यज्ञ में इस अनुष्ठान से मेरे इस अङ्ग की दैवी संरचना हो रही है, तब वह आत्मयाग करता है, न कि देवयाग। इस दृष्टि से पूर्व कथित यज्ञ से जन्म की बात सार्थक होती है।

इस प्रकार यज्ञ अनृत से सत्य की ओर, असुरत्व से देवत्व की ओर, अनर्हता से अर्हता की ओर तथा व्यष्टि चैतन्य से ब्रह्माण्ड चैतन्य की ओर ले जाने वाला एक श्रेष्ठतम कर्म है।[18] महीधर माध्यन्दिन संहिता की प्रथम कण्डिका में चार प्रकार के कर्मों का उल्लेख करते हुए यज्ञ को सर्वोत्तम कर्म कहते हैं।[19] लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने यज्ञ को भारतीय जीवन का दर्शन बताया है।[20] यज्ञ की महत्ता की दृष्टि से जापानी विद्वान् काजूमा अग्निचयन को सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति कहते हैं।[21]

यज्ञों का विभाजन—

मनुष्य अपनी स्वभाविक मनोवृत्ति की दृष्टि से तीन प्रकार के कर्म में प्रवृत्त होता है। कुछ कृत्य ऐसे होते हैं जिन्हें मनुष्य प्रतिदिन करना चाहता है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं जो तब किए जाते हैं, जब उनका कोई निमित्त उपस्थापित होता है एवं मनुष्य के मन में विविध कामनाएँ जगती हैं, जिनकी पूर्ति के लिए वह अध्यवसाय की ओर उपस्थित होता है। पहले यह बताया जा चुका है कि यज्ञ एक क्रिया है, यज्ञ एक कर्म है। इस तरह से कर्मों के वैविध्य के कारण यज्ञ का विभाजन किया जा सकता है, जिसको क्रमशः नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्म के रूप में जाना जा सकता है।[22]

नित्य यज्ञ प्रतिदिन किए जाते हैं। नित्य यज्ञों को करने से किसी प्रकार का लाभ हो या न हो, परन्तु मनुष्य के जीवन में प्रत्यवाय अर्थात् विघ्न आने की सम्भावना बनी रहती है।[23] इसके लिए "यावज्जीवम् अग्निहोत्रं" इस प्रकार यज्ञ करने का विधान है।[24] जिस यज्ञ का विधान किसी निमित्त से किया जाता है, उसे नैमित्तिक यज्ञ कहते हैं।[25] तैत्तिरीय संहिता में[26] कहा गया है कि जिसका घर जल जाता है, उसके लिए अग्नि तथा सोम देवता को अष्ट कपाल पुरोडाश का निर्वाप करने का विधान है। इस प्रकार यह यज्ञ गृहदाह निमित्तक होने के कारण नैमित्तिक यज्ञ कहलाता है।[27] विशेष कामना की पूर्ति के लिए काम्य यज्ञ किए जाते हैं। उदाहरणार्थ तैत्तिरीय संहिता कहती है कि जिसके मन में पशु प्राप्ति की इच्छा हो, उसे चित्रा इष्टि करनी चाहिए।[28]

यज्ञों के भेद—

यज्ञ के दो भेद बताये गये हैं। पाकयज्ञ, श्रौत यज्ञ। पाकयज्ञों को, स्मार्त

यज्ञ भी कहा जाता है।[29] गृहस्थ धर्म का परिपालन करने के लिए जो यज्ञ किए जाते हैं, उनकी विधियों का वर्णन गृह्य सूत्रों, धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में उपलब्ध होता है।[30] गृह्य सूत्र, धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में इन पाकयज्ञों का वर्णन होने के कारण तथा श्रुतियों में इनका विवरण उपलब्ध न होने के कारण इनका नाम पाकयज्ञ है।[31] श्रौत यज्ञ को करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति सर्वप्रथम, गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि की विधिपूर्वक स्थापना करता है। आहिताग्नि यजमान यज्ञ करने का अधिकारी होता है।[32] प्रत्येक यज्ञ के द्रव्य तथा देवता भिन्न-भिन्न होते हैं। यज्ञों में निर्दिष्ट तत्-तत् देवताओं के लिए तत्-तत् हवियों की प्रधानता हुआ करती है।[33] इस दृष्टि में श्रौत यज्ञ तीन प्रकार का होता है हविर्यज्ञ, पशुयज्ञ तथा सोमयज्ञ।[34] इनके अन्य नाम भी हैं—इष्टि, पशु तथा सोम। इष्टियों में प्रधान रूप से दूध, दही, घी, मधु, अन्न आदि द्रव्यों का प्रयोग होता है।[35] पशुयज्ञ में पशु की हवि की प्रधानता हुआ करती है।[36] इस प्रकार सोमयज्ञ में सोमलता के रस की मुख्य हवि होती है।[37] ऐतरेय ब्राह्मण में पाँच प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है। अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और सोम। शतपथ ब्राह्मण में यद्यपि यज्ञों का भेद उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी उसमें दर्शपौर्णमास से लेकर अश्वमेध यज्ञ तक का विवरण उपलब्ध होता है।[38]

गोपथ ब्राह्मण में अथर्ववेद के पैप्पलाद संहिता के एक मन्त्रांश को उद्धृत किया है। इस मन्त्रांश में ''त्रिवृत्त'' तथा सपूतन्तु पदों का उल्लेख है। इन दोनों पदों की व्याख्या में प्रक्रीडित आचार्य के एक श्लोक का अंश उद्धृत किया गया है।[39] गोपथ ब्राह्मण में अन्यत्र भी उक्त मन्त्र पूरा का पूरा उपलब्ध होता है।[40] इस मन्त्र में सात पाकयज्ञ, सात हवियज्ञ, सात सोमयज्ञ उल्लिखित हैं। इस प्रकार यज्ञों की संख्या 21 हो जाती है।[41] गोपथ ब्राह्मण[42] के अनुसार सात पाक यज्ञ, प्रात: होम, सायं होम, स्थाली पाक, बलिवैश्वदेव पर्व, पितृयज्ञ, अष्टका और पशु, अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, नवशंसेष्टि, चातुर्मास्य और पशुबन्ध, ये सात हविर्यज्ञ है। सात सोमयज्ञों में, अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम परिमाणित हैं। अनुवर्त्ती आचार्यों ने भी इन्हीं भेदों का अनुसरण किया है।[43]

प्रयोग विवरण की दृष्टि से सकल श्रौतयज्ञों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रकृतियज्ञ, विकृति यज्ञ, प्रकृतिविकृति यज्ञ।

1. प्रकृतियज्ञ[44]—उन श्रौत यज्ञों को 'प्रकृति यज्ञ' कहते हैं जिनमें करणीय सभी अनुष्ठानों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है।

2. विकृतियज्ञ[45]—जिस यज्ञ में विशेष रूप से उपदिष्ट अङ्गों का वर्णन होता है तथा उनसे भिन्न किसी अन्य यज्ञ के अनुष्ठान की अपेक्षा रखते हैं, उन्हें विकृति यज्ञ कहा जाता है।

3. प्रकृतिविकृति यज्ञ—जो याग स्वयं में ही विकृति रूप है। फिर भी अन्य किसी याग की प्रकृति रूप है, वे याग प्रकृतिविकृति याग कहलाते हैं। यथा चातुर्मास्य, वैश्वदेवपर्व आदि।

'सौत्रामणी' शब्द का अर्थ

सुत्राम्न इयं सौत्रामणी[46]—'सुत्रामा इन्द्रो देवता अस्या:'—(सुत्रामन्+अण् +ङीप्)—पूर्व दिशा चकोर नयानारुणा भवति दिक् च सौत्रामणी। सुत्रामा शब्द का अर्थ है ''इन्द्र'' जो चारों दिशाओं को प्रकाशित करता है। अर्थात् जिस याग का प्रधान देवता इन्द्र हो उसे सौत्रामणी याग कहा जाता है। आचार्य विद्याधर जी ने सौत्रामणी याग को स्वतन्त्र पशुयाग बताया है।[47] महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने शतपथ ब्राह्मण में बताया है कि सौत्रामणी याग नपुंसक की भाँति न पूर्ण इष्टि है, न ही पशुबन्ध है। इस पर एक आख्यान भी प्राप्त होता है।[48]

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार अग्निचयनोपरान्त सौत्रामणी नामक पशुयाग को करना चाहिए। यह स्वतन्त्र तथा किसी और याग के अङ्ग भूत में किया जा सकता है।[49] सौत्रामणी याग के दो और नाम हैं, जिसको क्रमश: कोकिला तथा चरक सौत्रामणी के नाम से जाना जाता है। इस याग को नित्य, नैमित्तिक और काम्य याग के रूप में किया जा सकता है।

सौत्रामणी याग का उद्देश्य—

(1) अश्विन एवं सरस्वती ने नमुचि नामक राक्षस के पराक्रम और वीर्य्य को इन्द्र में पुन: स्थापित कर दिया और इन्द्र को बुराई से बचाया। सुत्रात् अर्थात् बुराई से बचाना। इस प्रकार सुत्रात् से सौत्रामणी हो गया। सौत्रामणी का यह सौत्रामणीत्व है कि आत्मा को पाप से और मृत्यु से बचाता है।[50]

(2) जिस व्यक्ति के शत्रु हो उसे सौत्रामणी याग करना चाहिए, क्योंकि पापियों एवं दुष्ट व्यक्तियों को मारने में वीर्य्य एवं पराक्रम की आवश्यकता होती है, अत: सौत्रामणी याग करना चाहिए।[51]

(3) प्रजापति ने सोम यज्ञ करके यह अनुभव किया कि मैं धन सम्पत्ति से रहित हो गया हूँ। उस रिक्त सम्पत्ति को पूर्ण करने के लिए सौत्रामणी याग किया, जिससे पुन: वह प्रजापति पूर्णता को प्राप्त हो गया था अत: सौत्रामणी याग करना चाहिए।[52] सौत्रामणी यज्ञ करने वाला व्यक्ति सन्तान और पशुओं को प्राप्त करता है और स्वर्ग लोक को जीत लेता है।[53]

(4) सौत्रामणी यज्ञ के द्वारा तथा उससे होने वाले अभिषेक से यश की प्राप्ति होती है। अत: सौत्रामणी यज्ञ करना चाहिए।[54]

(5) ब्राह्मण के लिए सुरा अभक्ष्य है। अभक्ष्य से उत्पन्न होने के कारण परलोक में उसको अन्न खाता नहीं है। इसलिए सौत्रामणी यज्ञ को ब्राह्मण ही कर सकता है। अत: इसे सौत्रामणी यज्ञ कहा गया है।[55]

सौत्रामणीयाग के देवता—

इस याग के प्रमुख देवता अश्विन, सरस्वती एवं इन्द्र देवता हैं।

पशु—अजा, मेषी, वृषभ, ये तीनों उपर्युक्त देवताओं के क्रमश: हवि बताये गये है।[56] कोकिल सौत्रामणी में पाँच पशु बताये गये हैं।[57]

समय—सौत्रामणी याग को चार दिन में सम्पन्न किया जाता है। इस याग का प्रारम्भ शुक्ल पक्ष की द्वादशी से किया जाता है।

ऋत्विज्[58]—सौत्रामणी याग ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाना, मैत्रावरुण और अग्निध्र, यजमान और यजमान पत्नी इन आठ व्यक्तियों के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। प्रतिप्रस्थाना नामक ऋत्विज् की इसलिए आवश्यकता होती है कि प्रमुख दिन दो वेदियों का कार्य एक साथ किया जाता है।

कार्य का प्रारम्भ—अग्निचयनान्तर्गत सौत्रामणी याग को किया जा रहा हो तो मातृपूजन और आभ्युदयिक श्राद्ध आदि करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सारे कृत्य अग्निचयन में हुए रहते हैं। स्वतन्त्र रूप में सम्पन्न होने वाले याग में ये सारे कृत्य होंगे। हविर्यज्ञान्तर्गत इस याग का प्रकृति याग दर्श पौणमास इष्टि हैं।

सौत्रामणी याग की विधि—यज्ञ के प्रारम्भ दिन सपत्नीक यजमान पवित्र होकर अग्निशाला में उपस्थित हो। जिस अग्निशाला में त्रिपशुयाग सम्पन्न होना है, उससे दक्षिण दिशा वाली अग्निशाला में ऐन्द्र पशुयाग किया जाता है।[59] जिसमें

आठ कपाल निमित्त इन्द्र देवता के लिए पशु का पुरोडाश दिया जाता है और इसकी विधि निरूढ़ पशुयाग की भाँति की जाती है।[60]

आदित्येष्टि

ऐन्द्र पशुयाग के बाद पश्चिम की अग्निशाला में आदित्येष्टि अनुष्ठान करना चाहिए।[61] इस इष्टि को सौत्रामणी याग के प्रारम्भ दिन तथा अन्तिम दिन भी किया जाता हैं।

इस याग में सर्वप्रथम संकल्प, अग्नि का उद्धरण, ऋत्विजों का व ग करते हुए याग को प्रारम्भ करना चाहिए। इसके समस्त कृत्य दर्श–पौर्णमास याग की भाँति होते है। परन्तु पात्रासादन के क्रम में कपाल के स्थान पंर चरुस्थाली रखी जाती है और प्रधान याग के समय अदिति देवता के लिए चरु दिया जाता है।[62]

आदित्येष्टि की दक्षिणा—

इस याग की दक्षिणा गौ का वत्स अर्थात् बछडा निश्चित है, और अन्त में होने वाली इष्टि के लिए बछडे की माता को दक्षिणा रूप में दिया जाता है।[63]

यजमान आदित्येष्टि को समाप्त कर पुन: आहवनीयाग्नि में तीन समिधा का आधान करे। नित्य अग्निहोत्र समाप्त करने के बाद प्रतिदिन तण्डुल पकावे तथा उसी तण्डुल का भोजन करे। यह क्रिया चार रात पर्यन्त नित्य होती है। अग्निहोत्र प्रस्थावित में अग्निशाला में अग्निहोत्र न करने के पक्ष में दक्षिण दिशा की अग्निशाला से ऐन्द्र पशु याग का अनुष्ठान करे। इसके लिए सर्वप्रथम सुरा **द्रव्य क्रयण** क्रिया से याग का प्रारम्भ होता है।

सुराद्रव्यक्रयण की विधि[64]—

यह एक धातु विशेष है सीसे के बदले पउर्दप[65], ऊन के बदले तोक्म (हरेयव)[66] सूत के बदले चावल (लाजा)[67], गुड देकर त्रिफला, सोंठ, पुनर्नवा प्रभृति प्रक्षेप द्रव्य को खरीदते हुए बैल के चर्म को बिछाकर उस पर खरीदा हुआ सब सामान रखे और खरीदे हुए समस्त पदार्थों को यज्ञशाला के दक्षिण द्वार से प्रवेश करावे।[68] यजमान और ब्रह्मा यथा-यथा स्थान बैठते हैं[69] और सारे औषध वर्ग को कूट-कूट कर चूर्ण बनाया जाता है। इनमें शुष्य, तोक्य लावा को अलग रखना चाहिए। इसके अनन्तर ब्रह्मा का वरण करे। पात्रासादन करे। अश्विन, सरस्वती एवं इन्द्र देवता के लिए हवि को विधि पूर्वक ग्रहण करें।[70] और हवियों की कुटाई पिसाई

की कुटाई पिसाई करके उपसर्जनी नामक जल को अग्नि के ऊपर स्थापित करे,[71] व्रीही और श्यामाक हवि को अलग-अलग रूप में पकावें। इन्हें अत्यधिक पानी में पकाया जाना चाहिए, जिससे वह कच्चा न रहे। हवि पक जाने पर कपड़े से छानकर पूर्व में लिये गये सुरा द्रव्यों को मिला दे[72] और पकाये गये चावलों को भी मिला दे और गड्ढा खोदकर सुराद्रव्य की कुम्भी को तीन दिन तक गाड दे।[73] ध्यान रहे ये सारे कृत्य प्रारम्भ दिन किए जाते हैं। इसी दिन यजमान जब सायं अग्निहोत्र सम्पन्न कर ले तो उसके बाद अश्विन देवता के निमित्त एक गौ का दोहन किया जाता है। दूहे गये दूध को दोनों कुम्भियों में अर्थात् सुरा कुम्भी जिसमें हवि पकाया गया था, उसी पात्र में छोड़ दे। और उस पात्र को ढ़क दे। पुन: चतुर्दशी से दिन गौ का दोहन करके उसी कुम्भी में दूध और चूर्ण छोड़ दे।[74]

उसी दिन प्रधान याग हेतु वेदी निर्माण इत्यादि कार्य करे। जिस वेदि में पहले ऐन्द्र पशुयाग हो चुका हो, उसके उत्तर में दो वेदियो में प्रधान याग किया जाता है। यह कार्य चातुर्मास्य याग के वरूण प्रधान की भाँति दो वेदियों में एक साथ किया जाता है। उस पर्व की भाँति दक्षिण वेदी प्रतिप्रस्थाना और उत्तर वेदि अध्वर्यु होती है। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाना अपनी-अपनी वेदि का निर्माण करते हैं।[75] प्रतिप्रस्थाता की वेदि में सुराग्रह का हवन, आहवनीयाग्नि में पशु पुरोडाश और पयोग्रह का याग उत्तर वेदि पर होता है।[76] यजमान सायं अग्निहोत्र होम करके-इन्द्र देवता के निमित्त तीन गौओं का दूध दूहकर कुम्भी में दूध और चूर्ण पूर्ववत् छोड़ता है।[77] पलाश की शाखा से पवित्र बनाकर शाखोपवेष बनाता है। दूसरे दिन गो-दोहन के निमित्त छह गौओं (सवत्सा) को अलग से बाँधा जाता है।

पूर्णिमा के दिन अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता स्व-स्व वेदि में आहवनीय और उत्तर वेदि पर अग्निस्थापन करे। यूप गाडने तक कार्य को सम्पन्न करके साथ ही साथ स्व-स्व वेदि पर बर्हिस्तारण कार्य को भी कर ले।

गोदोहन करके उत्तर वेदि में पय और दक्षिण वेदि में तैयार की हुई सुरा का आसादन करें।[78]

सुरापय: पावन—

दक्षिण वेदि के पश्चिम में एक गड्ढा तैयार करके—उस गड्ढे में गौ के चर्म को बिछाया जाता है। उस गो चर्म के ऊपर बांस की एक टोकरी रखकर सुरा को छोड़ा जाता है और फिर उस सुरा पात्र को उठावे—गौ और अश्वों के

बालों से निर्मित छलने से पलाश के पात्र में सुरा को छान ले।[79] दूध उत्तर वेदि में बेंत के बने पात्र में बकरी के राम से निमित्त दूध को छान लिया जाता है—दूध को छान ने के बाद निर्दिष्ट पात्रों से सुरा और पय को ग्रहण किया जाता है[79] और उन ग्रहपात्रों को खर के ऊपर स्थापन किया जाता है,[80] और ग्रह पात्रों के निर्माण, अश्वरत्थ, औदुम्बर, न्यग्रोध, काष्ठ से निर्मित किया जाता है।

प्रक्षेपद्रव्य—गेहूँ, आँवले का चूर्ण, वृकलोम, इन्द्रयव, वैर का चूर्ण, व्याघ्रलोम, यव, कर्कन्धु चूर्ण, सिंह लोम, विधान से बताये गये द्रव्यों का प्रक्षेप करके सुराग्रह एवं पयोग्रहों को लेकर उपस्थान अध्वर्यु करता है। सर्वप्रथम अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दो-दो श्येन के पंख लेकर यजमान को पवित्र करते हैं। तदनन्तर अध्वर्यु ग्रहपात्रों को स्पर्श करता है।[81]

अश्विन, सरस्वती तथा इन्द्र देवता के लिए प्रतिनिधि के रूप में अज को यूप के पूर्व में स्थापित करें।[82] पशु को यूप में बाँधने से लेकर उपाकरण प्रभृति वपा याग तक के कृत्य को करे। इधर उत्तरवेदि की अग्नि पर पयोग्रह का और अध्वर्यु और दक्षिणवेदि के आहवनीय की अग्नि पर सुराग्रह का प्रतिप्रस्थाता याग को सम्पन्न करावें। याग के बाद पयोग्रह से शेषांश तथा सुराग्रह के शेष का भक्षण करे। भक्षण की विधि में चार मत प्राप्त होते है।[83]

(1) सुराग्रह पात्र को लेकर बाहर दक्षिण की ओर जाना चाहिये और अपसव्य होकर पयोग्रह भक्षण के समान सुरा ग्रह का पान करना चाहिये।

(2) द्वितीय विधि से सुराग्रह को भक्षण न करता हुआ मात्र अवघ्राण ही करे।

(3) किसी क्षत्रिय या वैश्य को थोड़ी सुरा देकर उसे सुरा पीने के लिए पैसे के द्वारा खरीद ले, शेष सुरा उसे पीनें दें।

(4) प्रतिप्रस्थाता की दक्षिण वेदि की आहवनीय अग्नि से तीन अङ्गार ले और उन अङ्गारों को दक्षिण भूमि पर स्थापना कर ले और उत्तरीय अङ्गार पर अश्विन ग्रह की सुरा से यजमान के पिता के निमित्त हवन करे। मध्यम अङ्गार पर ग्रह सुरा का यजमान के पितामह के लिए हवन करे। दक्षिण अङ्गार पर ऐन्द्र ग्रह सुरा का यजमान के प्रपितामह के लिए हवन करे। ध्यान रहे इन आहुतियों के समय यजमान अपसव्य रहता है।[84]

प्रतिप्रस्थाता सुरा ग्रह भक्षणानन्तर की दक्षिण वेदि के आहवनीय के दोनों ओर दक्षिण और उत्तर में दो खम्भे गाडकर और उन खम्भों के ऊपर दक्षिणोत्तर लम्बी एक लकड़ी रखे और मध्य में एक सिकहर को लटका दें और उस शिखर के ऊपर शतच्छिद्र कुम्भ नामक पात्र को रखे। घड़े के ऊपर एक निर्माण किया गया छन्ना भी रखे। उस छन्ने में सुवर्ण खण्ड होना चाहिए और उस पर सुरा को गिरावे। वह सुरा छिद्रों में से आहवनीय कुण्ड में गिरनी चाहिए। उपरोक्त समय में यजमान मन्त्र का उच्चारण करता है। यदि सोमयाग कर चुका हो तो वाचन न करके उपस्थापन ही किया जा सकता है। अनन्तर यजमान दक्षिण आहवनीयाग्नि में अपसव्य होकर आज्याहुति दे। सब कोई सव्य करके उत्तर वेदि के निकट जाए और यजमान आज्य की आहुति दे। जुहू में भी दूध लेकर आहुति प्रदान करे। आहुति देते समय यजमान का स्पर्श सब लोगों द्वारा आवश्यक है और स्थाली में शेष बचा हुआ दूध यजमान स्वयं पान करे तथा सुवर्ण सहित पवित्री के द्वारा सब कोई चात्वाल के निकट मार्जन करें।[85]

पशुपुरोडाश निर्माण—

इन्द्र के लिए एकादश कपाल का पुरोडाश, सविता के निमित्त बारह कपाल का पुरोडाश, वरुण के लिए दस कपाल का और अवभृथ याग में वरुण के लिए एक कपाल का पुरोडाश तैयार किया जाता है। सर्वप्रथम यजमान शमित्रानुशासन करे और पुराडाशों को वेदि में आसादित करे पुरोडाश से सम्बन्धित देवताओं का पुरोडाश से याग करना चाहिए। इस समय यजमान को बछडे सहित एक घोड़ी तथा तैंतीस गौ दक्षिणा रूप में प्रदान करना चाहिए। तदनन्तर द्वितीय शमित्रानुशासन करके वनस्पति याग तक समस्त कृत्य सम्पन्न करे।[86]

अभिषेक—

उपरोक्त विधि में जानु के बराबर ऊँची आसन्दी आसादित करे और उस पर कृष्णजिन बिछाकर यजमान बैठे—इस समय यजमान को बायें पैर में चाँदी तथा दाहिने पैर में सोना का सूक्ष्म रखना चाहिए[87] और वसा नामक ग्रह पात्र से आहवनीय अग्नि में वसा का होम करना चाहिये।[88] तदनन्तर सुगन्धित पदार्थ से यजमान का उबटन करके हवन से बची हुई बसा से यजमान का अभिषेक करे। इस समय में यजमान का स्पर्श अध्वर्यु समन्त्रक करता है और बाद में यजमान भी सम्पूर्ण अङ्गों का स्वयं स्पर्श करता है।[89]

ऊर्ध्वोत्थापन—

उपरोक्त प्रसङ्ग में यजमान सुश्लोक, सुमङ्गल, सत्यराजन् और सुभद्रक नामक अपने चार पुरुषों को बुलाता है। वे सब आकर आसन्दी पर बैठे हुए यजमान को ऊपर की ओर उठाते हैं, और जमीन पर मृर्गचर्म बिछाकर उस मृर्गचर्म के ऊपर पैर रखते हुए उस आसन पर बैठता है। उस समय ब्रह्मा साम मन्त्रों का गान करता है, होता शंसन करता है और अध्वर्यु प्रणव से प्रतिगर कहता हुआ होता द्वारा शास्त्र पाठ की समाप्ति होने पर अध्वर्यु तैतीसवे वसाग्रह पात्र से हवन करता है—ग्रह याग से बचे हुए शेष का सब कोई प्राणी भक्षण करें। मार्जन करता हुआ याग के शेष कृत्य को समाप्त करते हुए अवभृथ याग के लिए सपत्नीक यजमान जलाशय के प्रति प्रस्थान करते हैं।[90]

अवभृथ याग—

अवभृथ याग के लिए जाते समय ब्रह्मा साम मन्त्रों का गान करता है और जलाशय के प्रति जाते समय, वरुण के लिए पुरोडाश, आज्यस्थाली स्रुवा स्रुची, सुरामिल और पयोलिप्त पात्र शूल और धारण के लिए वस्त्र प्रभृति सामग्री साथ में लेकर जावें। पुनः आधे रास्ते पर ब्रह्मा साम गान करता है, पुनः जलाशय पास पहुँचने पर ब्रह्मा साम का गान करता है, और एकत्र की गई वस्तुओं से अवभृथ याग वहाँ पर सम्पन्न करता है और मासर कुम्भ के जल का उत्सर्ग करता है। स्नान के अनन्तर वस्त्रधारण कर यज्ञशाला में आकर आहवनीयाग्नि में यजमान, गार्हपत्य में यजमान की पत्नी समिधा का आधान करते हैं। अध्वर्यु प्रणीता विमोक प्रभृति शेष कृत्य समाप्त करता हुआ यजमान शेष विधि को समाप्त करता है।[91]

आदित्येष्टि—

प्रारम्भ की भाँति इस समय भी यजमान आदित्येष्टि करता है।[92]

मैत्रावरुण पयस्येष्टि—

आदित्येष्टि के अनन्तंर मैत्रावरुण नामक देवता के लिए पयस्येष्टि की जाती है। दोहन, पयः प्रतपन, दधि प्रक्षेप, प्रभृति करके पयस्या तैयार करते हुए प्रधान याग किया जाता है, अन्वाहोम के रूप में दक्षिणा दी जाती है और वाजिन याग को करके शेष कृत्य करता है।[93]

वायोधस्—

मैत्रावरुण पयस्याष्टि के अनन्तर वयोधस् पशुयाग करना चाहिए—इसमें देवता इन्द्र वायोधस् है पशु पुरोडाश के समय आठ कपाल का पुरोडाश पशु पुरोडाश याग करें। समस्त विधि निरूढ़ पशुबन्ध याग की भाँति होती है अन्त में सौत्रामणी याग की साङ्गता के लिए यहाँ सौ ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए।[94]

सौत्रामणी याग की प्रतीक व्यंजना

यह पहले ही बताया जा चुका है कि सौत्रामणी याग का हवि पशु है। इस पर शतपथ ब्राह्मण में एक रोचक आख्यान भी प्राप्त होता है।

इन्द्र ने त्वष्ट्रा के पुत्र को मार डाला। त्वष्ट्रा के पुत्र के मर जाने पर इन्द्र पर अभिचारात्मक प्रयोग करने के लिए सोम को लाया गया, जिसमें इन्द्र का भाग नहीं था। इन्द्र ने बल पूर्वक उस सोम रस को पी लिया और यज्ञ को अपवित्र कर वह चारों दिशाओं में घूमता रहा, जिससे इन्द्र सम्बन्धी वीर्य बह गया।

सर्वप्रथम उसके आँखों से तेज निकला, जो धूयें के रंग का था, जो आज बकरे के रूप में विद्यमान है। पलकों से निकलने वाला तेज गेहूँ का प्रतीक है। आँसू से (कुबल) कलफ विशेष दोनों नेत्रों से मेष या भेड़ के रूप में, श्लेष्मा से जौ और नाक के मल से वेर, मुख से गाय फेन से जौ और थूक से कर्कन्धू (कफ) कान से यश, दोनों स्तनों से शुक्र, जो दूध के रूप में परिणित हो गया जो पशुओं की ज्योति है। हृदय से निकला तेज साहस के रूप में अर्थात् बाज के रूप में विद्यमान है। नाभि से निकला जीवन रस सीसे के रूप में रहा। यहाँ पर लोहा चोरी का प्रतीक नहीं है। वीर्य्य से सोना, लिंग से कच्ची शराब, पृष्ठ भाग से सुरा, जो अन्न के रूप में विद्यमान है—मूत्र से निकला ओज भेड अंतडियों से निकला क्रोध व्याघ्र के प्रतीक रूप में, खून से निकला सहनशील सिंह के रूप में, भोग से निकला तेज वाजरा, त्वचा से निकला इज्जत वनस्पति, मांस से निकला शक्ति उदुम्बर, हड्डियों से न्यग्रोध, मज्जाओं से व्रीहि धान्य के प्रतीक रूप में विद्यमान है और जो भी शेष तेज बचा रहा उसको नमुचि नामक राक्षस ने हर लिया।[95]

इन्द्र की चिकित्सा—

इन्द्र ने समस्त सुरा का पान कर उस के समस्त अंगों से निकलने वाले

तेज से देवताओं को चिन्ता हुई और इन्द्र को स्वस्थ करने के लिए, ब्रह्मा के वैद्य अश्विनी कुमार से निवेदन किया, और फीस के रूप में बकरा दिया गया। सरस्वती दवाई की प्रतीक है और उसकी फीस भेड है। इतना तेज निकल जाने पर भी देवताओं ने सोचा कि इन्द्र में इतनी शक्ति है जो सांड के बराबर है, अतः इन्द्र का सांड है।

अश्विनी कुमार एवं सरस्वती के उपचार ने नमुचि नामक राक्षस द्वारा हर ली गयी समस्त शक्ति को इन्द्र में पुनः स्थापित कर दिया, और दोनों देवताओं ने इन्द्र को (सुत्रात्) अर्थात् पाप से बचाया और इसीलिए सुत्रात से सौत्रामणी हो गया। आत्मा को पाप से और मृत्यु से वचना ही सौत्रामणी याग है। इस कृत्य में तेतीस दक्षिणा दी जाती है, क्योंकि देवता भी तेतीस थे और सभी देवताओं ने मिलकर इन्द्र का इलाज किया था जो आज औषधि के प्रतीक रूप में विद्यमान है।

सुराक्रय की प्रतीक व्यंजना—सुरा क्रयादि की विधि का पहले ही वर्णन किया जा चुका है। अब उन वस्तुओं के प्रतीक का वर्णन करने का एक छोटा-सा प्रयास है।

सोम ब्राह्मण तथा अन्न का प्रतीक है। ऊन और सूत्र स्त्रियों का काम है, कर्म और पराक्रम वीर्य का प्रतीक है, अर्थात् जो स्त्रियों में नहीं होता है। ऊन और सूत्र के रूप में कही गयी वस्तुएँ खरीद कर वह यजमान में पराक्रम और वीर्य्य को स्थापित करता है।

इस तरह से सुत क्रम में खरीदी जाने वाली वस्तु तथा सुरा निर्माण हेतु मिलायी जाने वाली वस्तुओं में कहीं न कहीं प्रतीक व्यंजना दिखाई पड़ती है जो सम्पूर्ण राष्ट्र को, विश्व को और देवताओं को, छन्द के रूप में दर्शाया है। जिससे राष्ट्र और यश को प्राप्त करते हुए यजमान को बुराई से अलग करने वाला यह सौत्रामणी याग है।

इसी तरह, सुरा का पवित्रीकरण तथा निर्दिष्ट पात्रों से भी जाने वाली सुरा का ग्रहण भी ब्राह्मण ग्रन्थों ने प्रतीक के रूप में प्रतिपादन किया है। जो प्रतीक वर्तमान परिस्थिति में आज कहीं न कहीं दृष्टिगोचर होता है।

राज्ञोऽभिषेकादि की प्रतीक व्यंजना—सौत्रामणी याग के अन्त में अभिषेक भी एक विधि है। अभिषेक के द्वारा देवताओं में इन्द्र पुनः श्रेष्ठ हो गया। अतः

सौत्रामणी याग में अभिषिक्त आज का मानव भी पुनः समाज में प्रतिष्ठित होकर श्रेष्ठ हो सकता है।

अभिषेक काले मृगचर्म पर किया जाता है, काला मृगचर्म यज्ञ का प्रतीक है और उसके बाल छन्द का प्रतीक है। सम्राट् को आसन पर बैठना चाहिए, इसलिए आसन्दी पर बैठाकर अभिषेक कराया जाता है। यह चौकी उदुम्बर की होती है। उदुम्बर शक्ति का प्रतीक है। अतः शक्ति को प्रतिस्थापित करने के लिए अभिषेक करना चाहिए, और वह चौकी जानु के बराबर की होती है, और यह लोक भी जानु के बराबर ऊँचा है। इसलिए जानु के बराबर अभिषेक करता है। आसन्दी पर बैठकर किए जाने वाला चौकी राष्ट्र की प्रतीक है। राष्ट्र की समृद्धि अपरिमित है और वह चौकी मूंज से बुनी होती है—मूंज स्वयमेव यज्ञ है।

अभिषेक के समय यजमान के दोनों पैर एक उत्तर व एक दक्षिण की ओर होते है, जो दोनों लोकों में अभिषेक करता है। चौकी पर चढ़ते समय वरुण मन्त्र का प्रयोग होता है, देवताओं दा राजा वरुण होता है। अतः वरुण देव के मन्त्र से ही अभिषेक करता है। अभिषेक के समय यजमान के पैर के नीचे सोना अथवा चाँदी की स्थाली रहती है, उसे मृत्यु एवं बिजली से होने वाली अकाल मृत्यु से बचने के लिए रखा जाता है। यह अभिषेक पशुओं की वसा के अभिषेक से होता है। पशुओं की वसा अन्न की प्रतीक है जो परम अन्न से अभिषेक करता है। वसा का ग्रहपात्र पशु के खुर के समान होता है, जो खुर परस्थिति रहता है, अर्थात् प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है, तैंतीस देवताओं के मन्त्र से यह अभिषेक किया जाता है और इस समय सोम ऋचाओं से आहुति भी दी जाती है। पशुओं में भी सोलह कलाऐं विद्यमान है, जिससे श्री की प्राप्ति होती है और शेष बचे हुए हवि द्रव्य को वेंत विशेष से बने पात्र में डाल दिया जाता है। वेंत की उत्पत्ति जल से होती है और जल में समस्त देवता निवास करते हैं। अतः समस्त देवताओं से इसका अभिषेक किया जाता है। अभिषेक से पूर्व सुगन्धित उबटन से लेप किया जाता है जो सुगन्ध परमगन्ध की प्रतीक है इस अभिषेक को पश्चिमाभिमुख करना चाहिए—सर्वप्रथम अश्विन सम्बन्धी यजु से, फिर सरस्वती तथा इन्द्र के यजु से तदनन्तर अन्य देवातओं के यजु से किया जाता है। कतिपय विद्वान भूर्भुवः स्वः मन्त्र से अभिषेक करते है। क्योंकि भूर्भुवः स्वः व्याहुतियाँ रामस्त संसार की प्रतीक है। अतः रागरत रांरार रो यजगान का अभिषेक किया जाता है।

यह अभिषेक स्विष्टकृत याग के पूर्व क्रिया जाता है। स्विष्टकृत क्षत्र का प्रतीक है। अभिषेकार्थ, जानु तक, फिर नाभि तक फिर मुख तक उगते हैं, अर्थात् इस ओठ में स्थान दिलाता है। यह अभिषेक की प्रक्रिया वाजपेय याग में भी है। वाजपेय याग में इसे यजमान पर चढ़ाया जाता है, उसी प्रकार सौत्रामणी याग में आसन्दी पर चढ़ाया जाता है और अभिषेक के बाद पुन: यजमान काले मृगचर्म पर उतरता है; कालामृग चर्म यज्ञ का प्रतीक है। अत: अन्त में यज्ञ पर प्रतिष्ठित हो जाता है। गौ, आत्मा, अंग प्राण आदि में स्वयं स्थापित करते हुए इन सबकी प्राप्ति के लिए उतरता है। अर्थात् गौ पृथ्वी में स्थापित करता है क्योंकि इन दोनों के बीच में समस्त संसार है और इस समय सामगान किया जाता है। साम क्षत्रिय का प्रतीक है और साम्राज्य से साम्राज्य को प्राप्ति करता है। साम समस्त वेदों का रस है, अर्थात् रस के द्वारा-रस का अभिषेक करता है। साम का गान बृहती छन्द से करता है, आदित्य, बृहती, श्री, प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर तपता है। इस प्रकार से यजमान को भी बृहती, श्री, प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित करता है। इस सामगान से यजमान इस लोकों में कीर्ति का गुणगान करते है, निधन भी चार होते हैं, दिशाएँ भी चार है अर्थात् सब दिशाओं में यजमान को प्रतिष्ठित करते हैं। निधन में सब ऋत्विज शरीक होते हैं अर्थात् उसमें श्री को प्राप्त करते हैं।

ग्रहों से आहुति दी जाती है, और इसके देवता तैंतीस होते हैं और अच्छे धन वाले बृहस्पति उसके पुरोहित हैं, बृहस्पति ब्राह्मण का नाम है, सर्वप्रथम इस लोक के देवता से दूसरे देवताओं से अन्तरिक्ष से, द्युलोक से, सत्य से, यजुओं से, साम से, साम ऋचाओं से, ऋचा पुरोनुवाकया, पुरोनुवाक्या याज्या से, याज्या षष्टकार से अभिषेक करता है। आहुतियों से मेरी कामना पूरी करें इस तरह की प्रार्थना करते हुए ऋत्विजों के निमन्त्रण पर सुरा भक्षण करता है, क्योंकि ऋत्विक् ऋतु का प्रतीक है। सुरा भक्षण करते समय मेत लोम, त्वचा, नम्रता तथा प्रगति है। मेरी इन्धा मेरा मांस है, वसु या धन मेरी हड्डियाँ है मेरी शील मेरी मज्जा है अर्थात् जो सौत्रामणी यज्ञ करता है, इस लोक में और देवताओं में प्रवेश करता है और भक्षण के द्वारा इन लोकों को अपने पास बुलाता है जो पूर्ण शरीर तथा पूर्ण अङ्ग हो जाता है।[96]

यज्ञ शब्द की अर्थवत्ता—

वैदिक ऋषियों ने अपने जीवन की विविध समस्याओं का समाधान यज्ञ

संस्था में किया था। ऋषियों ने अपने प्रतिभा भरी प्रज्ञा के सहारे यज्ञों में उस महान रहस्य को प्राप्त कर लिया था, जो किसी भी संस्कृति तथा समाज की प्राणदात्री चेतना, नियम बद्धता, व्यवस्था, संरचनात्मकता तथा विश्वव्यापकता के द्वारा किसी समाज के मनुष्य जीवन के श्रेय और प्रेय को उपस्थित करने में समर्थ होता है। इसके विपरीत नियम-विहीनता अव्यवस्था तथा व्यक्तिगत लालसा के आस-पास धूमने वाले संकुचित मनुष्य तादात्म्य के आमुष्मिक मार्ग को भी तमसा छिन्न कर देती है। वैदिक ऋषियों ने अपनी मनन शील तथा चिन्तनशील प्रज्ञा के द्वारा अनकेता तथा एकता के मर्म को समझ लिया था। किसी भी समाज में अनेकता उसकी जीवन शक्ति को क्षीण करती है और एकता उसमें गति भरने वाली प्राण शक्ति बनती है। इस सन्दर्भ में ऋषियों ने ''एकं सत्'' दर्शन किया था। उसी परम सत् से सारा ब्रह्माण्डीय जीवन सत्ता में आभा मेधावी विप्र उसी सत् को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि तथा सुन्दर पंखों से भूषित क्षिप सुवर्ण का अभिधान देते हैं।[97]

यज्ञ में मनुष्य, देवता स्वर्ग तथा धरती का भिन्न स्थान है। यज्ञ संस्था संस्कृति का मूक स्रोत है। ऋग्वेद में कहा गया है कि यज्ञ इस सृष्टि के अस्तित्व में आने वाले जगत् की नाभि है।[98] यज्ञ से ही देवता उत्पन्न हुए। इसके अतिरिक्त गाँव के तथा जंगल के पशु उत्पन्न हुए। यज्ञ ही देवों का प्रथम धर्म था।[99] ऋषि वामदेव का कहना यह है कि हे अग्नि इस यज्ञ को तोड पाना सम्भव नहीं है। यह यज्ञ गाय, बैल, भेड़, घोड़े, नेता, मित्र, अन्न, सन्तान, सभा और वित्त से समन्वित हैं। अश्व दीर्घ तथा विस्तृत अभिप्राय की यह विशाल (आर्थिक) शक्ति है।[100]

अत: यह सिद्ध होता हैं कि भारतीयों की समाज व्यवस्था का, उनके राज्य, शासन और विधि-विधान का तथा पुराण और कलाओं का विकास भी यज्ञ संस्था के द्वारा सम्पन्न हुआ। उपनिषदों का जैसा उच्च कोटि का दर्शन भी याज्ञिकों के मनन से निर्मित हुआ।[101] वास्तव में भारतीय संस्कृति की एक भी शाखा और एक भी अंग ऐसा नहीं है, जो इतिहास की दृष्टि से वेद तथा यज्ञ से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध न होने का दावा कर पाये।[102]

वैदिक अवधारणा के अन्तर्गत धार्मिक या तात्विक दृष्टि से पुरुष का प्रमुख स्थान है। परम सत्य अथवा परमात्मा की अभिव्यक्ति करने वाले पुरुष का वर्णन

ऋग्वेद में हैं।[103] इसी पुरुष का वर्णन वाजसनेयी संहिता तथा तैत्तिरीय आरण्यक में आदित्य वर्ण पुरुष कहा है।[104] इसी को जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में परमपुरुंष तथा अतिपुरुष का अभिधान दिया गया है।[105] इसी को छान्दोग्योपनिषद् में उत्तम पुरुष बताया गया है।[106] ऋक् संहिता में इसी पुरुष का वर्णन हिरण्यगर्भ प्रजापति के रूप में किया गया है।[107]

वैदिक यज्ञों का प्रयोजन वृत्र नामक राक्षस को मारना है। अतएव अनुष्ठान से प्रत्येक स्थल पर प्रत्येक यज्ञ की विशेषतः के रूप में वृत्र विनाश को उपस्थापित करता है।[108]

इस ब्रह्माण्ड में जो भी भूत है (वींऽ है) तथा जो भाण्ट (वींकमाण्ड) है वह सब पुरुष ही है। पुरुष प्रजापति और यज्ञ एक ही है। यज्ञ में यजमान प्राप्त करता है। शतपथ ब्राह्मण यह बताता है कि पुरुष का तीन बार जन्म होता है। उसका पहला जन्म माता-पिता से होता है। दूसरा जन्म यज्ञ से होता है और जब मृत्यु के अनन्तर वह अग्नि में जलाया जाता है तब उसका तीसरा जन्म होता है। यजमान जब यज्ञ की दीक्षा ग्रहण करता है तब वह अलौकिक गर्भ में पहुँच जाता है। दीक्षित यजमान के जो भी संस्कार किए जाते हैं ये सब गर्भस्थ शिशु को चरित्र बताते है सच तो यह है कि दीक्षा में पूर्ण जीवन का समापन हो जाता है और उसके दैवी जीवन का प्रारम्भ होता है। जैमिनि का कथन है कि दीक्षित होने पर व्यक्ति मर जाता है। जब तक व्यक्ति यज्ञ नहीं करता, तब तक वस्तुतः उसका जन्म नहीं होता। यज्ञ से जन्म लेने पर ही मनुष्य का सांस्कृतिक और धार्मिक जन्म होता है। इसी कारण वेद विद्या को जात विद्या या भाववृत्त कहा गया है। इसी विद्या के मूल साधन तथा साध्य होने के कारण अग्नि को वैदिक ऋषियों ने जातवेद नाम से अभिहित किया है।

सौत्रामणी याग की अर्थवत्ता—

वैदिक यज्ञों का उद्देश्य यज्ञ से पुरुष का उत्पन्न होना है—पुरुष जिस अन्न को इस लोक में खाता है, वही अन्न परलोक में उस पुरुष को खाता है। सौत्रामणी यज्ञ ब्राह्मण यज्ञ है, क्योंकि सुरा के द्वारा इस यज्ञ को सम्पन्न किया जाता है। सुरा ब्राह्मण के लिए अभक्ष्य है।

सुरा में निभाया जाने वाला शब्द चावल पुरुष की **कोम** है, जई त्वचा, मज्जा मांस, धान ने की कपडा हड्डी, मांड मज्जा कच्ची सुरा रस, जोश उत्पन्न

करने वाली वस्तु खऊन जल वीर्य्य, पक्की सुरा मूत्र अन्य मैल तथा पेट का मैल है। इन्द्र का हृदय पुरोडाश, यकृत सविता का पुरोडाश, कोम वरुण का पुरोडाश, अश्वत्थ उदुम्बर के पात्र गुर्दे, न्यग्रोध पात्र पुरुष का पित्त, अंतडियां उपपात्र, गुदा स्येन के दो पांख, चौकी नाभि, धडा चूतड, सौधिन्द्र वाला वर्तन उपस्थ इन्द्रिय सतपात्र मुख, धन्ना जीभ, चाप वायु इन्द्रिय पूँछ का बाल है।

अश्विनो का पशु, इस यज्ञ का अङ्ग है, सरस्वती का पशु उस पुरुष का धड है। इन्द्र का वृषभ इस पुरुष का रूप है। गायें भी पुरुष का रूप है, स्वर्ण उस पुरुष की आयु स्वर्ण सौ यण होता है। इसलिए पुरुष की आयु सौ वर्ष की होती है।

गेहूँ और कुवल धान्य विशेष सत्तु नेत्र के पामक सरस्वती के दो ग्रह इसके नाक के नथुने। उपवाक् सत्तू और बेर के सत्तू पुरुष के नाम के बाल इन्द्र के दोनों ग्रह इसके कान जो तथा कर्कन्धु के सत्तू कान और भौहें के बाल है। वृक् का लोम उपस्थ के तथा नीचे का लोम है, व्याघ्र का लोभ छाती और कांख का बाल है और सिंह का लोम केश और दाढ़ी मूँछ है।

इस यज्ञ के तीन पशु है। पुरुष के भी तीन भाग होते है, परलोक में वह इस शरीर का लाभ करता है। अर्थात् अश्विन के पशुद्वारा नाभि के नीचे का शरीर भाग का, सरस्वती के पशु से वह पुरुष जो नाभि के ऊपर सिर के नीचे है। इन्द्र के पशु से सिर, रूप और देवता दोनों के विचार से वह अपने मृत्यु को छुडा कर अमृत को प्राप्त करता है। तीनों पुरोडाश पुरुष की आयु है और उस आयु का तीन भाग करके अमरत्व को प्राप्त करता है।

ग्रह छह हैं—पुरुष के छह सिर के छः प्राण है। अश्विन ग्रह से आँख का प्राण, सरस्वती ग्रह से नाक के नथुने का प्राण इन्द्र के दो ग्रह से कान के दो प्राण, इस प्रकार रूप और देवता दोनों के विचार से शरीर को मृत्यु को छुडाकर अमर बनाता है। भाज्या और पुरोनुवाक्या एक ही देवता के प्राणों की सिद्ध सीमा बनाये रखने के लिए और ये दोनों प्राण तथा उदान की प्रतीक है। सौत्रामणी पुरुष का शरीर है यजमान, मन या वाक् है धड वेदी है, प्रजा उत्तर वेदी, पशुवर्हि अंग ऋत्विज, हड्डियाँ ईंधन, मज्जा घी, अग्नि मुख आहुतियाँ अन्न आयु संस्था, इसलिए जो सौत्रामणी यज्ञ करता है वह आयुवान् होता है। पुरुष के आँखें अश्विन कुमार है, काला भाग इन्द्र का सफेद भाग सरस्वती का। इस तरह सौत्रामणी

यज्ञ के समय समस्त अंगों को पुरुष में स्थापित कर लेता है। और वह पुरुष छद्म इन्द्र का है, यकृत सविता का लोम, वरुण का इन्द्र के पुरोडाश के साथ अपने में इक्टठा कर लेता है। सौत्रामणी भाग में उन सबको पुरुष ही धारण कर लेता है।[109]

सौत्रामणी याग स्वयं पुरुष का शरीर है। इसलिए पुरुष निश्चित है। इन्द्र का यह लोक है। लोक अनिरुक्त होता है। सौत्रामणी पुरुष का शरीर इन्द्र का पशु है—लोक और पशु इस पुरुष की दो भुजाएें हैं। यही सौत्रामणी याग की अर्थवत्ता है।[110]

निष्कर्ष—

सम्प्रति मनुष्य का जीवन बहुत जटिल हो गया है। विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों के बीच स्थिर रहकर भी मनुष्य बहुत पीड़ित है। अतएव यह सोचा जा सकता है कि प्राक् शुक्रात्, प्राग् ऐतिहासिक, प्राग् साहित्यिक् अथवा प्राग् आधुनिक मनुष्य के जीवन किन समस्याओं से बुझता रहा होगा। इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। प्रत्येक प्रज्ञावान् व्यक्ति समस्याओं के निराकरण का समाधान ढूढंता है। जैसे—आज विविध समस्याओं का समाधान ढूढं रहा है। भारत की आर्ष प्रज्ञा की धरतो वैदिक ऋषियों ने उस ऋत तथा सत्य का अनुसन्धान किया था, जिसके कारण असत् सता में आता है। मर्त्य अमृत बनता है तथा अन्धकार घटकर सामने प्रकाश की राशि लहरा देता है। यह समाधान उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ यज्ञ के कारण है। जिसके द्वारा "यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे" की कल्पना साकार का मूल कारण सौत्रामणी यज्ञ है।



सन्दर्भ

1. "यज्ञ" शब्द की व्युत्पत्ति के लिए द्रष्टव्य भानुजि दीक्षित, अमरकोश, 2.7.19, सायण मा.धा.वृ0 1.724, पा. अं 3.3.90.
2. युधिष्ठिर मीमांसक, पृ. 838, 839

3. प्रो. विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी की अग्निचयन पुस्तक से।
4. शतपथ ब्राह्मण 1.9.1.3 'देवान्वा एष प्रीणाति योयजतेऽएतेन यज्ञेनऽग्निर्भिरिव त्वद्‌यजुर्भिरिव त्वदाहुतिरिवत्वत्स देवान् प्रीत्वा तेष्वपित्वी भवति।
5. ऐ.ब्रा. 10.1.22 ऋङ्मयो यजुर्मय: साममयो वेदमयो ब्रह्ममयोऽमृतमय: सम्भूय अप्येति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेतेन यज्ञक्रतुना यजते।
6. लक्ष्मण शास्त्री जोशी वैदिक संस्कृति का विकास।
7. ऋ.सं. 10.90
8. वही 10.90.16 यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा:, तु.अं सं. 7.501, वाज. सं. 31.16, तै.सं. 3.5.11.5, मै.सं. 4.10.3, का.सं. 15.12 आदि।
9. अयं यज्ञो भुवनस्य नाभि: ऋ.सं. 1.164.35।
10. पार्सन्स् और शिल्ज्, टुवर्डस् ए जनरल थियरी आफ एकरान्राज, हार्पर टार्थ बुक्स् न्यूयार्क, 1962 पृ. 4।
11. इमाइल् दुर्खीम् दी एलीमेन्टरी फार्मस् ऑफ दी रिलीजस लाइफ्-कालियर् बुक्स् न्यूयार्क, 1961 पृ. 24
12. श.ब्रा. 11.2.1.1 त्रिर्ह वै पुरुषो जायते 1 जै.उ.ब्रा. 3.3.1.
13. खोंदा अध्वर, ज.वि.वे.रि.ई.।
14. ऐ.ब्रा. 1.13—यज्ञो वै सुतर्मा नौ:। सुतर्मा का अर्थ है अच्छी तरह से चमडे से मढ़ी हुई।
15. वाज.सं. 1.5 इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।
16. ऋ.सं. 3.55.3 समिद्धेऽग्नौ ऋतमिद् वदेम।
17. श.ब्रा. 10.2.6.13-14 द्र. आनन्द कुमार स्वामी, आत्मयज्ञ: सैल्फ सैक्रीफाइस्, से.पे. भाग-2 पृ. 108.
18. श.ब्रा. 1.7.1.5 यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म, तै.ब्रा. 3.2.1.4, द्र.वा.सं. 1.1, महीधर भाष्य 1.1
19. महीधर भाष्य वा.सं. 1.1 चतुर्विधं कर्म।

    अप्रशस्तम्, प्रशस्तं, श्रेष्ठं, श्रेष्ठतमश्चेति—यज्ञरूपं श्रेष्ठतममिति।
20. लक्ष्मण शास्त्री जोशी-वैदिक संस्कृति का विकास
21. तोशिओ काजमा ज.ई.बु. 11 जनवरी 1, पृ. 73, पृ. 315-319, परफैक्शन् ऑफ् लाइफ इन् दि ब्राह्मणाज् दि थॉट ऑफ अग्निचयन।

22. युधिष्ठिर मीमांसक जैमिनीय शाबर भाष्य पृ. 90, तै.सं.पृ. 75
23. युधिष्ठिर मीमांसक जैमिनीय शा. भा.पृ. 189 नित्ययज्ञक्रिया पुरुषस्य श्रेयोऽत्रिव्यनक्ति। तस्यैव अक्रियातस्य, क्रिया प्रत्यवायं सम्पादयति। तु. भवभूति 3.21 प्र.अ. श्लोक सं. 6
किं त्वनुष्ठानं नित्यत्वं स्वतन्त्र्यवकर्षति।
संकटाह्यातिग्नीनां प्रत्यवायै गृहस्थता। मनुस्मृति 30/219
24. तै.सं. भट्ट भाष्कर भाष्य पृ. 6
25. प्रतिनियत-निमित्तत्वात्, वही।
26. वही. 2.2.2 यस्य गृहान् दहत्यग्नये सोमदेवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत् इत्यादि नैमित्तिकम्।
27. भट्ट भाष्कर सायण भाष्य।
28. चित्रायां यजते पशुकाम:—इत्यादि काम्यम्।
29. जै.मी.शा. भाष्य पृ. 89, श्रौतयज्ञमीमांसा पृ. 5
30. डॉ. सूर्यकान्त-वै.को. पृ. 391-392, उ.पा. पृ. 2.14, 3.33 आ. गृ. 2.4.11 आप.गृ. 9.1
31. वही।
32. का.श्रौ.भू.पृ. 32
33. देवतोद्देशेन द्रव्योत्याग: ''तु.का.श्रौ.प. 1.2 तु.
34. हि0 ऑफ् धर्मशास्त्र पृ0 1133,
35. जै.मी. 211 भाष्य भूमिका पृ. 90
36. वही
37. वही
38. ऐ.ब्रा. 2.3.3 स एष यज्ञ: पञ्चविधौ।
39. अथाप्येष प्रक्रीडित: श्लोक: प्रत्यभिवदति—सप्तसुत्या: सप्त च पाकयज्ञा:। इति। गो.ब्रा. 1.5.25,
40. सप्तसुत्या: सप्त च पाकयज्ञा: हविर्यज्ञा: सप्त, तथैकविंशति:। सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपि यन्ति नूतना मानृषयो सृजन्ति च सृष्टा: पुराणै: गो.ब्रा. 1.5.25।
41. गो.ब्रा. 1.5.23।

42. गौ.ध.सू. 8.18, आप.द.पू.प्र. 138, धूर्तस्वामी एवं रुद्रदत्त भाष्य वै. को. पृ. 391 बौ.श्रौ.सू. 24.4
43. प्रकर्षेण अङ्गोपदेश: यत्र क्रियते स प्रकृति:, तै.स. भाष्य भूमिका—पृ. 8, वेद भाष्य भूमिका पृ. 6
44. जै.मी.शा.पृ. 93 युधिष्ठिर मीमांसक तं.सं. वही सायण भाष्य-विकृतिषु विशेषाङ्गमात्रस्य उपदेश: क्रियते। अङ्गानन्तराणि तु प्रकृते: अतिदृश्यति। उपदेशस्य प्रकर्षाभाव:, आप.प.सू. पृ. 120-121
45. विशेष के लिए आप. परिभाषा सूत्र 3/36
46. सुत्रामा गोत्रभिद्धजीत्य: सू. 42 अमरकोष
47. कात्यायन श्रौत सूत्र भूमिका
48. उभयं सौत्रामणीविटश्च पशुबन्धश्च श.ब्रा. 2.3.3.12
49. तै.ब्रा. 3.12.5.12 अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत्, मैत्रावरुण्या वा।
50. द्वे सौत्रामणी कोकिली चरकसौत्रामणी च द्रा.श्रौ. 13.3.14 बौ.श्रौ.आप.श्रौ.सू.
51. श.ब्रा. 12.7.1.14, सौत्रामणीत्वं त्रायते मृत्योरात्मानमप पाप्मानं हते।
52. श.ब्रा. 12.7.3.4,
"यो भातृव्यवान्न स्यात्स सौत्रामण्या यजेत इत्यादि।
53. श.ब्रा. 12.8.2.1
54. श.ब्रा. 12.8.2.2
55. श.ब्रा. 12.8.3.1
56. ब्राह्मणयज्ञऽएव यत् सौत्रामणी ऐन्द्रो वा एष यज्ञो यत् सौत्रामणी—श.ब्रा. 12.9.1.1 तथा 12.8.2.24,
57. अश्विन ग्नोहोऽज:। सरस्वती मेषी। इन्द्राय सुत्राम्ण ऋषभ:। शां.श्रौ. 15.15.2-4 तु.श.ब्रा. 12.7.1.11-13
58. आपस्तम्ब परिशिष्ट: 19 वांसूत्र
59. ब्रह्महोत्रध्वर्युमैत्रावरुणप्रतिप्रस्थाताग्रीध्र: षड् ऋत्विजो वृत्वा तु.श.ब्रा. 12.4.1.29
60. त्रिपशुदेशस्य दक्षिणत ऐन्द्र: पशु: कर्तव्य: का.श्रौ. सौत्रामंणीयाम प्रकरण
61. निरूढपशुबन्धयागवत्-देव यागपद्धति पृ. 612।

62. पशुदेशस्य पश्च्चाद्देशे आदित्येष्टि:, चरुपश्वोर्विपर्यासमेके का.श्रौ. 19.1.17,
63. आदित्यचरुं यक्ष्यमाणो निर्वपति श.ब्रा. 12.4.4.11,
64. वत्सं पूर्वस्यां ददाति मातरमुत्तरस्याम् श.ब्रा. 12.4.4.11
65. सुरा सोमविक्रयिण: का.श्रौ. 19.1.18
66. सीसेन शब्दक्रम; द्र.का.श्रौ. सौत्रमणी याग प्रकरण
67. तोक्मानामूर्णाभि:, का.श्रौ. 19.1.18
68. लाजानां सूत्रै: का.श्रौ. 19.1.8 तु.श.ब्रा. 12.7.2.10-12
69. दक्षिणेन छत्वा का.श्रौ. 19.1.20
70. सौत्रामण्यां सुराकर्म स्वाव्राजमासीत्, द्रा.श्रौ. 13.4.5,
71. अश्विभ्यां, सरस्वत्यै इन्द्राय सुत्राम्ने—देव याग पद्धति पृ. 614।
72. ओदनौ चूर्णमासरै: संसृज्य,
73. ओदनौ चूर्णमासरै: संसृज्य का.श्रौ. 19.1.21
74. दक्षिणेन हुत्वा नग्नहुचूर्णानि कृत्वा ताश्च व्रीहिश्यामाकादैनयो: पृथगाचामौ निषिच्च य संसृज्य निदधाति तन्मासरम् त्रिरात्रं निदधाति का.श्रौ. 11.1.22।
75. एकस्या: पयसापाकृतेनाश्विनेन परिषिञ्चति, एकस्यै दुग्धेन प्रथमां रात्रिं परिषिञ्चति द्वयोर्दुग्धेन द्वितीयाम्। का.श्रौ. 19.1.22, श.ब्रा. 12.4.1.11
76. द्वे वेदी भवत:। द्वे वेव लोकावित्याहुर्देवलोकश्चैव श.ब्रा. 12.3.4.7, वेदी मिर्मीते वरुणप्रघासवत् का.श्रौ. 19.2।
77. उत्तरेऽग्नौ पशुभि: पुरोडाशै: पयोग्रहैश्चरन्ति। श.ब्रा. 12.4.5.14,
78. ऐन्द्रेणोत्तमे तिसृणाम् का.श्रौ. 19.1.26,
79. खरमपरेण चर्मावधाय परिस्त्रुतमासिच्य कारोततरमवदधाति पूत्तमादत्ते का.श्रौ. 19.2.7
80. ब्रह्म वैदकाशो ब्रहमणैव स्वर्गलोकं जयति। श.ब्रा. 12.3.3.11, नु. का औ. 19.2.9, सते पुनाति गोऽश्वावालवालेन
81. व्यतिषक्तान् गृहणाति श.ब्रा. 12.3.4.15,
82. खरयो: सादयन् का.औ. 19.2.16,
83. सुराग्रहान् भीनाति का.औ. 19.2.25
84. आश्वत्थं पात्रं भ ने, प्राणो वै पयोग्रहा:। शरीरमेव प्राणै: सन्दधाति श.ब्रा.

12.3.3. 14-16, पावयतोऽन्त:पात्येश्येन पात्र्याम् का.औ. 19.2.29 पयोग्रहसम्मर्शनम्। का औ. 19.2.31

85. त्रय पशव: भवन्ति। त्रयो वा इमे लोका इमानेव तैर्लोकानवरुन्धे श.ब्रा. 12.9.1.32, आश्विनोऽजो धूम्र:, सारस्वतो मेष: ऐन्द्र ऋषभ: काऔ0 19.3.2-4,

86. यदत्रेति सौरान् भक्षयन्ति यथाभक्षितं प्राचीनावीतिनो दक्षिणत:। प्राणभक्षमेके। परिक्रीतो वा वैश्यराजन्ययोरन्यतर: का.श्रौ. 19.3.19,

87. अङ्गारेषु वा वहिष्परिधि दक्षिणतो जुहोत्याश्विनमुत्तर-मध्यमे सारस्वतमैन्द्रं दक्षिणे पितृभ्य इति प्रतिमन्त्रम्। का.औ. 19.3.20

सर्व मधपयस् आप.ध.सू. 1.5.21, तु.वै.सू. 30.11, क.सं. 12.12, तै.ब्रा. 1.8.6,

88. शतवितृष्णां बाल पवित्र हिरण्याल्यन्तर्धाय नवचं वाचयति। सोयतिपूर्तिश्चेति। यजमान जुहोति चात्वाले मार्जयन्ते सपत्नीका हिरण्यमर्न्तधाय। का.श्रौ. 19.3.23-24, 25, 26, 27, 28, 29, 30 तु.श.ब्रा. 11.3.5.20

89. पशुपुरोडाशान्निर्वपत्यैन्द्रं सावित्रं वारुणं दशकपालम्। त्रयस्त्रिंशतं दक्षिण ददात्यनुशिशुं वऽवधेनुम्। शमित्रानुशासन प्रभृति वनस्पत्यन्तं कृता। का.श्रौ. 19.4.1.6,

90. का.श्रौ. 19.4.1-6; कृष्णाजिनमस्यामास्तृणाति, तस्मिन्नास्ते यजमान: पादयो रुक्मा उपास्यति राजतं सव्ये सौवर्ण शिरस्ये के का.श्रौ. 19.4.10-11।

91. त्रयस्त्रिंशद् ग्रहा भवन्ति त्रयस्त्रिंशद्वै सर्वा देवता: सर्वाभिरेवैनमेतद् देवताभिर-भिषिञ्चति। श.ब्रा. 12.4.2.13,

92. 1. सर्वसुरभ्युन्मुदितम् श्रेषैरभिषिञ्चति,

2. यजमानमालभते कोऽसीति।

3. अङ्गानि चालभते। का.श्रौ. 19.4.19-21,

93. सुश्लोकेत्यालब्ध:, उद्यच्छन्त्येनम्। कृष्णाजिनेऽवरोहति। ततो ब्रह्मा साम गायति, आस्ते प्रतिगरिष्यन्। त्रयो देवा इति शस्त्रान्ते जुहोति। शेपमृत्विण: प्राणभक्षं भक्षयन्ति। वार्हहोमात् कृत्वा। का.श्रौ. 19.4.21-23, 11.5.7-11, देवयाग पद्धति पृ. 632

94. परि स्रुक क्षीरलिप्तान्यादाय।
आशूलामिमन्त्रणात्कृत्वोदकधिष्ठान प्रभृत्यावभृथेष्टि:
मासर कुम्भं प्लावयति। पूर्ववन्यज्जनम्।
अवभृथवत्स्नात्वा वस्त्रोपासनम्।
समिधमाहवनीयेऽभ्यादधाति। का.श्रौ. 19.5.11-19
95. आदित्येष्टि पूर्ववत् देव, याग-पद्धति पृ. 635
96. पयस्या मैत्रावरुणी का.श्रौ. 19.5.21
97. पशुरिन्द्राय पयोधसे का.श्रौ. 19.5.22,
98. श.ब्रा. 12.7.1.1-14,
99. श.ब्रा. 12.7.1.1-14,
100. श.ब्रा. 12.8.3.1-31,
101. ऋ.सं. 1.164.46, इन्द्रमित्रं, वरुणमग्निमाहुरथोदिव्य: सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सत् विप्रा बहुधा वदत्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु:। तु.अ.सं. 9.10.28, ऋक् विधान 25.7, निरुक्त 18.14.1, बृहद्देवता 4.42,
102. ऋ.सं. 1.1.164.35, तु. अ.सं. 9.10.14, वा.सं. 23.62 अयं यज्ञो भुवनस्य नाभि:,
103. ऋ.सं. 10.90.16 यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् तु.अं.सं. 7.5.1, वा.सं. 31.16 तै.सं. 3.5.11.5, का.सं. 1.5.12 मै.स. 4.10.3
104. ऋ.सं. 4.2.5 तु.तै.सं. 1.6.6.4, का.स. 5.6 मै.स. 1-4,
105. वी.के. चट्टोपाध्याय उपनिषदस् एण्ड वैदिक रिचुवलस् रिव्यू 154 (3 मार्च, 1960 पृ. 212 कलकत्ता युनिवरसिटी।)
106. लक्ष्मण शास्त्री जोशी-वैदिक संस्कृति का विकास पृ. 42,
107. ऋ.स. 10.90,
108. वा.सं. 31.18 आदित्यवर्णस्तमस: परस्तात्। तु.तै.आ. 3.12 श्वेताश्वतर उपनिषद् 3.8,
109. जै.ब्रा. 1.8.3,
110. श.ब्रा. 14.7.1.3, तै.आ. 30.4.3.2,
111. ऋ.स. 10.121.1 हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत् वा.स. 32.1

112. श.ब्रा. 1.6.4.12, श.ब्रा. 11.1.6.21-28

113. ऋ.स. 10.902 पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।

114. श.ब्रा. पुरुषो वै. यज्ञः 1.3.2.1, प्रजापतिर्वै यज्ञः। 1.1.13,

115. श.ब्रा. 11.2.1.1,

116. श.ब्रा. 3.1.2.4, तै.सं.ब्रा. 6.1.2.4,

117. जै.उ.ब्रा. खोंदा-भेंज एण्ड् कान्स्टीच्यूट् अध्याय 10,

118. ऋ.सं. 10.71.11, आनन्द कुमार स्वामी, ए न्यू एप्रेम् इन् दी वेदाज् सुजाक् एण्ड कम्पनी—लन्दन 1932 पृ. 52, बृहद्देवता 2.120,

119. श.ब्रा. 12.9.1.1 से 17,

120. श.ब्रा. 12.9.2.15-16



3

सौत्रामणीयज्ञ

डॉ. जगन्नाथ गुरागाई
धर्मोपदेशक, भारतीय सेना विभाग,
9/97, गोरखा राईफल्स, C/o 56, एपीओ

श्रुति में वैदिक कर्म पाँच भागों में विभक्त है। ''स एष यज्ञ: पञ्चविधोऽग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशु:, सोम:'' (ऐ.ब्रा.) अर्थात् यज्ञ पाँच प्रकार का है—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग, किन्तु स्मृति में औपासनहोम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिश्राद्ध, श्रवणा, शूलगव ये सात पाकयज्ञ तथा अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञ, दर्विहोमादि—ये सात हविर्यज्ञ—संस्थायें हैं एवं अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम—ये सात सोम-संस्थायें निर्दिष्ट हैं।[1] इन सब श्रौत और स्मार्त यज्ञों को मिलाकर कुल इक्कीस यज्ञ संस्थाएँ होती हैं।

इनमें सात पाक यज्ञ स्मार्त हैं। इनका स्मृतियों में तथा गृह्यसूत्रों में निरूपण किया गया है। पूर्वोक्त यज्ञों में जो स्मार्त यज्ञ हैं, उनका अनुष्ठान स्मार्त अग्नि में वही सपत्नीक पुरुष कर सकता है, जिसने स्मार्त अग्नि का आधान किया हो।

स्मार्त अग्नि का आधानकाल विवाह के समय अथवा पैतृक सम्पत्ति के विभाग के समय नियत है।[2] गृह्य आवसथ्य और औपासन ये स्मार्त अग्नि के पर्यायवाची शब्द हैं। यदि उपर्युक्त समय किसी कारणवश बीत गया तो भी प्रायश्चित्त कर व्यक्ति अग्न्याधान कर सकता है। अनग्नीक पिता का पुत्र स्मार्त अग्नि ग्रहण कर सकता है।[3] अग्नि का ग्रहण आधान द्वारा ही होता है। अत: कहा गया है—''वसन्ते

ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्यो, वर्षासु वैश्य:'' इत्यादि वाक्यों के द्वारा निर्दिष्ट ऋतुओं में तत्तद् वर्णावलम्बियों को अमावस्या के दिन श्रौत अग्नि का आधान कर लेना चाहिए।[4] उसके बाद ही त्रैवर्णिक व्यक्ति श्रौत यज्ञों का अधिकारी बनता है। उक्त समय में गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि और सभ्याग्नि का तत्तद् काल में विहित कर्म विशेष के द्वारा विविध आयतनों में समन्त्रक आधान करने से श्रौत यज्ञों की सिद्धि होती है। श्रुति ने श्रेष्ठतमकर्म यज्ञ को ही माना है—**'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।'**

यज्ञ शब्द देवपूजा, संगतिकरण एवं दानार्थक यज् धातु से **'यज याच यत विच्छ प्रच्छ रक्षो नङ्'**[5] इस पाणिनीय सूत्र से नङ् प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है। यज्ञ में देवताओं का पूजन, देवकल्प, ऋषि, महर्षि एवं विद्वानों का संगतिकरण तथा दानादिकों का सम्पादन होता है। यज्ञ शब्द का व्युत्पत्ति जन्य अर्थ निम्नलिखित हो सकता है।

1. 'इज्यन्त देवा अनेनेति यज्ञ:। 2. यजनं इन्द्रादि देवानां सत्कारभावनं यज्ञ:। 3. इज्यन्ते संगतिक्रियन्ते निमन्त्र्यन्ते विश्वकल्याणाय भ्रामका: महान्तो विद्वांसो वैदिकशिरोमणय: व्याख्यानरत्नाकरा: अस्मिन्निति यज्ञ:। 4. येन सदनुष्ठानेन आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकतापत्रयोन्मूलनं सुकरं स्यात् तद् यज्ञ पदाभिधेयम्।[6] 5. यत् प्रक्षेपप्रधानो देवतोद्देश्यपूर्वको द्रव्यत्यागोऽनुष्ठीयते स: यागपदार्थ:।[7] अर्थात् त्रिविध ताप-शमन के उद्देश्य से निर्दिष्ट विधि तथा प्रिय खाद्य पेय पदार्थों के दान तथा देवताओं, देवकल्पों, ऋषियों और विद्वानों का ससम्मान यशोगान किया जाता है, जिस कर्म विशेष में, उसे यज्ञ कहते हैं।

इन्द्र के निमित्त जो यज्ञ किया जाता है, उसे ''सौत्रामणी'' कहते हैं। 'सौत्रामणी इन्द्र सम्बन्धी पशुयाग है। 'सुत्राम्ण: इयं सौत्रामणी इष्टि: 'सुत्रामा इन्द्रो देवता अस्या सुत्रामन्' इस सुत्रामन् शब्द से अण् तथा ङीप् प्रत्यय लगाने पर सौत्रामणी शब्द बनता है। अर्थात् सुत्रामा = इन्द्र देवता है जिस इष्टि = यज्ञ विशेष का उसे सौत्रामणी यज्ञ कहते हैं।

यह यज्ञ दो प्रकार का है। स्वतन्त्र और दूसरे यागों का अङ्गभूत। अग्निचयन के अनन्तर चयनाङ्ग के रूप में अनुष्ठीयमान सौत्रामणी अग्निचयन और सोमयाग का अंगभूत है। दूसरी भी एक चरण सौत्रामणी है, जो राजसूय यज्ञ की अंगभूता है।[8] यह सौत्रामणी यज्ञ नित्य, नैमित्तिक और काम्य के भेद से तीन तरह का

है। उनमें फल के उद्देश्य के बिना जो विहित है, वह नित्य है एवं हविर्यज्ञ के अन्तर्गत आता है। उसी का यदि ऋद्धि रूप फल के उद्देश्य से विधान किया जाये तो वह काम्य हो जाता है। सोम के वमन आदि निमित्त उत्पन्न होने पर तदनन्तर अनुष्ठेय रूप से विहित सौत्रामणी नैमित्तिक है।[9] स्वतन्त्र सौत्रामणी में केवल ब्राह्मण का ही अधिकार है। अंगभूत सौत्रामणी में क्षत्रिय, वैश्य भी अधिकारी है। इसमें तीन पशु होते हैं—बकरा, भेड़ और वृषभ। देवता क्रमशः दो अश्विनी कुमार, सरस्वती और इन्द्र हैं। इसी पशु-समूह की सौत्रामणी संज्ञा है। दूसरी शाखाओं में यही इन्द्र देवता सुत्रामा नाम से पुकारा गया है। इसी तीन पशुवाली सौत्रामणी को आपस्तंब नित्य कहते हैं। दूसरी भी एक कौकिल सौत्रामणी है, जिसमें पाँच पशु नित्य हैं। उसका भी विधान मिलता है। उसमें पहला पशु इन्द्र का है और अन्तिम पशु वयोधा देवता का। इसी कौकिल सौत्रामणी को हमारे आचार्यों ने प्रमुख माना है। इससे यह प्रतीत होता है कि जहाँ आपस्तंबों की तीन पशुवाली सौत्रामणी नित्य है, वहीं माध्यन्दिनियों में पाँच पशुवाली सौत्रामणी नित्य है। उसमें पहले आदित्य का चरु, तदनन्तर इन्द्र का पशु होता है। अथवा विपरीत रूप से भी इसका अनुष्ठान होता है। याग चार दिनों में अनुष्ठित होता है। इसमें अध्वर्यु ब्रह्मा, होता, अग्नीत्, प्रतिप्रस्थाता और मैत्रावरुण ये 6 ऋत्विक् होते हैं। इसमें तीन पयोग्रह और तीन ही सुराग्रह होते हैं। ग्रहों के देवता दो अश्विनी कुमार, सरस्वती, इन्द्र और सुत्रामा। इस यज्ञ में होम के लिये प्रयोग के मध्य में सुरा भी बनायी जाती है। सुरा बनाने का उपक्रम इस प्रकार है—अन्तपात्य नामक स्थान पर गो चर्म में सीसे से शष्प, ऊन से तोक्म, सूत से लाजा, किसी द्रव्य विशेष से नग्नङ सोम, सुरा विक्रयी अथवा नपुंसक व्यक्ति से खरीद कर रखे। यहाँ उगे हुए धान, शष्प शब्द से अंकुरित जौ, तोक्म एवं लाजा शब्द से भुजा हुआ धान जाने जाते हैं। सर्जत्वक्, त्रिफला, सोंठ, पुनर्नवा चतुर्जातक, पिप्पली, गजपिप्पली, वंशलोचन, वृहच्छत्रा, चित्रक, इन्द्रवारुणी अश्वगन्धा, धान्याक, यवानी, दो जीरा, दो हरिद्रा, अंकुरित जौ और अंकुरित धान के संमिश्रण को नग्नहु कहा जाता है।[10] इन वस्तुओं को दक्षिण द्वार से मण्डप में ले जाकर दर्शपौर्णमास के समान कूटकर चूर्ण बनाया जाता है। अनन्तर धान और शामा को बहुत सारे जल में खौलाया जाता है। पक जाने के बाद उन दोनों धानों के गरम अवशिष्ट जल को अलग-अलग पात्रों में डालकर शष्प, तोक्म, लाजा, नग्नहु के चूर्णों को

डालकर रख दिया जाता है। धान और शामा के चूर्ण मिश्रित जल को मासर बनाने के बाद व्रीहि शामा के अदिनभूत चरू में चारों चूर्णों को मिलाकर तीन रात तक यज्ञशाला के नैऋत्य कोण में गड्ढा खोद कर रख देते हैं। चूर्ण को मिलाने की विधि इस प्रकार है—शष्प तोक्म लाजा चूर्णों को तीन हिस्सों में बाँटे। तृतीयांश को पुन: दो भाग कर आचामों में डाल दे। फिर नग्नहु चूर्ण को दो भाग कर आधे एक भाग को पुन: दो हिस्सों में बाँट कर एक-एक हिस्सा उक्त दोनों आचामों में डाल दे। इस प्रकार चूर्ण संसृष्ट आचाम की मासर संज्ञा होती है। उसके बाद शष्प तोक्म लाजा चूर्णों के द्वितीया तृतीयांश को दो हिस्सों में बाँटकर एक-एक हिस्सा व्रीहि शामा के ओदनों में डाले। नग्नहु चूर्ण के द्वितीयार्ध को द्विधा विभक्त कर दोनों ओदनों में डाले। इसके बाद दोनों अदिनों को, एक ही पात्र में रखकर दोनों आयामों को मिला दे। अनन्तर 'स्वाद्वीन्त्वा' और 'अ शुना' इन दो मन्त्रों से चूर्ण मासरों में दोनों ओदनों को आलोडित कर मिलावे। इसके बाद तीन रात तक उक्त स्थान पर रखे। शष्प तोक्म लाजा चूर्णों के तृतीयांशों को प्रतिदिन सुरा में निवाप करने के लिये रखे।[11]

सौत्रामणी यज्ञ के पहले दिन द्वादशी को प्रात:काल अग्निहोत्र हवन करके अदिति देवता का चरू अनुष्ठेय होता है। उसका इन्द्र सम्बन्धी पशु के साथ क्रम में विकल्प है—इन्द्र सम्बन्धी पशु का अनुष्ठान कर चरू का अनुष्ठान करना चाहिये। अथवा चरू का अनुष्ठान कर इन्द्र सम्बन्धी पशु का अनुष्ठान करना चाहिये। इस चरू का अन्त में भी अनुष्ठान करना चाहिये। तीन पशुओं के स्थान से दक्षिण की ओर इन्द्र सम्बन्धी पशु का अनुष्ठान होता है।

सायंकालिक होम के बाद 'अश्विभ्यामपाकरोमि' कहकर हाथ से गौ का स्पर्श करके एक को दूह कर उसके दूध से अध्वर्यु सुरा का सिञ्चन करता है और रक्षित शष्प चूर्णों का तृतीयांश सुरा भाण्ड में छोड़ता है। दूसरे दिन निशान्त में अर्थात् प्रात:काल 'सरस्वत्या अपाकरोमि' कह कर दो गौओं को उसी प्रकार दूहकर सुरा का सिञ्चन करता है और तोक्म चूर्ण का तृतीयांश सुरा भाण्ड में डालता है। तीसरे दिन रात्रि में 'इन्द्राय सुत्राम्णेऽपाकरोमि' कहते हुए तीन गौओं को पूर्ववत् दूहकर उस दूध से सुरा सिञ्चन कर लाजा चूर्ण के तृतीयांश को उक्त भाण्ड में डालता है। 'परीतोषिञ्चत' इसी मन्त्र से तीनों बार सुरा सिञ्चन किया जाता है।[12] अनन्तर सुरा को गौ अश्व वालों की पवित्री से पलाश पत्र में छानता

है, अजामेष लोम निर्मित पवित्री से उत्तर की ओर दूध छानता है।[13] अनन्तर पयोग्रह पात्र एवं सुराग्रह पात्र में डालकर तत्तद् देवताओं को उसकी आहुति दी जाती है। हुतशेष भक्षण किया जाता है और 4 दिन तक अग्निहोत्र होम चलता है। यज्ञ के अन्तिम दिन अवभृथेष्टि की जाती है। इसमें पशु एवं पुरोडाश का निर्वपन होता है।[14] अनन्तर ऋत्विजों को सवत्सा धेनू और वडवा दक्षिणा में प्रदान की जाती है[15] अनन्तर वसाहोम, अवशेष प्राशन या अवनयन, अवभृथ स्नान[16], मासर कुम्भ का जल में प्लावन[17] और आहवनीय अग्नि का उपस्थान कर के यज्ञ का समापन होता है।

राजसूयान्तर्गत तीन पशुवाली चरण सौत्रामणी कार्तिक पूर्णिमा को होती है। इसकी दक्षिणा अवि, नपुंसक, या रथवाह है। शेष क्रिया लगभग पूर्ववत् है।

सौत्रामणी यज्ञ के सन्दर्भ में श्रुति में उल्लेख है कि बिना बुलाये सोमपान करने से नष्ट हुये इन्द्र के वीर्य को नमुचि नामक असुर ने पान कर लिया, तब देवताओं ने इन्द्र का उपचार किया। उस उपचार में अश्विनीकुमार और सरस्वती देवी चिकित्सक हुये और सौत्रामणी यज्ञ औषधि का कारण बना। इसी सौत्रामणी यज्ञ से अश्विनीकुमारों व सरस्वती देवी ने इन्द्र का अभिषेक किया, तब जाकर इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ हुआ। अत: जो इस यज्ञ से अभिषिक्त होता है, वह भी श्रेष्ठ होगा।[18] इसलिये यह यज्ञ अभिवृद्धि की कामना से किया जाता है।[19]

जैमिनीन्यायमाला में सौत्रामण्यधिकरण नामक एक प्रकरण आया है, उसमें लिखा है—

सौत्रामण्यां ग्रहे स्विष्टकृदाद्यस्ति न वास्ति तत्।
शेषाणां न सुराक्षीरयोरन्योपयोगत:॥

इसकी व्याख्या में न्यायमालाविस्तरकार माधवाचार्य लिखते हैं—

''सौत्रामणीनामके यज्ञे श्रूयते-पयोग्रहा: सुराग्रहाश्च गृह्यन्ते'। तत्र प्रकृतिगतसोम- ग्रहेष्विव शेषं कार्यं स्विष्टकृदादिकमस्ति।.न चापूर्ववच्छेषाभाव:। उच्छिनष्टि न सर्वं जुहोति इत्यवशेषयितव्यत्वश्रवणात् इति चेत्, मैवम्।

अवशिष्टस्थान्यत्रोपयोगश्रवणादुच्छेषणस्य पातारम्[20] इति श्रूयते। यदि ब्राह्मणं न विन्देत वल्मीकवपयामवनयेत्। इति च शतातृष्णायामवर्णयेत्। इति च शतच्छिद्रा कुम्भी शतातृष्णा। तस्मान्नास्ति स्विष्टकृदादिकम्।''[21] इन प्रामाणिक वचनों से पता चलता है कि सौत्रामणी यज्ञ में स्विष्टकृद् होम का अभाव है। अवशिष्ट सुरा

पेय को पीने वाले ब्राह्मणों का भी अभाव था, अतः सुरापायी ब्राह्मण को खोजना पड़ता था। यद्यपि सौत्रामणी यज्ञ में सुरा का भी विधान है, तथापि पयोग्रह और सुराग्रह में प्राथमिकता पयोग्रह को दी गयी है। श्रुतिस्मृतिपुराण आदि में सुरा निन्दित पेय के रूप में वर्णित है। कलियुग में तो इसका सर्वथा निषेध है।

ऋग्वेद में एक स्थान पर सुरा की निन्दा की गयी है—'दुर्मदासो नः सुरायाम्।'[22] अर्थात् सुरा पी लेने पर कुत्सित मदवाले व्यक्ति की तरह लड़ने लगे। सुरा के व्याख्यान प्रसंग में निरुक्त के टीकाकार छज्जूराम शास्त्री लिखते हैं, "**तिष्ठन्ति वृषलास्तत्र! उत्तरयति तिष्ठन्ति, यदि तिष्ठन्ति किमर्थं नागच्छन्ति, न चेत् सुरां पिबन्ति। अथापि न चेत्येष इत्येतेन सम्प्रयुज्यन्तेऽनुपृष्टेन चेत् सुरां पिबन्ति इति सुरा सुनोतेः। सूञ् अभिषवे अभिषूयते अनेकैः द्रव्यैरिति सुरा तस्यानेके भेदा भवन्ति।**"[23] अर्थात् किसी ने किसी से पूछा—बदमाश लोग वहाँ है? उत्तर मिला हैं। यदि हैं तो क्यों नहीं आते। उत्तर मिला—यदि शराब नहीं पीते होंगे तो आयेंगे। सुरा शब्द का अर्थ विचार करने पर सर्वत्र इसको कुत्सित मदयुक्त पेय बताया गया है। इसकी निष्पत्ति इस प्रकार है—'सुष्ठु राति याम्। रा दाने। सु अतीव रायन्त्यनया। रै शब्दे। दानार्थक और शब्दार्थक रा और रै धातु से 'आतश्चोपसर्गे'[24] इस पाणिनीय सूत्र से अङ् प्रत्यय लगाने पर सुरा शब्द की निष्पत्ति होती है। अमरकोषकार ने भी इसे मादक शब्द ही माना है 'सुरा चरकमद्ययोः'। इन प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि सौत्रामणी यज्ञ में मदिरा का भी इस्तेमाल होता था। इसमें कोई संशय नहीं है। किन्तु उक्त सुरा को बनाने का प्रकार और उसमें प्रयुक्त होने वाली औषधियों से यह भी प्रतीत होता है कि वह सुरा सामान्य सुरा से अत्यधिक श्रेष्ठ और गुणकारी होती थी। सोमरसपान से उत्पन्न मद को भी शान्त कर सकती थी, तथापि मादक पदार्थ होने से निर्णय-सिन्धुकार प्रभृति धर्म निबन्धकारों ने "सौत्रामण्यामपि सुराग्रहणस्य च संग्रहः' 'सौत्रामण्यां सुराग्रहः' इत्यादि तत्तद् वचनों का उल्लेख करते हुये सुराग्रहण का निषेध किया है।[25] यद्यपि सूत्रकार ने इस यज्ञ का अनुष्ठान प्रकार प्रतिपादित किया है, तथापि अप्रचलित एवं विवादास्पद होने से अवान्तर कालीन निबन्धकारों ने इसकी अनुष्ठानविधि नहीं बतायी। परन्तु सौत्रामणी का अनुष्ठान 'पयोग्रहा वा स्युः'[26] कहकर आपस्तंब श्रौत सूत्रकार द्वारा सुराग्रहण के विकल्प में पयोग्रहों का विधान होने से आपस्तंबानुयायी ही सुरा के स्थान पर पयः का प्रयोग कर सकते हैं, इसमें उनका तो अधिकार है ही। आजकल

वैकल्पिक पदार्थ पयोग्रह से आपस्तंबानुयायी इस यज्ञ को करते भी हैं। अतः हम लोग भी 'अनुक्तमन्यतो ग्राह्यम्' अर्थात् ''जो अपनी शाखा में नहीं कहा गया है, उसका अन्य शाखा से ग्रहण कर लेना चाहिये'' इस न्याय से उसी पयोग्रह पक्ष का अवलम्बन कर सौत्रामणी यज्ञ का अनुष्ठान कर सकते हैं। किन्तु सुराग्रह के साथ-साथ पशु का भी उल्लेख होने से वर्तमान में सेतुबन्ध रामेश्वर से लेकर हिमालय तक का शिष्ट वैदिक समाज इसका अनुष्ठान नहीं करता। इसी प्रकार वाजपेय याग में भी सुराग्रहण का सूत्रकार ने विधान किया है, तथापि स्मृति वाक्यों में कलियुग में सुरा-ग्रहण का निषेध[27] होने के कारण उसका अनुष्ठान उचित नहीं है, क्योंकि 'सौत्रामण्यां सुराग्रहः' इस वाक्य में सुरा ग्रहण में सौत्रामणी का सम्बन्ध उद्देश्य विशेष न होने से 'ग्रहैकत्वन्याय' में जैसे—'गृहं संमार्ष्टि' यहाँ एकत्व विवक्षित नहीं, केवल प्रातिपदिक ही विवक्षित होता है। उसी तरह यहाँ भी समझ लेना चाहिये। यही ग्रहैकत्वन्याय का अर्थ है। इस न्याय से विवक्षा न होने के कारण सुराग्रहण मात्र का निषेध प्रतीत होता है। सोमयाग में जैसे सोमलता की प्रतिनिधित्व करने वाली पूतिकालता का उल्लेख मिलता है, वैसे ही सुरा का प्रतिनिधित्व करने वाला पदार्थ सौत्रामणी याग में किसी भी सूत्रकार ने नहीं बताया है। अतः कलियुग में उसका किसी को अधिकार ही नहीं है, ऐसा निर्णयसिन्धुकार का आशय है। उन्होंने कहा है—**'सौत्रामण्यान्तु पयोग्रहा वा स्युः'**[28] किन्तु इस आपस्तंबीय वचन से वैकल्पिक पयोग्रह से भी अधिकार बनता है। वाजपेय याग में तो उस की प्राप्ति में कोई प्रमाण न होने के कारण सोम और सुरा का साथ-साथ त्याग होने से, अंशतः सुरा द्रव्य रहने से, उसके प्रत्यक्ष होने से, याग का नाम बनता है। सुरा के बिना संज्ञा नहीं बनेगी, अतः वाजपेय याग का कलिकाल में अधिकार नहीं, यह तो युक्तियुक्त है। किन्तु ताँबे के बर्तन में रखा हुआ गोदुग्ध सुरा-तुल्य कहा गया है, इसलिये याज्ञिक लोग ताँबे के पात्र में गोदुग्ध लेकर उसे सुरा का प्रतिनिधि मानकर उससे युक्त सोमग्रह से वाजपेय यज्ञ सम्पन्न करते हैं।

सौत्रामणी के अङ्गभूत पशुपुरोडाश याग में अन्य यागों के पुरोडाश याग के समान पशुयागीय देवता नहीं होते, किन्तु इन्द्र वरुण और सविता देवता रहते हैं। इस पाँच पशुवाली सौत्रामणी को आपस्तंब ने कौकिली सौत्रामणी कहा है।

जहाँ धर्मशास्त्रकारों ने कलियुग में सुराग्रहण का निषेध किया है, वहीं उक्त याग में प्रयुक्त होने वाले पशुओं में भी वैकल्पिक पदार्थ अन्न एवं फलों व वनस्पतियों

में निर्धारित किया है।[29] अतः यदि कोई जिज्ञासु कर्मनिष्ठ माध्यन्दिनीय वा अन्य शाखीय द्विज इस सौत्रामणी यज्ञ को करना चाहे तो आपस्तंबियों ने जिस विधि से इस यज्ञ को आज तक जीवित रखने की चेष्टा की है, उसी विधि का अवलम्बन कर अनुल्लंघित शास्त्र-मर्यादा वाला व्यक्ति श्रद्धापूर्वक, विधि निर्देशानुसार पयोग्रह से संपादित कर अपनी श्रेष्ठता को स्थिर रख सकता है। क्योंकि विधि वाक्यों में श्रेष्ठता प्राप्त करने का साधन इसी यज्ञ को माना गया है।[30] शतपथ ब्राह्मण 12/8/3/1 में उल्लिखित वचन से यह भी प्रतीत होता है कि चातुर्वर्ण्यों में श्रेष्ठ ब्राह्मण अपनी श्रेष्ठता को यथावत् रखने के लिये इस यज्ञ से अभिषिक्त हो, तब ही वह अपनी श्रेष्ठता को सुरक्षित रख पायेगा, किन्तु उसके लिये वैकल्पिक पयोग्रह एवं पशु के स्थान पर हवनीय अन्न का ही प्रयोग करना श्रेयस्कर होगा। क्योंकि नित्य सौत्रामणी में ब्राह्मणमात्र का अधिकार होने से और नित्य सौत्रामणी हविर्यज्ञ के अन्तर्गत आने से, साथ ही निष्काम होने से इस नित्य सौत्रामणी की प्रशंसा सर्वत्र सुनी गई है। गीता भी निष्काम यज्ञ-कर्म की प्रशंसा करती है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोस्त्वकर्मणि॥"[31]

स्वतन्त्र हविर्यज्ञ के अन्तर्गत समागत निष्काम पयोग्रह पक्षीय अपशुक सौत्रामणी यज्ञ में ब्राह्मण मात्र का अधिकार होने से इस कलिकाल में भी कर्मनिष्ठ श्रोत्रिय पशु के स्थान पर चरू का प्रयोग कर इस यज्ञ का अनुष्ठान कर सकता है। कलियुग में गौ और अश्वादि के आलम्भन का निषेध[32] होने से सोम वमनादि नैमित्तिक कारण के न होने से 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय:' इस न्याय से अन्य वर्णावलम्बियों के लिये श्रेयस्कर नहीं है। किन्तु निष्काम भावना वालों के लिये अश्व-गवालभन व सुरा वर्जित श्रौत यज्ञ को कर सकने की शास्त्राज्ञा उपलब्ध है—

"अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदुष्टो य इष्यते।
यष्टव्यमेवेति मन: समाधाय स सात्विक:॥" गीता 17/11

जिन्हें विधि निर्दिष्ट यज्ञों में श्रद्धा एवं विश्वास नहीं, जो यज्ञनिन्दक हैं, मात्र दिखावे के लिये इस यज्ञ को करते है, पाखण्ड दिखाकर स्वयं को श्रेष्ठतम समझते हैं, ऐसे अल्पज्ञों के लिये सौत्रामणी प्रभृति यज्ञ वर्जित हैं। इस प्रकार समयानुरूप धर्मकर्मों में भी विधि-निषेध का ज्ञानोपदेश कर क्रान्तद्रष्टा ऋषियों

ने इस कलिकालीन मानव जाति के लिए बहुत बड़ा उपकार किया है, नहीं तो हमारी स्थिति कैसी होती, इसका दिग्दर्शन भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अपने मुखारविन्द से करते हैं—

"अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥" गीता 17/28

अर्थात् अश्रद्धा से किया गया यज्ञ, दान, तप असत् होता है, उसका फल इह लोक और परलोक में कहीं भी नहीं मिलता। कात्यायन श्रौतसूत्रकार ने अपने सूत्र ग्रन्थ में सौत्रामणी यज्ञ के वर्णन प्रसंग में आने वाले पयोग्रह एवं सुराग्रहों में पयोग्रह को प्राथमिकता दी है[33] साथ ही चरूयाग एवं पशुयाग में चरू याग को वरीयता मिली है।[34] इसीलिए प्रारम्भ में अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्यादि यज्ञ वर्णित हैं। मनुष्य जो कुछ उत्तम भोज्य पदार्थ समझता है, उसी से देवताओं की भी सन्तुष्टि समझता है। अनादिकाल से ही दो प्रवृत्ति वाले मानव इस धराधाम पर उत्पन्न हुये हैं—1. दैवी प्रवृत्ति वाले तथा 2. आसुरी प्रवृत्ति वाले। दैवी प्रवृत्ति वाले मधु, घृत, दधि, घृताक्त अन्न को उत्तम जानकर उसी से देवाराधन करते हैं। आसुरी प्रवृत्ति वाले मानव अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप मदिरा मांसादि को उत्तम भोज्य समझते हैं और उन्हीं से देवताओं को भी सन्तुष्ट करना चाहते हैं। दोनों पक्षों के उपकारार्थ वेदादिशास्त्रों की सर्जना हुई। अतः शास्त्रों में दोनों प्रकारों के प्रमाण-वचन मिलते हैं। आसुरी प्रवृत्ति के कर्म प्रारम्भ में सुखद, अन्त में दुःख-प्रद होते हैं। अर्थात् क्षणिक सुख वाले होते हैं। एवमेव मार्ग भी दो होते हैं प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्तिमार्गी सांसारिक क्षणिक सुख को वरीयता देते हैं। निवृत्तिमार्गी उसे तुच्छ समझते हैं। इस सन्दर्भ में शास्त्रों का सारभूत मत इस प्रकार है—

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥"

इसीलिये वेदादि शास्त्रों ने हर एक के कार्य की विधि बतायी है। विधि में त्रुटि होने पर उसके प्रतिफल का भी भय दिखाया है। लोगों की प्रवृत्ति के अनुरूप ही यज्ञादि कार्य करने का सुझाव दिया है। आत्मा को शुद्ध करने के लिये आहार-शुद्धि परमावश्यक मानी है। 'आहार-शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'। इस पर भी शास्त्रों ने जोर दिया है।

वेदों तथा तदनुयायी शास्त्रों में जहाँ पशु हिंसा के वचन मिलते हैं, वहीं पर 'अहिंसा वैदिकी प्रोक्ता'' इत्यादि वचन भी प्राप्त होते हैं। मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति आदि धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में कलिवर्ज्य प्रकरण में पशु हिंसा निषेध परक सामान्य तथा विशेष अनेकों प्रमाण उपलब्ध होते हैं। शास्त्रों में 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' जो लिखा है, यह वस्तुतः जीवमात्र की हिंसा का निषेधक है। अतः जीव हिंसा के अनुकल्प में कूष्माण्ड, नारिकेल, इक्षुदण्ड, उड़द आदि का उपयोग करना चाहिये। बलिद्रव्य के विषय में जयसिंह कल्पद्रुम में लिखा है—**'अन्नं व्यञ्जन-पुष्पाम्बु बलिद्रव्यमुदाहृतम्।'**

बलिदान के वास्तविक रहस्य को न जानने वाले मांसभक्षी निरपराध पशुओं का बलिदान कर घोर पाप करते हैं। वस्तुतः उत्तम कोटि का बलिदान तो 'आत्म बलिदान' है। आत्म बलिदान में मनुष्य को अपनी जीवात्मा को पशु मानकर उसे देवी देवता के निमित्त समर्पण करना चाहिये। इस सन्दर्भ में ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है—

'सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्य आत्मानमालभते'[35] अर्थात् यज्ञकर्ता समस्त देवी-देवताओं के प्रीत्यर्थ अपने आत्मा (अहंकार) को समर्पित करता है।

इसी प्रकार सुरा के प्रयोग न करने के सन्दर्भ में भी बहुत से प्रमाण प्राप्त होते हैं। विशेषकर ब्राह्मण को देवी देवताओं के निमित्त मद्य समर्पित करने के लिये स्पष्ट निषेध है।

''वरं प्राणा प्रगच्छन्तु ब्राह्मणीमर्पयेत् सुराम्।''[36]

सन्दर्भ

1. गौ.ध.सू. 8/18
2. आवसथ्याधानं दारकाले। दायाद्यकाल एकेषाम्। पा.गृ.सू. 1/2/1-2; भार्यादिरग्निर्दायादिर्वा। गौ.ध.सू. 5/7
3. श्रौतयज्ञपरिचय, विद्याधर शर्मा, पृ. 2
4. पा.सू. 3/3/1
5. 'नेपाले याज्ञिकपरंपरा'—डिल्लीप्रसाद गौतम पृ. 73-74
6. भट्टि-दीपिका 4/2/12
7. का.श्रौ.सू. 15/10

8. का.श्रौ.सू. 19/1/2
9. य.सं.म.भा. 19/1; का.श्रौ.सू. 19/1/19 कर्काचार्य याज्ञिक देवादिकृत भाष्यसार, बेबर संपादित सं. 2 पृ. 944
10. का.श्रौ.सू. 19/1/22
11. का.श्रौ.सू. 19/1/23-28
12. का.श्रौ.सू. 19/2/7-10
13. का.श्रौ.सू. 19/4/1-24
14. का.श्रौ.सू. 19/4/5
15. का.श्रौ.सू. 19/5/16
16. का.श्रौ.सू. 19/5/13
17. श.ब्रा. 12/8/3/1
18. सौत्रामण्यमिवृद्धिकामस्य का.श्रौ.सू. 19/1/1
19. जै. न्यायमाला विस्तर 3/53;
20. तै.ब्रा. 1/8/6/2
21. तै.ब्रा. 1/8/6/4
22. निरुक्तम् 1/4 छज्जूराम शास्त्री व्याख्या
23. अष्टाध्यायी 3/3/106
24. श्रौतयज्ञ-परिचय—पृ. 19
25. आप.श्रौ.सू. 19/2/23
26. मनु 11/93-94; याज्ञ.-स्मृ. 3/22/7
27. उद्धृत-श्रौतयज्ञपरिचय—पृष्ठ 19
28. श.ब्रा. 3/2/2/9
29. श.ब्रा. 12/8/3/1
30. गीता 2/47
31. अश्वालंभं गवालंभं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥
32. पयोग्रहान् पूर्वम्। का.श्रौ.सू. 19/2/22
33. का.श्रौ.सू. 19/1/16
34. ऐ.ब्रा. 6/3
35. दूर्गापूजन पद्धति, वेणीराम गौड, पृष्ठ 119



4

सौत्रामणीयाग (एक परिचय)

डॉ. वामदेव मिश्र, प्रोफेसर,
संस्कृत-विभाग, काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

मन्त्रब्राह्मणात्मक अशेष शब्दराशि को वेद कहते हैं।[1] इसके प्रतिपाद्य कर्म, उपासना तथा ज्ञान हैं। इनमें कर्म अर्थात् याग विधियों का वैदिक वाङ्मय में पर्याप्त समारोह के साथ प्रतिपादन मिलता है।

'यज्ञ' और 'याग' दोनों ही शब्द, जो कि समानार्थक हैं, देवपूजा, संगतिकरण तथा दान अर्थवाली ✓ यज्[2] धातु से क्रमशः 'नङ्'[3] तथा घञ् प्रत्यय करके निष्पन्न होते हैं।

प्रतिपादक-भेद से यागों के दो विभाग हैं—स्मार्त और श्रौत। पद्धति और प्रक्रिया-भेद से दोनों प्रकार के यागों के तीन वर्ग हैं। इस क्रम में 'वर्ग' को पारिभाषिक रूप से 'संस्था' कहते हैं। इन संस्थाओं को क्रमशः पाकयज्ञ संस्था, हविर्यज्ञ संस्था तथा सोमयज्ञ संस्था कहा जाता है।' इनमें पाकयज्ञ संस्था स्मार्त के अन्तर्गत तथा हविर्यज्ञसंस्था और सोमयज्ञ संस्था श्रौत के अन्तर्गत परिगणित हैं।

(अ) पाकयज्ञ संस्था—इसके अन्तर्गत औपासन होम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टकाश्राद्ध, मासिश्राद्ध, श्रवणाकर्म तथा शूलगव की गणना की जाती है। यह संस्था स्मार्तयाग प्रक्रिया से सम्बद्ध है, जिसका प्रतिपादन विशेषतः स्मृतियों, तन्त्र ग्रन्थों तथा गृह्यसूत्रों में है। इन्हीं के आधार पर उपर्युक्त यागों की पद्धतियों का प्रणयन हुआ है।

(ब) हविर्यज्ञ संस्था—इस संस्था के अन्तर्गत अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रायण, चातुर्मास्य, निरूढ पशुबन्ध, सौत्रामणी तथा पिण्डपितृयज्ञ की गणना की जाती है।

(स) सोमयज्ञ संस्था—इस संस्था के अन्तर्गत अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोड़शी, वाजपेय, अतिरात्र तथा आप्तोर्याम की गणना की जाती है।

ये दोनों संस्थायें 'श्रौत प्रक्रिया' से सम्बद्ध हैं, जिनका विवरण विभिन्न वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों एवं श्रौतसूत्रों में मिलता है। उपर्युक्त ग्रन्थों के आधार पर याज्ञिक विद्वानों ने सम्बद्ध यागों के लिये अलग-अलग पद्धतियों का प्रणयन किया है।

इस प्रकार तीनों याग संस्थाओं में परिगणित प्रकृतियागों की संख्या इक्कीस है।[5] इन्हीं के आधार पर अन्य विकृतियाग किये जातें हैं, जिनकी संख्या शताधिक है।[6]

सौत्रामणी याग हविर्यज्ञ संस्था में परिगणित प्रकृतिभूत यागों में अन्यतम है। यह इन्द्र देवता के निमित्त किया जाता है। इसे 'इन्द्रयाग' भी कहते हैं।

इस क्रम में एक आख्यायिका[7] स्मरण की जाती है—एक बार इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को मार डाला। प्रतिशोध के लिये त्वष्टा ने अभिचार किया। अभिचार से सम्बद्ध सोमरस में इन्द्र का भाग नहीं था। इन्द्र ने बलात्कार पूर्वक वह सोम पी लिया और यज्ञ को अपवित्र कर दिया।

सोमपान के प्रभाव से मदमत्त होकर इन्द्र चारों तरफ भ्रमण करने लगे। उनके शरीर के विभिन्न अवयवों से उनका वीर्य बहने लगा। उस वीर्य से पशु (अज, भेड़, गौ, घोड़ा, खच्चर, गधा, भेड़िया, व्याघ्र, सिंह) पक्षी (वाज), अन्न (जौ, गेहूँ, चावल, बाजरा, सांवा, धान का लावा), फल (कुवल कर्कन्धु), पेय (दूध, कच्ची शराब, सुरा, आमिक्षा, वाजिन), औषधि (इन्द्रयव, शष्प, नग्नहु[8] सर्जत्वक् (शाल वृक्ष की छाल) त्रिफला, शुण्ठी, पुनर्नवा, चतुर्जातक, पिप्पली, गजपिप्पली, वंश, अवका, बृहच्छत्रा, चित्रक, इन्द्रवारूण्य, अश्वगन्धा, धान्यक, यवानी, जीरकद्वय, हरिद्राद्वय, विरूढयव तथा व्रीहि), वृक्ष (अश्वत्थ, वट, गूलर, पलाश) तथा खनिज (सीसा, सोना) उत्पन्न हुए। इस प्रकार वीर्य निकल जाने से इन्द्र वीर्य-हीन हो गये।

इन्द्र को वीर्यहीन जानकर नमुचि नामक असुर ने उनके अवशेष वैभवोपकरण का अपहरण कर लिया। इन्द्र की इस दयनीय दशा को देखकर देवताओं ने उनकी चिकित्सा के लिये अश्विनी कुमारों की तथा औषधि के रूप में प्रयुक्त होने के लिये सरस्वती की प्रार्थना की। प्रार्थना से प्रसन्न होकर अश्विनी कुमार तथा सरस्वती ने इन्द्र को पुनः पूर्ववत् सबल बना दिया। इस प्रकार उपर्युक्त देवताओं के द्वारा प्रक्रिया विशेष के माध्यम से इन्द्र भली प्रकार रक्षित (सु+त्रात) हुए। यह प्रक्रिया

इन्द्र (सुत्रामा) के लिये की गयी। अत: इस प्रक्रिया-विशेष का ही नाम सौत्रामणी याग पड़ा। इसीलिये 'सुत्राम्ण इयं सौत्रामणी' यह 'सौत्रामणी' पद की व्युत्पत्ति है।[9]

किसी भी याग के सम्पादन में द्रव्य, देवता और त्याग (कार्यावधि तथा कार्यविधि) का अपना विशेष महत्त्व होता है। ये ही यागों के परस्पर भेदक तत्त्व हैं।[10]

सौत्रामणी याग के भी द्रव्य, देवता तथा त्याग (कार्यावधि तथा कार्यविधि) का अपना स्वतन्त्र विवरण है।

द्रव्य—इस याग के सम्पादन विधि में द्रव्य के रूप में पशु, पक्षी, अन्न, पेय, फल, वृक्ष तथा खनिज द्रव्यों का प्रयोग होता है। विश्लेषित रूप से ये वे ही द्रव्य हैं, जो कि इन्द्र के द्वारा सोमपान किये जाने के बाद उनके शरीर से वीर्य रूप में क्षरित होकर उत्पन्न हुए थे। इनमें अज, मेषी तथा वृष ये तीन पशु मुख्य हैं। वृष के विकल्प में भी अज का ही प्राय: व्यवहार होता है। शेष गौण हैं।

देवता—देवता के आधार पर सौत्रामणी याग दो प्रकार का है—चरण सौत्रामणी तथा कोकिल सौत्रामणी।[11] कात्यायन के अनुसार 'चरण' के स्थान में 'चरक' शब्द का व्यवहार किया जाता है।[12] चरणसौत्रमणी के अश्विनीकुमार, सरस्वती तथा इन्द्रदेवता हैं।[13] कोकिल सौत्रामणी के इन्द्र-अश्विनीकुमार, सरस्वती-इन्द्र तथा वयोधस् देवता हैं।[14]

त्याग—इसमें कार्यावधि तथा कार्यविधि का विचार मुख्य है।

(अ) कार्यावधि—सौत्रामणी-याग शुक्ल पक्ष की द्वादशी[15] से प्रारम्भ होकर चार दिनों तक होता है।[16]

(आ) कार्यविधि—अनुष्ठान की दृष्टि से सौत्रामणी याग दो प्रकार का है—स्वतन्त्र तथा अङ्गभूत। स्वतन्त्ररूप से होने वाला, सौत्रामणी याग प्रधान है। हविर्याग संस्था में इसी का परिगणन किया जाता है। इस याग को करने का अधिकार केवल ब्राह्मण को है।

चयन तथा राजसूय याग के अनन्तर उसके अङ्ग के रूप में अनुष्ठीयमान सौत्रामणी अङ्गभूत है। इसको करने का अधिकार ब्राह्मण के साथ क्षत्रिय और वैश्य को भी है।[17]

सङ्कल्प की दृष्टि से सौत्रामणी याग के तीन प्रकार हैं—नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य।

नित्य—किसी विशेष उद्देश्य से रहित निष्काम अनुष्ठीयमान याग नित्य है। इसकी गणना हविर्याग संस्था के छठे प्रकृतियाग के रूप में की जाती है।[18]

आपस्तम्ब के अनुसार तीन पशुओं वाला तथा माध्यन्दिन के अनुसार पाँच पशुओं वाला याग नित्य है।[19]

नैमित्तिक—अग्निचित् सोमयाजी के सोमवमन हो जाने पर अथवा मुखेतर छिद्रों से भी सोम निकलने पर उसके प्रायाश्चित्त के रूप में सौत्रामणी याग किया जाता है।[20] इस याग को नैमित्तिक कहते हैं।[21]

काम्य—विविध कामनाओं से किया जाने वाला याग काम्य याग है, जैसे ऋद्धि रूप फल की प्राप्ति के लिये इसे ब्राह्मण करता है।[22] इस स्थिति में इसे ब्राह्मण-यज्ञ कहते हैं।[23]

राज्य की कामना से राज्यच्युत राजा इसे करता है।[24]

इस याग में ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, मैत्रावरुण तथा आग्नीध्र नामक ऋत्विक् काम करते हैं। इनके साथ यजमान तथा यजमान-पत्नी को जोड़ने पर कुल आठ व्यक्ति साध्य यह याग होता है।[26]

इस याग को इष्टिरूप तथा पशुबन्धरूप दोनों मानते हैं।[27] इस याग के सम्पादन के लिये स्वतन्त्र शाला का निर्माण होता है, जिसका विवरण कात्यायन के श्रौतसूत्र तथा शुल्वसूत्र में समारोह के साथ दिया गया है।

इस याग की समीक्षा से लक्षित होता है कि यह याग इन्द्र को सबल सामर्थ्य सम्पन्न बनाने की योजना है। क्षीणवीर्य और क्षीणसामर्थ्य देवता से अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। इसके साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि यह याग इन्द्र के शरीर से जो-जो पदार्थ जिस रूप में उद्गत हुए थे, उन्हें ही पुनः एकत्र करके उनके तत्त्वों से इन्द्र को जोड़ने का तथा उसे पूर्ण बनाने का एक प्रयोग है। विविध काम्य फलों की प्राप्ति की यह एक योजना है।

इस यागविधि के अनुसार औषधियों एवं विभिन्न पदार्थों के समवेत उपयोग से अधिक सुरा अथवा सोम अथवा मादक द्रव्य के सेवन से क्षीणवीर्यता, शैथिल्यादि दोष उत्पन्न होने पर उपचार किया जा सकता है। यह प्रयोग आनुपातिक योग पर निर्भर है तथा स्वतन्त्र चिन्त्य विषय है।



सन्दर्भ

1. 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' आपस्तम्ब परिभाषा 1/33
2. ✓ यज् देवपूजा संगतिकरणदानेषु' धातु पाठ।
3. 'यज याच यतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्।' पा.सू. 3/3/20
4. 'हलश्च' पा.सू. 3/3/21
5. गौतमधर्मसूत्रम् 8/18
6. 'कात्यायनश्रौतसूत्रम्' की भूमिका म.म.पं. विद्याधर शास्त्री गौड़ संस्करण।
7. शतपथब्राह्मणम् 12/7/1/14
8. 'सर्जत्वक् – त्रिफला – शुण्ठी – पुनर्नवा – चतुर्जातक – पिप्पली – गजपिप्पली – वंश – अवका – बृहच्छत्रा – चित्रक – इन्द्रवारुण्य – अश्वगन्धा – धान्यक – यवानी – जीरकद्वय – हरिद्राद्वय – वरूढ़यव – व्रीहय एकीकृता नग्नहुः।' वाजसनेयी संहिता महीधर भाष्य 19/11
9. 'सुत्रातं बतैनं पाप्मनोऽत्रास्महीति तद्वाव सौत्रामण्यभवत् तत् सौत्रामण्यै सौत्रामणीत्वम्' श.ब्रा. 12/7/1/14
10. द्रव्यं देवता त्यागः। कात्यायन श्रौतसूत्रम् 1/2/21
11. द्वे सौत्रामणी कोकिली चरणसौत्रामणी च। द्रा.श्रौ.सू. 13/4/14
12. ''राजसूयान्तर्गता सौत्रामणी चरक सौत्रामणी।' का.श्रौ.सू. 15/9/22
13. श्रौतयज्ञ परिचय, पृ. 18
14. का.श्रौ.सू. भूमिका म.म.पं. गंगाधर शास्त्री संस्करण
15. 'उत्तरे शुक्ले सौत्रामणी' का.श्रौ.सू. 15/9/22
16. 'चतूरात्रम्।' का.श्रौ.सू. 21/1/14
17. 'सोमेनेष्ट्वा सौत्रामण्या यजेत' श.ब्रा. 12/8/2/2
18. 'राजसूययाजिनः कर्मापवर्गे वा सौत्रामणी।' का.श्रौ.सू. 15/10/23
19. श्रौतयज्ञपरिचय, पृ. 18
20. का.श्रौ.सू. भूमिका म.म.पं. गंगाधर शास्त्री संस्करण।
21. 'अग्निचित् सोमयाजी सोमातिपूतः सोमवामिनाम्।' का.श्रौ.सू. 21/1/2
22. ब्राह्मणयज्ञः सौत्रामण्यृद्धिकामस्य। का.श्रौ.सू. 21/1/1
23. तस्मादेष ब्राह्मणयज्ञ एष यत्सौत्रामणी' श.ब्रा. 12/4/3/1
24. राज्ञोपरुद्धस्य। का.श्रौ.सू. 21/1/3
25. अलम्पशोरपशोः। का.श्रौ.सू. 2/1/4
26. ''ब्रह्माहोताध्वर्यु मैत्रावरुणः प्रतिप्रस्थाताग्नीध्रश्च।' देवयाज्ञिक पद्धति, पृ. 204
27. 'उभयं वै सौत्रामणीष्टिश्च पशुबन्धश्च।' श.ब्रा. 12/3/3/12



5

वैध यज्ञों की प्रासङ्गिकता : सोमयाग के विशेष सन्दर्भ में

डॉ. दयानन्द भार्गव,
आचार्य एवम् अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

यज्ञ का मूल—मन:शक्ति अथवा मन्त्रशक्ति—

वर्तमान युग में आईन्सटीन की यह खोज विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्तिकारी मानी जाती है कि ऊर्जा पदार्थ में और पदार्थ ऊर्जा में बदल सकता है। आईन्सटीन का सूत्र है— $E = MC^2$। दूसरी ओर यज्ञ की परिभाषा देते हुए महर्षि ऐतरेय ने कहा है कि पदार्थ का मन में और मन का पदार्थ में बदल जाना यज्ञ है—वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरि क्रमो यद्यज्ञ:।[1] आईन्सटीन प्राण के पदार्थ में और पदार्थ के प्राण में बदलने की बात तो करते हैं, लेकिन महर्षि ऐतरेय आईन्सटीन से एक कदम आगे जाकर मन के पदार्थ में बदलने की बात करते हैं। सृष्टिचरा के प्रसंग में बारम्बार तीन सोपानों का उल्लेख है—मन की कामना, प्राण का अन्तर्व्यापार अथवा तप तथा वाक् का बहिर्व्यापार अथवा श्रम।[2] मन की कामना प्राण में तप उत्पन्न करती है, प्राण का, तप पदार्थ का सर्जन कर देता है। प्राण मन और पदार्थ के बीच की कड़ी है, जो एक ओर मन से जुड़ी है तो दूसरी ओर पदार्थ से।[3] इसलिए यज्ञ को संकल्पमूलक कहा गया है—यज्ञा: संकल्पसंभवा:। इसलिए यज्ञ, के प्रारम्भ में सर्वप्रथम संकल्प किया जाता है, तदनन्तर मन्त्रोच्चार होता है। मन की शक्ति का ही मूर्त रूप मन्त्र है—मननात् मन्त्र:। मन्त्रोच्चार के साथ अपूर्वोत्पत्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इसलिए मन को प्रजापति

कहा गया है। देव मन्त्रों के अधीन हैं। प्राण का ही दूसरा नाम देव है।[4] विज्ञान की भाषा में कहें तो मन की शक्ति का प्रयोग प्राणों को सक्रिय कर देता है। यह सक्रिय प्राण ही पदार्थ का निर्माण करता है।

चेतन ऊर्जा अथवा देवशक्ति की सर्जनात्मकता—

ऊपर की प्रक्रिया से यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान विज्ञान प्राण और पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध को जानता है, किन्तु यज्ञ विज्ञान उससे एक कदम आगे जाकर मन और प्राण के सम्बन्ध को भी बताता है। आधुनिक काल में मन की शक्ति पर अनेक अनुसन्धान हो रहे हैं। यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली मन्त्रशक्ति मन:शक्ति का एक विशिष्ट आयाम है। आधुनिक वैज्ञानिकों के लिये भौतिक शक्ति से परे जाकर मन:शक्ति अथवा मन्त्रशक्ति पर विचार करना विकास की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम होगा। इसी प्रकार ऊर्जा के साथ यदि चेतना का समावेश हो जाये तो वह देवशक्ति कहलाती है। ऊर्जा जगत् में चेतना का क्या योगदान हो सकता है—यह विचार भी आधुनिक विज्ञान के लिये नई दिशा प्रदान कर सकता है।

अन्न से मन: पदार्थ तथा मन का अद्वैत—

जहाँ मन प्राण के माध्यम से पदार्थ को गतिमान् करता है, वहाँ पदार्थ भी अन्न के रूप में जैविक प्रक्रिया द्वारा मन को जन्म देता है।[5] वर्तमान आहार विज्ञान भोजन में किन-किन तत्त्वों के होने से शरीर पर क्या-क्या प्रभाव पड़ेगा ? यह विचार तो करता है, किन्तु यह विचार नहीं करता कि किस-किस आहार का मन पर क्या-क्या प्रभाव पड़ता है ? यह विचार भारतीय परम्परा में बहुत विस्तार से किया गया है। अन्न किस प्रकार रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र बनाता हुआ ओज तथा मन में परिणत होता है। यह अध्यात्म यज्ञ का विषय है।[6] मन का प्राण में परिणत होना अधिदेव यज्ञ है और प्राण का भूत में परिणत होना अधिभूत यज्ञ है।

पदार्थ के तीन घटक : अग्नि, वायु, आदित्य—

आधुनिक विज्ञान में प्रत्येक पदार्थ में ऊर्जा तो मानी जाती है, किन्तु उस ऊर्जा के पीछे ज्ञान भी है, इस पर विचार नहीं होता। जबकि यह विज्ञान के अनुसार कोई पदार्थ क्रिया के बिना और कोई क्रिया ज्ञान के बिना नहीं है। यज्ञ

की भाषा में कहें तो प्रत्येक पदार्थ में पृथ्वी स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्ष-स्थानीय वायु और द्यु-स्थानीय आदित्य का योगदान है। धातु जगत् में शरीर व्यक्त रहता है, क्रिया और ज्ञान अव्यक्त। वनस्पति जगत् में शरीर और क्रिया दोनों व्यक्त हो जाते हैं, ज्ञान अव्यक्त रहता है और पशु जगत् में शरीर, क्रिया और ज्ञान तीनों व्यक्त हो जाते हैं। जगदीश चन्द्र बोस के अनुसन्धान के अनन्तर वनस्पति जगत् में होने वाली क्रिया के आधार पर ज्ञान की सत्ता मान ली गई, किन्तु धातु जगत् में क्योंकि ज्ञान और क्रिया दोनों ही अव्यक्त रहते हैं, इसलिए आधुनिक विज्ञान वहाँ ज्ञान को मानने को तैयार नहीं है। इसी मान्यता के कारण यज्ञ में बोले जाने वाले "शृण्वन्तु ग्रावाण:" इत्यादि वाक्य निरर्थक तथा जड़पूजा एवं अन्धविश्वास के अङ्ग प्रतीत होते हैं। यज्ञ-विज्ञान आधुनिक विज्ञान के लिए इस रूप में एक चुनौती ही है कि वह संसार में किसी चीज को इस अर्थ में जड़ मानता ही नहीं कि उसमें ज्ञान नहीं है।

अनेकता में एकता—

विज्ञान विश्लेषण पर टिका है। यज्ञ-विज्ञान का आधार ब्रह्म ज्ञान है। ब्रह्म ज्ञान संश्लिष्ट दृष्टि होता है। यह संश्लिष्ट दृष्टि अनेकता में एकता स्थापित करती है। इस प्रकार यज्ञ आधुनिक विज्ञान का परिपूरक है।[7] विज्ञान जहाँ हमें प्रत्येक पदार्थ के गुण धर्म बताता है, वहाँ यज्ञ यह सूचित करता है कि अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण पदार्थ भिन्न होने के कारण भी मूलत: एकता के सूत्र में जुड़े हुए हैं। एक ही तत्त्व अपने घन, तरल और विरल रूप में अग्नि, वायु और आदित्य बन जाते हैं। इस प्रकार विज्ञान जहाँ विश्लेषण की दृष्टि देता है, यज्ञ अखण्डता की दृष्टि देता है।

विरोध नहीं, परिपूरकता—

इस अखण्डता की दृष्टि के कारण यज्ञ की दार्शनिक पृष्ठभूमि में कहीं कोई विरोध नहीं है। इन्द्र-वृत्त तथा मित्र-वरुण के उदाहरण को देखें। वरुण भी असुर है, वृत्र भी असुर है, किन्तु मित्र के साथ अविरोध रखने के कारण वरुण देवत्व को ही प्राप्त हो जाता है। दूसरी ओर वृत्र इन्द्र के प्रति शत्रु भाव रखने के कारण जघन्यता को प्राप्त होता है। वृत्र या वरुण राजशक्ति के प्रतीक हैं। इन्द्र या मित्र [रूप यज्ञशक्ति] शक्ति से नियन्त्रित रहती है। वह मर्यादित रहती

है और सम्मान की पात्र है। किन्तु ब्रह्म शक्ति के नियन्त्रण के बाहर होते ही वह निरंकुश होने के कारण जघन्य हो जाती है।

रासायनिक प्रक्रिया से अपूर्व की उत्पत्ति : सोमयाग—

वैदिक यज्ञों की सामान्य पृष्ठभूमि की प्रासंगिकता पर विचार करने के अनन्तर हम सोमयाग की प्रासंगिकता को देखें। अग्नि में सोम की आहुति सोमयाग का मूल रूप है। अग्नि और सोम आणविक स्तर पर धन और ऋण का, जैविक स्तर पर पुरुष और स्त्री का तथा पर्यावरण के स्तर पर ऊष्ण और शीत का उपलक्षण है। सोमयाग का सन्देश यह है कि दो परस्पर विरोधी तत्त्वों के संगतीकरण से एक तृतीय नवीन अपूर्व की उत्पत्ति होती है। यज्ञ शाला में हम वैध यज्ञ करते हैं। वह प्रकृति में चलने वाले यज्ञ का अनुकरण मात्र है। प्रकृति में कोई भी नया पदार्थ तभी उत्पन्न होता है, जब दो पदार्थों में परस्पर रासायनिक सम्बन्ध हो। वैदिक भाषा में इस रासायनिक सम्बन्ध को अन्तर्याम सम्बन्ध कहते हैं। जब दो पदार्थों में रासायनिक सम्बन्ध होता है, तो एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को आत्मसात् कर लेता है। यज्ञ की भाषा में एक पदार्थ अन्नाद हो जाता है, दूसरा अन्न। अन्नाद को अग्नि कहते हैं तथा अन्न को सोम। सृष्टि के समस्त पदार्थ अन्न भी हैं, अन्नाद भी हैं। अन्न के रूप में वे सोम हैं, अन्नाद के रूप में वे अग्नि हैं। इसलिए जाबालोपनिषद् ने जगत् को अग्नीषोमात्मक कहा है। चाहे वनस्पति जगत् हो चाहे, प्राणी जगत्, सर्वत्र यह सोमयज्ञ चल रहा है। हमारी जठराग्नि में भोजन सोम के रूप में जा रहा है। वनस्पतियों की जड़ में जल सोम के रूप में जा रहा है। अग्नि का एक नाम रुद्र है। अग्नि की बुभुक्षा उसका रुदन है। जिस रुदन के कारण अग्नि रुद्र कहलाती है। जब तक इस रुद्र पर सोम का अभिषेक होता रहता है, यह तृप्त होकर पदार्थ को वर्धमान रखती है। यही रुद्र का अघोर अर्थात् शिव रूप है। यदि रूद्र को सोम प्राप्त न हो तो वह रौद्र रूप धारण करके पदार्थ को भस्मसात् करने लगता है। यही उसका प्रलयंकर रूप है। तभी पदार्थों में रुद्र के रूप में अग्नि उपस्थित है और उस पदार्थ के चारों ओर आप: तत्त्व व्याप्त है। यह आप ही सोम है। इसे ही वैदिक भाषा में आपोलोक और पौराणिक भाषा में क्षीरसागर कहा जाता है। क्षीरसागर में विष्णु शयन करते हैं। विष्णु वह प्राणशक्ति है, जो बाहर से पदार्थ को अन्दर की ओर लाती है। पदार्थ के केन्द्र में प्रज्वलित जीवन अग्नि में चारों ओर फैले हुए शक्ति के समुद्र से खींचकर विष्णु ही सोम की आहुति देते हैं। इसलिए वेदों में विष्णु को यज्ञ कहा गया है।

प्रवर्ग्य से सृष्टि: 'यज्ञचक्र'—

सोम का जो अंश पदार्थ में आहुत होता है, वह सभी पदार्थ का अंग नहीं बन जाता। पदार्थ का अंश बन जाने वाला अंश 'ब्रह्मौदन' कहलाता है, शेष रहता हुआ अंश 'प्रवर्ग्य' कहलाता है। प्रवर्ग्य का ही दूसरा नाम यज्ञशेष अथवा उच्छिष्ट है। पौराणिक भाषा में इसे 'प्रसाद' कहते हैं। हमें प्रवर्ग्य ग्रहण करने का ही अधिकार है, ब्रह्मौदन का नहीं। ऊर्जा का बहुत बड़ा अंश सूर्य के निर्माण में काम आ जाता है, किन्तु ऊर्जा का कुछ अंश सूर्य से छिटक कर हम तक आता है। यही हमारा केन्द्र बनता है। वह सूर्य का उच्छिष्ट अथवा प्रसाद है। इसी प्रकार गौ का प्रवर्ग्य उसका दूध तथा गोबर है। दूध हमारा आहार बनता है, गोबर वनस्पति का। वनस्पति भी अपने शरीर का निर्माण करने के अनन्तर कुछ फल, मूल और पत्तों को छोड देती है। फल-मूल हमारा आहार बनते है, पत्ते पशुओं का। इस प्रकार एक के प्रवर्ग्य से दूसरे का निर्माण होता है। कभी-कभी इस प्रवर्ग्य का अन्योन्य विनिमय हो जाता है। हमारी छोड़ी गई कार्बन-डाई-ऑक्साइड गैस पौधों का आहार बनती है, पौधों के द्वारा छोड़ी गई ऑक्सीजन हमारा आहार बनती है। यह यज्ञीय जीवन शैली आधुनिक सन्दर्भ में विशेष प्रासंगिक है। क्योंकि मनुष्य अपने लालच में केवल प्रवर्ग्य से ही सन्तुष्ट न रह कर दूसरे के ब्रह्मौदन को छीनने का अपराध कर रहा है। पर्यावरण-प्रदूषण और प्रकृति का असन्तुलन इसी यज्ञीय जीवन शैली का उल्लंघन करने का परिणाम है।

अग्नि तथा सोम के अनेक प्रकार—

सभी देवता प्राण है। अग्नि भी इसका अपवाद नहीं है।[8] पृथ्वी पर स्थूल रूप में अग्नि भूताग्नि है, सूर्य में सूक्ष्म रूप में देवाग्नि है और उससे भी अधिक सूक्ष्मरूप में स्वयम्भू में ऋषि प्राण के स्तर पर अंगिरा है। इसी प्रकार सोम के भी चार रूप है। अन्न के रूप में सोम अंशु है, चषकों में भरे जाने पर वह ग्रहसोम कहलाता है, जो प्राणों का निर्माण करता है, मन् के स्तर पर यही सोम राजा कहलाता है और चेतना के स्तर पर वाक्। सूक्ष्मता की दृष्टि से एक ही सोम की ये चार अवस्थाएँ है।

इस प्रकार सोम याग के माध्यम से हम प्रकृति के गूढ रहस्यों को समझते हैं। प्रकृति के ये रहस्य सदा प्रासंगिक थे, किन्तु विज्ञान के वर्तमान युग में प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान और भी अधिक प्रासंगिक हो गया।

सफलता का रहस्य : दीक्षा के आठ अंग—

वैध यज्ञ के रूप में जो सोमयाग होता है, उसकी सभी क्रियाएँ हमें अपने दैनन्दिन जीवन में प्रेरणा देती हैं। उदाहरणत: दीक्षा को लें। दीक्षा का अर्थ है मनुष्य-प्राणों को दिव्य प्राणों से जोड़ना। मानुष प्राण निर्बल हैं, दिव्य प्राण बलवान् हैं। दिव्य प्राणों के बलवान् होने के दो रहस्य हैं—सूर्य, वायु आदि दैव जगत् का इतना बड़ा उपकार करने पर भी कर्तृत्व का अहंकार नहीं रखते और निष्काम भाव ही उन्हें इतना अधिक शक्तिशाली बना देता है। यदि हम भी उसी प्रकार निरहंकार और निष्काम हो जायें तो हमारे मानुष प्राण दिव्य प्राणों के समान शक्तिशाली हो जायेंगे। ऐतरेय उपनिषद् कहता है कि ऐसे व्यक्ति के मुख में अग्नि वाणी बनकर प्रविष्ट हो जाती है, वायु नासिका में प्रविष्ट हो जाता है, सूर्य चक्षु में प्रविष्ट हो जाता है। इसे ही यज्ञ की परिभाषा में औदग्राभ अर्थात् मानुषात्मा का दिव्यात्मा के स्तर तक ऊपर उठ जाना कहा जाता है। यह कैसे हो, इसका भी उपाय दीक्षा के अन्तर्गत बताया गया है। सर्वप्रथम हम संकल्पशक्ति का सहारा लें, पारिभाषिक शब्दावली में यह **आकूति** कहलाती है। दूसरे संकल्प शक्ति को दृढ़ बनाना चाहिये, इसे **क्रतु** कहते है। दृढ होने पर यह संकल्प कार्य रूप में परिणत हो जाता है। इसे **प्रयुक्** कहते हैं। इसे ही **दक्ष** भी कहा जाता है। संकल्प का निरन्तर स्मरण **मेधा** है। तप आलस्य का अभाव और सरस्वती यज्ञ की सफलता के लिये आवश्यक हैं। उनके साथ पूषा अर्थात् यज्ञ के लिए उपयुक्त सामग्री भी चाहिये।[9] ये सब चीजें दीक्षित के लिए आवश्यक मानी गई है, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि ये किसी भी कर्म की सफलता के अंग हैं। ऐसे अनेक सन्दर्भ सोमयाग के हैं, जिन्हें आधुनिक युग में भी प्रासंगिक कहा जायेगा।



सन्दर्भ

1. ऐतरेय आरण्यक 2.3.3.15
2. प्रजापतिरकामयत, सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत्—शतपथ 6.1.1.8
3. प्राण एव रज्जु: । प्राणेन हि मनश्च वाक् चाभिहिते—शतपथ 3.1.4.2
4. तस्मात्प्राणा देवा:—शतपथ 7.5.1.21
   प्राणा वै देवा:—मैत्रायणी संहिता 3.2.1
5. अन्नमयं हि सौम्य । मन:—छान्दोग्योपनिषद् 5.4
6. रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदोस्ततोऽस्थि च ।
   अस्थ्नो मज्जा तत: शुक्रं शुक्राद् गर्भ: प्रसादज:— चरक, चिकित्सास्थान 15/14
7. In classical machanics the properties and behaviour of the parts determine those of the whole, the situation is reversed in quantum machanics : it is the whole that determines the behaviour of the parts—The Turning Point P. 86.
8. शतपथ 6.3.1.21
9. शतपथ 3.1.4.6-9



6

सोमयाग [अग्निष्टोम याग]

डॉ. श्रीकिशोर मिश्र
उपाचार्य, संस्कृत-विभाग काशी
हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वैदिक यज्ञों की परम्परा में अग्निष्टोम याग का महत्त्व कतिपय कारणों से अनितरसाधारण है। श्रौतयागसंस्थाओं के दो वर्ग हैं—हविर्याग तथा सोमयाग। प्रमुख हविष्य के रूप में सोम का प्रदान सोमयागों में किया जाता है। इन सोमप्रधान यागों में प्रथम गणनीय तथा मूलभूत अग्निष्टोम है। इष्टि, पशु तथा सोम—इस प्रकार तीन मुख्य वर्गों में सम्पूर्ण श्रौत यागों का विभाजन मानने पर सौमिक वर्ग का मूल याग तो अग्निष्टोम है ही, कतिपय आचार्य अग्नीषोमीय पशु को समस्त पशुयागों का भी मूल मानते हैं। वामनशर्मा आदि पद्धतिकार आचार्यों ने अग्निष्टोम को प्रकृतियाग माना है।[1] पुरुषमेध, सर्वमेध, अश्वमेध आदि सुप्रसिद्ध विशाल यज्ञ सोमयाग के ही विशेष रूप हैं तथा अग्निचयन सोमयाग का अङ्गभूत माना जाता है। इन समस्त सोमयागों की प्रकृति अग्निष्टोम है।

मानव के लिये अवश्य करणीय नित्य यागों में परिगणित होने के कारण भी अग्निष्टोम याग विशिष्ट माना गया है। कात्यायन श्रौतसूत्र, वसिष्ठ धर्मसूत्र तथा गौतम धर्मसूत्र आदि आर्ष ग्रन्थों के अनुशीलन से अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध तथा अग्निष्टोम, ये याग नित्यतया विहित ज्ञात होते हैं।[2] इनमें अग्निष्टोम ही सर्वज्येष्ठ है। क्योंकि अन्य हविर्याग एक वेद अथवा पशुयाग दो वेदों से अनुष्ठित किये जा सकते हैं। अग्निष्टोम तीन वेदों के मन्त्रों से पूर्ण होता है। अत: आपस्तम्ब की यज्ञपरिभाषा अग्निष्टोम में ही समन्वित होती है।[3] श्रौत यागों की विशाल राशि में सर्वप्रथम अग्निष्टोम में

सोलह ऋत्विजों का उपयोग किया जाता है। षोडश ऋत्विजों की दक्षिणा के विभाजन की विशेष प्रक्रिया है। वाजसनेय शाखानुयायियों के लिये सौ गायें तथा अन्यशाखीय यजमान के लिये बारह सौ गायें अग्निष्टोम की दक्षिणा के रूप में देय हैं। सम्पूर्ण दक्षिणा को प्रथमतः प्रत्येक वेद से सम्बद्ध ऋत्विजों के वर्ग की दृष्टि से चार समान भागों में विभाजित किया जाता है। तदनन्तर गण के मुख्य ऋत्विक् को उस वर्ग की सर्वाधिक दक्षिणा देय होती है। द्वितीय स्थान के ऋत्विक् को मुख्य से आधी, तृतीय को तृतीयांश तथा चतुर्थ को चतुर्थांश दक्षिणा देय होती है। उदाहरणार्थ वाजसनेय शाखा में अध्वर्यु गण के लिये निर्धारित 25 गायों में से अध्वर्यु को बारह, प्रतिप्रस्थाता को छः, नेष्टा को चार तथा उन्नेता को तीन गायें दक्षिणा के रूप में दी जाती हैं।

अग्निष्टोम में प्रधान हविर्द्रव्य सोमलता से निकाला रस सोमरस है। सोमलता आजकल अनुपलब्ध है, परन्तु अनेक वैदिक तथा आयुर्वेद के ग्रन्थों में इसका स्वरूप-वर्णन उल्लिखित है। सोमलता के अभाव में 'पूतीका' नामक लता के रस से याग निष्पन्न किया जाता है। प्राचीन आचार्यों ने भी ब्राह्मणकर्तृक याग में सोम द्रव्य तथा क्षत्रिय एवं वैश्य द्वारा किये जाने वाले याग में न्यग्रोध के फल अथवा अङ्कुरों को पीस कर दधि के साथ मिलाकर तैयार किये गये द्रव्य का विधान किया है।

अग्निष्टोम के प्रथमतः अनुष्ठान में दो पक्ष उपदिष्ट हैं। अग्न्याधान के अनन्तर उसी समय सोमयाग सम्पादित करने के बाद दर्शपूर्णमासादि इष्टि करे, यह प्रथम पक्ष है। आधान के बाद दर्शेष्टि के अनन्तर सोमयाग का द्वितीय पक्ष है। अग्निष्टोम का मुख्य कार्य यद्यपि एक दिन में सम्पन्न हो जाता है, तथापि अङ्गों के साथ यह पाँच दिनों में अनुष्ठेय याग है। याज्ञिक सम्प्रदाय के अनुसार शुक्लपक्ष की एकादशी से प्रारम्भ कर पूर्णिमा को इसका समापन किया जाता है। 'यज्ञा यज्ञा वो अग्नये' इस ऋचा पर गेय साम का नाम अग्निष्टोम है। उस 'अग्निष्टोम' साम के गान से इस याग की समाप्ति होती है। इसलिये इसको अग्निष्टोमसंस्थ याग कहा गया है। इसका प्रक्रियात्मक स्वरूप इस प्रकार है—

अग्निष्टोम याग के अनुष्ठान का इच्छुक यजमान वसन्त ऋतु में (प्रथम सोमयाग होने पर) अथवा अन्य किसी ऋतु में शुभदिन में सोलह ऋत्विजों का वरण करता है।[4] ऋत्विजों का गणविभाजन गण में वरिष्ठता के क्रम से अग्रलिखित हैं—

(क) यजुर्वेदीय अध्वर्युगण—1. अध्वर्यु, 2. प्रतिप्रस्थाता, 3. नेष्टा, 4. उन्नेता।

(ख) ऋग्वेदीय होतृगण—1. होता, 2. मैत्रावरुण (प्रशास्ता), 3. अच्छावाक, 4. ग्रावस्तुत।

(ग) सामवेदीय उद्गातृगण—1. उद्गाता, 2. प्रस्तोता, 3. प्रतिहर्ता, 4. सुब्रह्मण्य।

(घ) अथर्ववेदीय ब्रह्मगण—1. ब्रह्मा, 2. ब्राह्मणाच्छंसी, 3. आग्नीध्र, 4. पोता।

सोमप्रवाक नामक सन्देशवाहक के द्वारा आहूत ऋत्विग्गण मधुपर्क से पूजित होकर यजमान के साथ गाँव से बाहर देवयजन के योग्य स्थान निश्चित करते हैं। वहाँ पर उत्तर को छोड़कर अन्य प्रत्येक दिशा में द्वार युक्त प्राग्वंश[5], विमित[6] अथवा उस प्रकार की शाला का निर्माण किया जाता है। विमित अथवा शाला के उत्तर तथा पश्चिम में दो परिवृत बनाये जाते हैं।

यागानुष्ठान के प्रारम्भ के लिये आहवनीय अग्नि का अरणि में समारोप करके एक शकट में अरणिद्वय तथा अन्य सम्भारों को रखकर देवयजनस्थल जाते हैं। अरणि हाथ में लेकर यजमान पूर्वद्वार से प्रवेश करता है। अध्वर्यु अग्निमन्थन कर गार्हपत्य (कुण्ड) को संस्कृत करके उसमें अग्निस्थापन करता है। इसी प्रकार आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि का विहरण किया जाता है। अपराह्न में सपत्नीक यजमान मिष्टभोजन करते हैं।

तदनन्तर 'अप्सुदीक्षा' में उत्तर के परिवृत्त में नखकर्तन तथा वपन किया जाता है। किसी स्थावर जलराशि में स्नान करके यजमान नीवीरहित वस्त्र धारण कर पूर्व द्वार से शाला में प्रविष्ट होता है। पत्नी पश्चिम द्वार से शाला में आती है। उसके बाद दीक्षणीयेष्टि की जाती है। इसमें आग्नावैष्णव एकादशकपाल पुरोडाश प्रधान हवि है। आदित्यदेवों के लिये चरु विकल्प से द्वितीय हवि है। एतदर्थ पौर्णमासेष्टि के समान ही इष्टि सम्पन्न करके यजमान शाला के पूर्व में अवस्थित होता है तथा उसका सिर से प्रारम्भ कर पैर तक नवनीत से लेपन किया जाता है, नेत्रों में अञ्जन तथा प्रोक्षण किया जाता है। यजमान अंगुष्ठ तथा तर्जनी की मुष्टि बांधता है। इसी प्रकार दूसरे परिवृत में पत्नी की दीक्षा होती है। तदनन्तर शाला में प्रवेश करके औद्ग्रभण नामक आहुतियां दी जाती हैं। कृष्णमृग चर्म पर बैठकर

यजमान का मेखलाबन्धन, नीवीकरण, उष्णीष (पगडी) से सिर का वेष्टन, कृष्णमृगशृङ्ग का वस्त्र के छोर में बन्धन तथा उदुम्बर के दण्ड का ग्रहण आदि कार्य सम्पादित किये जाते हैं। इसी प्रकार पत्नी के भी दीक्षासम्बन्धी कार्य किये जाते हैं। तदनन्तर प्रतिप्रस्थाता तीन बार उद्घोषणा करता है कि—''यह ब्राह्मण दीक्षित है।'' इसके अनन्तर महावीर पात्र का सम्भरण (सज्जीकरण) करके यूपच्छेदन होता है। रात्रि में यजमान व्रत (नियत भोजन) के रूप में दूध ग्रहण करके आहवनीय के दक्षिण की ओर शयन करता है। याग के बीच में दीक्षित यजमान मृदु, संस्कृत तथा सत्य वाणी का ही व्यवहार करे, यह नियम है। यह प्रथम दिन का कृत्य है।

दूसरे दिन प्रातः प्रायणीयेष्टि होती है।[7] इसमें पथ्यास्वस्ति, अग्नि, सोम, सविता तथा चरुभाक् अदिति देवता हैं। इसमें दक्षिणा नहीं होती। प्रायणीयेष्टि के मध्य में सोमक्रय के लिये हवन किया जाता है। तदनन्तर सोमक्रय के लिये सोमक्रयणी गौ के पीछे अध्वर्यु तथा यजमान चलते हैं। ले जाई जा रही इस गौ के सातवें पाद प्रक्षेप के स्थान में हवन करके एक थाली में उस पद (मृत्तिका) को ग्रहण किया जाता है। अध्वर्यु अनामिका में स्वर्ण (आभरण) धारण कर सोम के उपनहन, वर्याणहन तथा उष्णीष आदि वस्त्रों को लेकर सोमविक्रय करनेवाले के पास जाकर सोमोपनहन वस्त्र में दस बार (अथवा उससे अधिक भी) सोम (लताखण्ड) लेकर उष्णीष वस्त्र से बांधकर उस पोट्टलिका को सोमविक्रयी के हाथों में अध्वर्यु देता है। तदनन्तर सोम खरीदने के लिये गौ की महिमा के वर्णन द्वारा कला, पद, अर्ध तथा पूर्ण गौ द्वारा पणन (सौदा) करते हुए क्रय किया जाता है। खरीदने के बाद स्वर्ण, वस्त्र, अजा इत्यादि दस पदार्थ और अधिक दिये जाते हैं। यजमान सोम को सिर पर रखकर लाता है तथा शकट में सोम के ऊपर पर्याणहन वस्त्र का वितान (चंदोवा) फैलाकर लाये जाते हुए सोमराजा का अनुगमन यजमान एवं समस्त ऋत्विज् करते हैं। इस अवसर पर सुब्रह्मण्य द्वारा इन्द्र के लिये सुब्रह्मण्याह्वान किया जाता है। लाये गये सोम को सोमसन्दी पर कृष्ण मृगचर्म बिछाकर आहवनीय के दक्षिण में स्थापित करते हैं। यजमान शकट के वाहक दोनों बैलों को सुब्रह्मण्य को दे देता है।

तदनन्तर सोमराजा के आतिथ्य-स्वागत के लिये आतिथ्येष्टि की जाती है। इसमें वैष्णव नवकपाल पुरोडाश प्रधान हवि है। इसके बाद तानूनप्त्र के सम्पादन

हेतु यजमान के व्रतप्रदान पात्र में सभी ऋत्विग्गण तथा यजमान आज्य ग्रहण करते हैं।[8] अध्वर्यु उस घृत को हिरण्यादिसहित ढक्कर रख देता है। अपराह्ण में दीक्षित के लिये दीयमान व्रत (अशन) में इस घृत को मिलाकर दिया जाता है, यह इसका उपयोग है। तदनन्तर अवान्तर दीक्षा में मुष्टिमेखलादि को अधिक दृढतर किया जाता है। चार मुख्य ऋत्विजों में आग्नीध्र तथा यजमान अनामिका में हिरण्यबन्धन (धारण) करके मदन्ती संज्ञक जलों का स्पर्श कर सोमप्यायन (स्पर्श) करते हैं।[9] तदनन्तर सुब्रह्मण्याह्वान होता है। इस प्रकार आतिथ्येष्टि की पूर्ति होती है।

इसके अनन्तर प्रवर्ग्य कर्म के लिये होता स्तुति तथा प्रस्तोता गायन करते हैं। अध्वर्यु महावीर पात्र आदि का संस्कार करके गौ को दुहता है तथा प्रतिप्रस्थाता अजा को दुहकर दोनों शाला में आते हैं। प्राप्त घृत से भरे हुए महावीर पात्र में अजा तथा गौ के दुग्ध को गिराने पर ज्वाला उत्पन्न होती है। महावीर पात्र में स्थित हुतशेष को उछाल कर महावीर पात्र को आहवनीय के उत्तर में रखते हैं। प्रवर्ग्य में रोहिण पुरोडाश का हवन होता है। उपयमनी स्त्रुक् में गृहीत घर्म का होम कर धर्मशेष का ऋत्विग्गण भक्षण करते हैं।[10] इस प्रकार प्रवर्ग्य सम्पन्न करके उपसत् इष्टि की जाती है।[11] इसमें अग्नि, सोम तथा विष्णु देवता हैं। 'या ते अग्नेऽय:शया' इत्यादि मन्त्र से उपसद्धोम होता है। पौर्वाह्णिकी उपसदिष्टि के अनुष्ठानानन्तर आपराह्णिक प्रवर्ग्य, तदनन्तर आपराह्णिकी उपसदिष्टि की जाती है। इसमें केवल मन्त्र की भिन्नता है। इस प्रकार द्वितीय दिन का कृत्य पूर्ण होता है।

तीसरे दिन प्रात: पौर्वाह्णिक प्रवर्ग्य तथा पौर्वाह्णिकी उपसत् होती है। उसके बाद महावेदि का निर्माण किया जाता है। एतदर्थ शाला के पूर्वार्घ्य स्तम्भ से पूर्व में तीन प्रक्रम चलकर वहाँ शंकु गाडा जाता है। इसको अन्त:पात्य कहते हैं। अन्त:पात्य से दक्षिण में पन्द्रह अथवा साढे सत्रह प्रक्रम पर शंकु गाडा जाता है। यह महावेदि की दक्षिण श्रोणी होती है। इसी प्रकार अन्त:पात्य के उत्तर में पन्द्रह अथवा साढे सत्रह प्रक्रम पर शंकु गाडा जाता है, यह महावेदि की उत्तर श्रोणि है। अन्त:पात्य शंकु से पूर्व में छत्तीस प्रक्रम नापकर शंकु गाडते हैं। यह वेदि का पूर्वार्ध तथा यूपावट स्थान होता है। उस पूर्वार्ध्य शंकु से दक्षिण बारह प्रक्रम पर शंकु गाडते हैं, वह महावेदि का दक्षिण अंस है। इस प्रकार वेदि का निर्माण करने के बाद दक्षिण श्रोणि से प्रारम्भ कर दक्षिणांस तक तथा उत्तरश्रोणि से उत्तरांस तक स्पय

से रेखा की जाती है। उत्तर में उत्कर तथा चात्वाल बनाये जाते हैं। तदनन्तर युगमात्रा अथवा दशपद्या उत्तरवेदि का साधन करने के बाद आपराह्णिक प्रवर्ग्य तथा आपराह्णिकी उपसत् के अनुष्ठान तक तृतीय दिन का कृत्य सम्पन्न होता है।

चतुर्थ दिन प्रातः पौर्वाह्णिक प्रवर्ग्य तथा पौर्वाह्णिकी उपसदिष्टि पूर्व की भाँति मन्त्रभेद से होती है। आपराह्णिक प्रवर्ग्य तथा आपराह्णिकी उपसत् अनुष्ठित करने के अनन्तर होम, प्रवर्ग्य सामगायनादि दक्षिणादानपर्यन्त क्रियाकलाप द्वारा प्रवर्ग्योत्सादन होता है। तदनन्तर अग्निप्रणयन किया जाता है। उसके बाद हविर्धान शकटों का शाला के आगे दक्षिण एवं उत्तर में स्थापन तथा समचतुरस्र हविर्धान मण्डप का निष्पादन अध्वर्यु करता है। हविर्धानमण्डप के क्षेत्र को चार भागों में विभक्त करके दक्षिण-पूर्व चतुरस्र के मध्य में दो प्रादेश के माप का चतुरस्र बनाकर उसके कोणों में परस्पर प्रादेशमात्र के अन्तराल के उपरव बाहुमात्र (देवयाज्ञिक) परिमाण में खननीय होते हैं। तदनन्तर अन्तःपात्य से 6 प्रक्रम पूर्व में जाकर दक्षिण में सातवें प्रक्रम पर यजमान के बराबर की औदुम्बरी (शाखा) को विधिपूर्वक गाडा जाता है। उस पर औदुम्बरी को मध्य में रखते हुए दक्षिणोत्तर लम्बाई में अठारह अरत्नि तथा पूर्व-पश्चिम चौडाई में नौ अरत्नि के माप से दीर्घचतुरस्र सदोमण्डप का निर्माण स्थूणा (स्तम्भ) छदि तथा चतुर्दिक् आवरण आदि के द्वारा किया जाता है। उसके बाद हविर्धान के उत्तर में पाँच अरत्नि माप से आग्नीध्रीयागार निर्मित करके उसके मध्य में अठारह अङ्गुल समचतुरस्र स्थान में मिट्टी बालू आदि फैलाकर आग्नीध्रीय धिष्ण्य का निष्पादन होता है। इसी प्रकार यथास्थज होतृधिष्ण्य, मैत्रावरुण धिष्ण्य, ब्राह्मणाच्छंसि धिष्ण्य, पोतृधिष्ण्य, नेष्टृधिष्ण्य, अच्छावाकधिष्ण्य तथा मार्जालीयधिष्ण्य का सम्पादन होता है।

तदनन्तर अग्नीषोमीय पशुतन्त्र में यजमान सोम लाते हुए अध्वर्यु का अनुगमन करता है। अन्य अध्वर्युगण के ऋत्विज, पाँच ग्रावा (प्रस्तर), द्रोणकलश, सोमोपयोगी पात्र आदि लेकर चलते हैं तथा आग्नीध्रीयागार में रखते हैं। वहाँ अग्नीषोमीय पशु को भी लाकर बाँधते हैं। यजमान पोट्टलिका में रखे गये सोम का उपस्थान करके अङ्गुलिविसर्जन करता है। तदनन्तर पशु के नियोजन के लिये यूपावटखनन आदि पाशुकतन्त्र, परिपशव्याहुति तथा वपाहोम किया जाता है। उसके बाद बहते हुए जल के समीप जाकर 'वसतीवरी जल' का ग्रहण करके[12] यजमान के प्रपितामह,

प्रपितामही पर्यन्त नाम लेकर तथा प्रपौत्र पर्यन्त (होने वालों के भी) नामग्रहणपूर्वक सुब्रह्मण्याह्वान ('अमुष्य प्रपौत्रो यजते' इत्यादि) होता है। तदनन्तर पशुपुरोडाश होम[13] करने के बाद पश्वङ्गयाग होता है। इस सुत्या के पूर्वदिन में यजमान एवं पत्नी रात्रि में जागते हुए ही सोम की रक्षा करते हैं। इस प्रकार चतुर्थदिन का कार्य पूर्ण होता है।

पञ्चम दिन सुत्या (सोमाभिषव) का दिवस कहा जाता है। सर्वप्रथम यजमान सोम लेकर हविर्धान मण्डप में प्रवेश करता है। प्रातरनुवाक तथा सुब्रह्मण्याह्वान सम्पन्न करके पाँच सवनीय हवियों (ऐन्द्र एकादशकपाल पुरोडाश, हरिदैवत्य धाना, पूषा हेतु करम्भ, सरस्वती के लिये दधि तथा मित्रावरुणों की पयस्या) का निर्वाप अग्नीत् करता है। तदनन्तर उन्नेता पात्रयोजन करता है, जिसमें दक्षिण हविर्धानशकट के पूर्व में स्थित खर के उत्तरपूर्वार्ध में उपांशुसवनपात्र, उसके उत्तर में अन्तर्याम पात्र रखता है। उसके बाद पश्चिम में क्रम से ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण तथा आश्विन संज्ञक ग्रहपात्रों को रखता है। इसी प्रकार शुक्र-मन्थिग्रहपात्रद्वय, आग्रयणस्थाली, आदित्यस्थाली, आदित्यग्रहपात्र, ऋतुपात्रद्वय, परिप्लवा, द्रोणकलश, जीवोर्णापवित्र, उभयतोदश पवित्र, ध्रुवस्थाली, प्रचरणी, पूतभृत्घट, आधवनीय, दस वैकङ्कत चमस, एकधन संज्ञक जलकुम्भ इन पात्रों का आसादन करता है। तदनन्तर जलाशय जाकर एकधन कलशों से जल ग्रहण करता है। अध्वर्यु पाँच बार सोम उपांशुसवन ग्रावा के ऊपर रखता है।

तदनन्तर महाभिषव में निग्राभ्यसंज्ञक जल से सोम का सिञ्चन करके अध्वर्युगणीय ऋत्विज्[14] ग्राव से प्रहार करते हैं। तथा सम्भरणी में अभिषुत सोम का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार तीन बार किया जाता है। इसके बाद क्षुल्लकाभिषव (उपांश्वभिषव) में अध्वर्यु अकेला ही अलग रखे गये सोम के भाग को लेकर सेचन करके सात बार (सरलाकार के अनुसार आठबार) प्रहार करता है। उभयतोदशपवित्र से सोम निचोड कर उपांशुग्रहपात्र के गर्त में सोमरस गिराया जाता है। यह प्रक्रिया तीन बार होती है। इस प्रकार क्षुल्लकाभिषव के बाद मन्त्र द्वारा उपांशुग्रहहोम की समस्त विधि सूर्य के अनुदित रहने पर ही अनुष्ठित की जाती है। सूर्योदय होने पर सर्वप्रथम अन्तर्यामग्रह प्रचार (ग्रहण, होम आदि) किया जाता है। तदनन्तर क्रम से ऐन्द्रवायव (दोबार), मैत्रावरुण, शुक्र, मन्थि ग्रहों में तथा आग्रयणस्थाली, आग्रयणपात्र, उक्थ्यस्थाली, ध्रुवस्थाली, वैश्वानरग्रह (विकल्प से), द्रोणकलश,

इनमें सोम का ग्रहण होता है। तैत्तिरीय शाखा के दधि, अदाम्य, तथा अंशुग्रह कात्यायन में उल्लिखित नहीं किये हैं यह विशेष है। तदनन्तर विप्रुड्होम सम्पन्न करके बहिष्पवमानस्तोत्रोपाकरण के लिये अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता एवं यजमान परस्पर स्पर्श करते हुए सर्पण करते हैं। बहिष्पवमानस्तोत्रगान के बाद धिष्ण्याग्निविहरण तथा सवनीय हवियों का सम्पादन करके आश्विनग्रह का ग्रहण होता है। ध्रुवस्थाली को सुरक्षित कर तथा सवनीयपशुतन्त्र समाप्त करके पुरोडाशादि सवनीय हवियों का होम एवम् ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, आश्विनग्रहों का होम किया जाता है। उसके बाद चमसपात्रों को सोमरस से भरकर, शुक्रामन्थिग्रहों का हवन करके प्रशास्तृ-ब्राह्मणाच्छंसि-पोतृ-नेष्टृ-अग्नीत् चमसों का सशेष हवन होता है। द्विदैवत्यग्रहभक्षण में ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, आश्विन ग्रहों का घ्राणात्मक भक्ष[15] तथा इसी प्रकार शुक्रामन्थिग्रहहोम निमित्त भक्ष के बाद ब्रह्मा, यजमान, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसि, पोता, नेष्टा तथा अग्नीत् के चमसों का सशेष भक्षण पहले होता तदनन्तर अध्वर्यु करता है।[16] उसके बाद अच्छावाकचमसोन्नयन में चमसहोम तथा भक्षण, ऋतुग्रहग्रहण तथा होम, ऐन्द्राग्नग्रहग्रहण, ऋतुग्रहशेषभक्षण, ऐन्द्राग्नग्रहहोम और शेषभक्षण, तन्निमित्त चमसभक्षण, वैश्वदेव ग्रहग्रहण, होम, शेषभक्षण और तन्निमित्त चमभक्षण, स्थाली से प्रथम, द्वितीय, तृतीय उक्थ्यविग्रहग्रहण,[17] प्रचार, होम, शेषभक्षण तथा तन्निमित्त चमसभक्षण—ये कृत्य क्रमशः अनुष्ठित होते हैं। यह प्रातःसवन का क्रम है।

इसी प्रकार माध्यन्दिन सवन में भी सोमाभिषव, ग्रहग्रहण, माध्यन्दिन पवमानस्तोत्रोपाकरण, दधिघर्मयाग इत्यादि चमसभक्षण पर्यन्त कार्य होते हैं। तदनन्तर दक्षिणादान में सबसे पहले अग्नीत् को तदनन्तर क्रमशः ब्रह्मा, उद्गाता, होता, प्रस्तोता, प्रशास्ता, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक, उन्नेता, ग्रावस्तुत् तथा सुब्रह्मण्य को दक्षिणार्थ गौ एवं स्वर्ण दिया जाता है। अन्य उपगाता चमसाध्वर्यु आदि परिकर्मियों को भी स्वर्णदक्षिणा दी जाती है। अन्त में प्रतिहर्ता को दक्षिणादान होता है। सबमें यजमान सङ्कल्पपूर्वक दक्षिणा देता है तथा पत्नी भी 'अहमपि ददे' इस प्रकार अनुमन्य करती है। इसके बाद मरुत्वतीय महामरुत्वतीय[17] माहेन्द्र ग्रहों का ग्रहण, होम, तन्निमित्त चमसभक्षण होता है।

तृतीयसवन में आदित्य तथा आग्रयणग्रहहोम, सवनमुखचमसहोम, तन्निमित्त चमसभक्षण, पितरों के लिये पुरोडाशभाग का पिण्डदान, सावित्र तथा

महावैश्वदेवग्रहहोम, सौम्यचरुहोम, पात्नीवतग्रहहोम आदि क्रमशः होते हैं। तदनन्तर यज्ञायज्ञियस्तोत्रोपाकरण[18] होतृचमसादि का निःशेष भक्षण, हारियोजन ग्रहहोम (द्रोण कलश से), दधिभक्षण, **समिष्टयजुर्होम** आदि उत्तरतन्त्र अनुष्ठित होता है। सरलावृत्तिकार के अनुसार यहाँ तृतीयसवन पूर्ण होता है। तदनन्तर अवभृथ में कृष्णविषाण, मेखला, पत्नीयोक्त्र आदि को चात्वाल में फेंककर समस्त सोमलिप्त पात्र औदुम्बरी आसन्दी आदि लेकर सब सरोवर पर जाकर वारुण पुरोडाश सम्पन्न करके ऋजीषकुम्भ को बहाकर स्नान के बाद सोमलिप्त सब सम्भार जल में प्रक्षेप करते हैं तथा देवयजन स्थल में जाकर उदयनीयेष्टि, अनूबन्ध्या (के पशुविकल्प में पयस्येष्टि) तथा उदवसानीयेष्टि सम्पादित की जाती हैं। उदवसानीया में आग्नेय पञ्चकपाल हवि है। तदनन्तर सहस्र ब्राह्मणों का भोजन सम्पन्न कर अग्निका समारोप करके देवयजन को प्रदीप्त (देवयाज्ञिक) अथवा बर्हि को जलाकर (कर्क) यजमान अपने ग्राम में प्रवेश करे। यह संक्षेप में अग्निष्टोम का पदार्थ क्रम है।

सुप्रथित ज्योतिष्टोम की चार संस्थाओं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, एवं अतिरात्र में सर्वप्रथम इस याग की प्रक्रिया के कतिपय उपदेश साम्प्रतिक सन्दर्भ में भी उपादेय हैं। दीक्षित यजमान के वाग्व्यवहार के नियम प्रत्येक समाज के सुशिक्षित नागरिक के लिये अनुशासन हैं। सोमक्रय की पद्धति में पणन द्वारा लौकिक व्यवहार की शिक्षा दी गयी है, तो साथ ही क्रय के अनन्तर निर्धारित द्रव्य से अधिक वस्तुएँ प्रदान कर औदार्य का उपदेश दिया गया है। सोमलता को राजा की भाँति आदर-सम्मान की रीति भारतीय परम्परा में पर्यावरण-सुरक्षा का सन्देश प्रदान करती है। पात्रासादन का श्रौत प्रभाव तान्त्रिक परम्परा ने तो ग्रहण किया है, साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को गृह-व्यवस्था की प्रेरणा भी देता है। इस प्रकार अग्निष्टोम याग में साम्प्रतिक सन्दर्भ हेतु अनेक उपादेय शिक्षाएँ निहित है।



सन्दर्भ

1. प्रकृतिस्त्रिविधाग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासावग्निष्टोम इति, अन्या विकृतिरूपा (आधानपद्धतौ)
2. द्र. सोमेज्या च ब्राह्मणस्य (सत्या, श्रौ. 3/1), अग्निष्टोमः प्रजन इति (वैखा.श्रौ. 20/1), सोमे चैके (का.श्रौ.), पशुसोमैश्च यजेत नैयमिकं ह्येतद् (वसिष्ठधर्म.)
3. स त्रिभिर्वेदैः (आप.श्रौ.)
4. माध्यन्दिनीयानां न सदस्यवरणम्, अन्येषां तु भवति।
5. वंशो मध्यबलः प्रागायतः प्रागग्रश्च यस्य स प्राग्वंशः।
6. दशारत्निप्रमाणको द्वादशारत्निप्रमाणको वा चतुरस्रो मण्डपो विमितम्।
7. विंशत्यरत्न्यायामो दशारत्निपरिणाहो मण्डपः शाला।
8. प्रयान्ति स्वर्गमनयेति प्रायणीयः।
9. तानूनप्त्राज्यस्पर्शः परस्परमद्रोहार्थं शपथरूपः।
10. मन्दतप्ता आपो मदन्तीः। आतिथ्येष्टिप्रभृति मदन्तीनां जलानामेव ग्रहणं सर्वेषूदककर्मसु, न शीतानाम्।
11. प्रथमेऽग्निष्टोमे प्रवर्ग्यो विकल्प्यते, द्वितीयादौ नित्यः। प्रवर्ग्यकर्म पत्न्या नावेक्षणीयम्। तप्ते घृते पयः प्रक्षेपादिना प्रणीयते धर्मः खाद्यविशेषः।
12. ज्योतिष्टोमे त्रिषु दिवसेषु षडुपसदः।
13. सोमाभिषवकाले रसवृद्ध्यर्थं या आपस्तत्र प्रक्षिप्यन्ते ता वसतीवर्यः।
14. यद्दैवत्यः पशुस्तद्दैवत्यः पुरोडाश इति नियमः।
15. सोमाभिषवार्थमुपवेष्टारः अध्वर्युप्रतिप्रस्थातृप्रस्तोतृप्रतिहर्तृयजमानाः ब्रह्मा च।
16. लिम्पेदिवैव जिघ्रेदत्र (शा.श्रौ.)
17. कात्यायनानां होमकर्तुः प्रथमभक्षः, न वषट्कर्तुः।
18. उक्थ्यस्य त्रेधा विभज्य ग्रहणम्।
19. क्रुष्टमरुत्वतीयोऽपीति सरलायाम्।
20. इदमन्तिमं सामगानमग्निष्टोमयागे। न ततः सामान्तरमस्ति।



7

आधुनिक सन्दर्भ में प्रमुख श्रौतयागों में सोमयाग की उपादेयता

डॉ. विनायक त्रिपाठी
शासकीय संस्कृत महाविद्यालय,
रीवा (मध्यप्रदेश)

''यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकम्महिमान: सचन्त यत्र पूर्वे साध्या: सन्ति देवा: ॥''

समस्त श्रौतयाग आज भी उतने ही उपादेय हैं, जितने कि वैदिक युग में थे, क्योंकि ये याग भारतवर्ष के मूलस्वरूप के संरक्षण में, उसके संप्रवर्धन में, मानवधर्म के प्रसारण एवं राष्ट्रीय एकता के लिये सभी जनों को एक साथ लेकर चलने में, मानव मात्र का लौकिक एवं पारलौकिक सब प्रकार से कल्याण प्रदान करने वाले, भारतीय संस्कृति के स्वरूप को बताने वाले तथा उसकी रक्षा करने में समर्थ हैं। वेदों में आया है—

''स्वर्गकामो यजेत, अग्निहोत्रं जुहुयात्, स्वर्गकाम: स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत, पशुकाम: श्येनैनाभिचरन् यजेत, सावित्रं स्वर्गकामाश्चिन्वीत, वृष्टिकामाश्चिन्वीत, ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकाम: ऐन्द्राग्नमेकादश कपालं निर्वपेत्, प्रजाकाम: एष वै यज्ञ: स्वर्ग्यो यदग्निष्टोम: ।''

इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है कि इस लोक में सकल कल्याण के साधने वाले तथा परलोक में भी सहायक होकर स्वर्ग की प्राप्ति तथा मोक्ष प्रदान करने

वाले श्रौतयज्ञ हैं। अथर्ववेद (9/15/14) में आया है कि—"अयं यज्ञो भुवनस्य नाभि:।"

अर्थात् सभी लोकों की उत्पत्ति यज्ञ से ही होती है, तथा—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमान: सचन्त यत्र पूर्वे साध्या: सन्ति देवा:॥
(शुक्लयजुर्वेद 31/16)

तथाच—

"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच: सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादत:।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावय:॥"
(शुक्लयजुर्वेद 31/7-8)

इत्यादि मन्त्रों से प्रमाणित है कि सभी जीवों की उत्पत्ति यज्ञ के द्वारा ही हुई और होती है। यज्ञ ही सभी प्रकार के कल्याण प्रदान करने वाले तथा सृष्टि की रक्षा करने वाले हैं, ऐसा वेदों में अनेकत्र उल्लेख है।

मनुष्यों के लिये चार प्रकार के कर्म बताये गये हैं—अप्रशस्त, प्रशस्त, श्रेष्ठ और श्रेष्ठतम।

लोक-हित के विरुद्ध होने के कारण चौर्यादि कर्म अप्रशस्त कहे गये हैं तथा लोक में श्लाघनीय बन्धुवर्ग का पोषणादि कर्म प्रशस्त कर्म है। स्मृतियों में कहे गये वापीकूपतड़ागादि का निर्माण श्रेष्ठ कर्म की श्रेणी में आता है। वेदों द्वारा प्रतिपादित यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है—"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।" (शतपथ ब्राह्मण 1.7.1.5)।

"यज्ञो वै विष्णु:" (शतपथ ब्राह्मण 1/1/2/13)। इत्यादि वाक्यों के द्वारा शतपथ ब्राह्मण में ईश्वर रूप में ही यज्ञ का वर्णन किया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता (3/9) में कहा है कि—"यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:।" अर्थात् यज्ञ से अतिरिक्त कर्म इस संसार में मनुष्य के बन्धन कारक हैं। यज्ञ के द्वारा ही मनुष्य इस लोक में सभी प्रकार के वस्तुओं का उपभोग करके अन्त

में स्वर्ग तथा मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ होता है। इसलिये भगवान् जैमिनि ने भी मीमांसा में कहा है कि—''**स्वर्गकामो यजेत।**''

परन्तु दुर्भाग्यवश आज स्वतन्त्र भारत में भी लोग इन यज्ञों को विस्मृत करते जा रहे हैं। तथापि आज भी कहीं-कहीं श्रौतयज्ञ होते हैं। जिस दिन श्रौतयज्ञों की परम्परा नष्ट हो जायेगी, उस दिन अति प्राचीनकाल से प्राप्त वेद के सारभूत यज्ञों का पारम्परिक ज्ञान भी लुप्त हो जायेगा। इनके लुप्त हो जाने से भारतीय संस्कृति भी नष्ट हो जायेगी। वर्तमान में श्रौतयागों की उतनी ही उपादेयता है जितनी पूर्व में थी। इसलिये श्रौतयज्ञों की परम्परा की रक्षा करना आवश्यक है।

''यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु''—इस धातु से यज्ञ शब्द की निष्पत्ति होती है। परन्तु आज किसी भी समारोह को यज्ञ शब्द से व्यवहृत करते हैं, परन्तु शास्त्रों में लिखा है कि—

''**देवानां देय हविषां ऋक्सामयजुषां तथा।**
ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते॥''

अर्थात् देवताओं का एवं दी जाने वाली हवियों का, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद के मन्त्रों का, ऋत्विजों का एवं दक्षिणा का जहाँ पर संयोग होता है, उसे यज्ञ कहते हैं।

यज्ञ दो प्रकार के होते हैं—1. गृह्य यज्ञ 2. श्रौतयज्ञ। गृह्ययज्ञ के स्वरूप का वर्णन गृह्यसूत्रों में तथा श्रौतयज्ञ के स्वरूप का वर्णन श्रौतसूत्रों में किया गया है। उन यज्ञों का वर्णन संक्षेप में यहाँ किया जा रहा है।

गृह्य यज्ञ 7 प्रकार के होते हैं—1. औपासन होम, 2. वैश्वदेवम्, 3. पार्वण, 4. अष्टका, 5. मासिक श्राद्ध, 6. श्रवण, 7. शूलगव।

विधिपूर्वक अन्याधान करके पूर्णिमा और अमावास्या को दर्शपूर्णमास याग किये जाते हैं। हविर्यज्ञ की सभी इष्टियों का प्रकृतियाग दर्शपूर्णमासेष्टि कहलाता है।

''**यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति।**'' **(आप.श्रौ.सू. 3/14/11)**

इसके अनुसार जीवनभर अग्निहोत्र याग करना चाहिये। तथा पुन: लेख है कि—''यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत।'' (आप.श्रौ.सू. 3/14/11)

यदि जीवनभर दर्शपूर्णमास न करना हो तो कम से कम तीस वर्ष अवश्य करना चाहिये। यदि 30 वर्ष भी करने में असमर्थ हो तो उसके विकल्प में दाक्षायण याग का विधान है। यह याग 15 वर्ष करके ही समाप्त कर सकते हैं, क्योंकि दर्शपूर्णमास याग पूर्णिमा से प्रारम्भ कर प्रतिपदा में समाप्त करते हैं तथा दर्शयाग अमावस्या में प्रारम्भ कर प्रतिपदा में समाप्त करते हैं। दोनों यागों को मिलाकर 1 याग माना गया है। दाक्षायण याग अमावास्या और पूर्णिमा को होता है, अत: इसे दो याग मानते हैं। इसलिये इस यज्ञ के सम्पादन से 15 वर्ष में ही 30 वर्ष का कार्य पूर्ण हो जाता है।

पौर्णमास याग में अग्नि के लिए अष्टकपाल पुरोडाश याग तथा अग्निषोम के लिए घी से उपांशुयाग और अग्नीषोमीय एकादशकपाल पुरोडाश याग होता है तथा दर्शयाग में आग्नेय पुरोडाश याग प्रथम तथा इन्द्र के लिए दधिद्रव्यक दूसरा और इन्द्र देवता के लिए दूध के द्वारा तीसरा याग होता है। इस प्रकार दोनों मिलाकर 6 याग होते हैं। इसके बाद चातुर्मास्ययाग होते हैं। चार-चार मास में इस याग का अनुष्ठान होता है, इसलिये इसका नाम चातुर्मास्य याग है। इसके 4 पर्व होते हैं—1. वैश्वदेव, 2. वरुण प्रघास, 3. साकमेध तथा 4. शुनासीरीय।

इसके बाद निरूढ़ पशुबन्ध प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु में होता है तथा उत्तरायण के आरम्भ में तथा दक्षिणायन के आरम्भ में विकल्प से 2 बार भी होता है। इसके बाद आग्रयणेष्टियाग शरद् ऋतु में तथा वसन्त में 2 बार होता है। यह याग नये अन्न से होता है तथा इसके बाद ही नवान्न भक्षण होता है। इसके पश्चात् सौत्रामणीयाग होता है। यह दो प्रकार का है—

1. स्वतन्त्र याग 2. अङ्गयाग।

यह भी नित्य, काम्य तथा नैमित्तिक भेद से 3 प्रकार का होता है। ये सभी यज्ञ स्मार्त अग्नि में किये जाते हैं, जिसका नाम आवसथ्याग्नि भी है।

"आवसथ्याधानं दारकाले दायाद्यकाले वा एकेषाम्।"

(पारस्कर गृह्यसूत्र)

अत: इस याग को विवाह या दायाद्यकाल में सुविधानुसार किया जा सकता है। याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि—

"कर्म स्मार्त्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही।
दायकालाहृते वापि श्रौतं वैतानिकाग्निषु॥"

(याज्ञवल्क्य स्मृति 1/97)

इन प्रमाणों से निश्चित है कि सीमन्तोन्नयन आदि संस्कार स्मार्त्त अग्नि में ही किये जाते हैं। श्रौतयज्ञ विधिपूर्वक स्थापित श्रौत अग्नि में ही किये जाते हैं। श्रौत अग्नि की स्थापना सपत्नीक यजमान के द्वारा ही की जाती है। आधानपूर्वक श्रौताग्नि की स्थापना की जाती है। आधान का समय है—

"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः वर्षासु वैश्यः।"

का.श्रौ.सू.

जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत। कात्यायन श्रौत-सूत्रम्

इन श्रुतियों से स्पष्ट है कि 25 वर्ष के ऊपर तथा 40 वर्ष के पूर्व सपत्नीक पुरुष के द्वारा अग्नि की स्थापना की जाती है। यद्यपि श्रुतियों में वैदिक कर्म 5 प्रकार के बताये गये हैं। यथा—

"स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशुः, सोमः इति।" परन्तु हवि और सोम के भेद से श्रौतयज्ञ 2 प्रकार के ही होते हैं। अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य, निरूढ़ पशुबन्ध, सौत्रामणी तथा पिण्डपितृयज्ञ ये सात हविर्यज्ञ कहलाते हैं एवं अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम ये सात सोमयज्ञ संस्था हैं।

सात हविर्यज्ञों में अग्निहोत्र प्रथम है, अग्नि का आधान करके गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि में अग्नि स्थापित करके प्रतिदिन सायं प्रातः होम किया जाता है। होम स्वयं ही करना चाहिये, यदि स्वयं न कर सके तो पुत्रों या ऋत्विजों के द्वारा किया जा सकता है। दूध, दही तथा यवागू हवन करने के लिये मुख्य द्रव्य हैं। कामनापरक अन्य द्रव्य भी स्मृतियों में प्राप्त होते हैं। यथा—

"तैलं दधि पयः सोमं यवागू ओदनं घृतम्।
तण्डुलाः फलमापश्च दश द्रव्याण्यकामतः॥"

—स्मार्तोल्लास

गार्हपत्य में ही अग्नि निरन्तर प्रज्ज्वलित रहती है। हवन के समय आहवनीय से अग्नि ले जाकर होम करते हैं, भोजनादि पकाने का कार्य दक्षिणाग्नि से करते हैं, इस प्रकार जीवन भर अग्निहोत्र करने का नियम है। अग्निहोत्री के मरणोपरान्त उसी अग्नि से उसका दाह संस्कार होता है। उसके बाद वह अग्नि बुझा दी जाती है।

सोमसंस्था—सोमयाग की सात संस्थाओं में अग्निष्टोम प्रमुख है। यह सभी सोम यागों का प्रकृति याग है। अग्निष्टोम स्तोत्र से इस याग की समाप्ति होती है, इसलिए इसका नाम अग्निष्टोम याग है। सोमलता का रस निकालकर उसके रस से ही याग किया जाता है, इसलिये इसका नाम सोमयाग है। सोमयाग का वही अधिकारी है, जो **कूष्माण्ड संज्ञक** मन्त्रों का पाठकर तथा पुण्यतीर्थों में स्नान कर पवित्र हो जाता है तथा जिसके पिता, पितामह ने वेद का अध्ययन नहीं किया है और अग्निहोत्रादि तथा सोमयाग नहीं किये हैं, वे सोमयाग के अधिकारी नहीं हैं, परन्तु ऐन्द्राग्नपशुयाग करके अधिकार प्राप्त हो सकता है। कात्यायन ने कहा है कि—"**ऐन्द्राग्नं पुनरुत्सृष्टमालभ्य द्विपुरुषा सोमपीथिनः।**"

(का.श्रौ.सू. 7/1/6)

यह अग्निष्टोम याग वसन्त ऋतु में होता है—"वसन्तेऽग्निष्टोमः।" [का.श्रौ.सू. 7/1/5] परन्तु इसकी दो विधियाँ हैं। एक यह कि नियमानुसार अग्न्याधान करके अग्निहोत्र तथा दर्शपूर्णमासादियाग करके वसन्त ऋतु में समय निश्चित कर सप्तमी, अष्टमी या दशमी में प्रारम्भ करना चाहिये। इसमें 16 ऋत्विज् होते हैं। यथा—

"**षोडशर्त्विजो ब्रह्मोद्गातृ – होत्रध्वर्यु – ब्राह्मणाच्छंसि – प्रस्तोतृ – मैत्रावरुण – प्रतिप्रस्थातृ – पोतृ – प्रतिहर्त्रच्छावाक – नेष्ट्रग्नीत् – सुब्रह्मण्य – ग्रावस्तुदुन्नेतृन् वृणीते।**" [का.श्रौ.सू. 7/1/7]

इसमें 4 गण होते हैं। यथा—

अध्वर्युगण	ब्रह्मगण	होतृगण	उद्गातृगण
1. अध्वर्युः	1. ब्रह्मा	1. होता	1. उद्गाता
2. प्रतिप्रस्थाता	2. ब्राह्मणाच्छंसी	2. मैत्रावरुण	2. प्रस्तोता
3. नेष्टा	3. आग्नीध्र	3. अच्छावाक	3. प्रतिहर्त्ता
4. उन्नेता	4. पोता	4. ग्रावस्तुत	4. सुब्रह्मण्य

इसमें अध्वर्युगण यजुर्वेदी, ब्रह्मगण अथर्ववेदी, होतृगण ऋग्वेदी तथा उद्गातृगण सामवेदी होते हैं। इसी क्रम से दक्षिणा भी दी जाती है। अध्वर्यु को जो दिया

जाता है, उसका आधा प्रतिप्रस्थाता को, अध्वर्यु का तृतीयांश नेष्टा को और अध्वर्यु का चतुर्थांश उन्नेता को दिया जाता है। यही क्रम सभी गणों में रहेगा।

सोमयाग 4 प्रकार का होता है—एकाह, अहीन, साद्यस्क और सत्र। इसी प्रकार एक, तीन, चार, बारह तथा अपरिमित दीक्षा सोमयाग में होती है। जब एक ही दिन में सम्पूर्ण अनुष्ठान सोमयाग का सम्पन्न कर लेते हैं, उसे एकाह कहते है तथा सोमयाग के दूसरे, तीसरे आदि दिनों में आवृत्ति करके यज्ञ पूर्ण करते हैं, उसको अहीन याग कहते हैं। दो रात्रि से लेकर 10 रात्रि पर्यन्त यज्ञ को **अहीन याग** कहते हैं। ग्यारह रात्रि से हजारों वर्ष पर्यन्त जो सोमयाग करते हैं, उसे **सत्रयाग** कहते हैं। एक ही दिन में संकल्प से लेकर अवभृथ तक अनुष्ठान की समाप्ति करते हैं, उसको **साद्यस्कयाग** कहते हैं।

सोमयाग में प्रथम दिन का कार्य—सोमयाग करने वाला सपत्नीक यजमान वसन्त ऋतु के पूर्णिमा के पूर्व एक दीक्षा के पक्ष में एकादशी को संकल्प करे। ऋत्विजों को निमन्त्रित कर बुलाये गये ऋत्विजों का वरण करके मधुपर्क तथा वस्त्र एवं अलंकार आदि से पूजा करे। निर्विघ्न समाप्ति हेतु गणेशादि देवताओं का पूजन करने के पश्चात् अरणी में अग्नि का समारोप करके पूर्व निर्मित गार्हपत्य अग्नि के पास आकर अरणी मन्थन के द्वारा अग्नि उत्पन्न करके गार्हपत्य में अग्नि की स्थापना करे। पुनः अध्वर्यु वहाँ से आहवनीय में अग्नि की स्थापना करके होम करे। तत्पश्चात् दक्षिणाग्नि में अग्नि स्थापित करके दीक्षणीयेष्टि करनी चाहिये। उसमें व्रीहि के आटे से एकादश कपाल पुरोडाश का निर्माण करके दीक्षणीयेष्टि सम्पन्न करे। उसके बाद प्राचीन वंश संज्ञक शाला का निर्माण करके उसके उत्तर भाग में बाहर यजमान का वपन करके स्नानादि कृत्य किए जाते हैं। इसी प्रकार यजमान की पत्नी का भी केश छोड़कर नखनिकृन्तन, स्नान तथा वस्त्रपरिधान आदि कार्य किए जाते हैं। उसके बाद सपत्नीक यजमान प्राग्वंश मण्डप में ही शास्त्र के नियमानुसार अपनी इच्छित वस्तु अन्न आदि का भोजन करते हैं। इसके बाद सपत्नीक यजमान का अन्नादि भोजन नहीं होता है।

नियमानुसार दूध आदि वस्तुओं को ही ग्रहण करने का नियम है। उसके बाद दीक्षा कार्य प्रारम्भ होता है। दीक्षा कार्य में सपत्नीक यजमान अपने अंगों में नवनीत लगाते हैं तथा आँखों में अञ्जन भी लगाते हैं। इसके पश्चात् कृष्णाजिनादि

दीक्षा होती है। अध्वर्यु 6 दीक्षा आहुति देकर यजमान के लिये कृष्णाजिन प्रदान करता है। यजमान उसको धारण कर आहवनीय के पास जाकर कृष्णाजिन को फैलाकर उसके ऊपर बैठता है। इसके बाद अध्वर्यु द्वारा दी हुई मुञ्जतृण से निर्मित मेखला को कटि में बाँधकर शरीर खुजलाने हेतु कृष्ण मृग का शृङ्ग धारण कर उदुम्बर वृक्ष का दण्ड अपने बराबर धारण करता है। यदि शरीर में खुजली होती है तो कृष्णमृग के शृंग से ही खुजलाता है, नाखून से नहीं। इसी प्रकार यजमान की पत्नी को भी अध्वर्यु सिर के ऊपर बाँधने हेतु जाल देता है तथा कटिभाग में मुञ्ज निर्मित योक्त्र बाँधने के लिये देता है। फिर यजमान का मुष्टिबन्धन कर्म होता है। तत्पश्चात् अध्वर्यु यजमान के पिता, पितामह तथा प्रपितामह का एवं माता, पितामही, प्रपितामही का नाम लेकर "दीक्षितोऽयं ब्राह्मण:" यह ऊँचे स्वर से बोलता है—

"ब्राह्मण इत्येव वैश्यराजन्ययोरपि श्रुते: ।" (का.श्रौ.सू. 7/4/11)

इसके अनुसार क्षत्रिय तथा वैश्य की दीक्षा में भी उन्हें ब्राह्मण ही कहा जायेगा। इसके बाद यजमान रात्रि में नक्षत्रों के उदय पर्यन्त मौन धारण करता है। नक्षत्रोदय के बाद मौन छोड़कर व्रत अर्थात् पय:पान करता है। उस रात्रि में सपत्नीक यजमान जागरण करता है और उस समय से यज्ञ-समाप्ति पर्यन्त दीक्षित के निम्न नियमों को धारण करता है—"शूद्रसम्प्रवेश - सम्भाषा - प्रत्युत्थानाऽभिवादनोदकावाय - वर्षाणि वर्जयेत् ।" (का.श्रौ.सू. 7 / 5 / 5) तथा सत्य एवं मृदुवचन का ही प्रयोग सबके साथ करता है। सपत्नीक दीक्षित यजमान इसी प्रकार प्रतिदिन एवं रात्रि के आहार में दुग्ध ही ग्रहण करते हैं। दुग्धाभाव में दही, उदुम्बर का फल आदि भी भक्षण करने का नियम है। उसी दिन यज्ञोपयोगी द्रव्य यूप आदि छेदन के लिये स्वजनों को भेजता है तथा महावीर पात्र का निर्माण भी होता है।

सायंकाल व्रत के लिये ब्राह्मण के लिए पय:पान, क्षत्रिय के लिये यवागू और वैश्य के लिये आमिक्षा का विधान है। प्रथम दिन व्रत दोहन के लिये एक गौ को यज्ञशाला के पास लाकर एक स्तन का ही दोहन करते है। इसी प्रकार द्वितीय दिन दो स्तनों तथा तृतीय दिन 3 स्तनों के दोहन का विधान है। चतुर्थ एवं पंचम दिन केवल हवि: शेष ही भक्षण करने का नियम है।

द्वितीय दिन—दूसरे दिन आवश्यक नित्यकर्म करने के पश्चात् प्रात:काल में प्रायणीयेष्टि करते हैं। इसमें 5 देवता होते हैं—1. पथ्यास्वस्ति, 2. अग्नि, 3. सोम. 4. सविता एवं 5. अदिति।

अदिति के लिये चरु का निर्माण करते हैं, शेष चार के लिये घृत से ही हवन करते हैं। इस इष्टि के बाद जिस पात्र में चरु का निर्माण करते हैं, उसको प्रक्षालित करके उस चरु पात्र को तथा भक्षण और कुशा को गुप्त स्थान में उदयनीयेष्टि के लिये रख देते हैं। इसके पश्चात् सोमक्रय का कार्य होता है। निम्नलिखित 10 वस्तुओं से सोमक्रय करते हैं—

1. गौरेकहायनी, 2. हिरण्य, 3. अजा, 4. एवं 5. सवत्साधेनु, 6. ऋषभ, 7. अनड्वान् शकटवाही, 8. वत्सतर, 9. वत्सतरी एवं 10. वास:।

सोमक्रय करने के पश्चात् एक वस्त्र में सोम को बाँध कर हविर्धान शकट के पास ले जाते हैं। उसके बाद औदुम्बर की बनी आसन्दी पर मण्डप में सोमलता को रखते हैं। सोमलता के आतिथ्य के लिए आतिथ्येष्टि करते हैं। इसमें विष्णु देवता हेतु 9 कपाल पुरोडाश का निर्माण करके होम करते हैं। यहाँ से मदन्ती संज्ञक तपाये हुए जल से यजमान दम्पती सभी कार्य करते हैं। इसके बाद ब्रह्मा से आज्ञा प्राप्त कर अध्वर्यु प्रवर्ग्य का अनुष्ठान करते हैं। इसके पश्चात् उपसदिष्टि की जाती है। इसमें अग्नि, सोम तथा विष्णु प्रधान देवता होते हैं। सभी के लिये आज्य द्रव्य ही होता है। इस प्रकार प्रात:काल प्रवर्ग्य और उपसद् का अनुष्ठान कर सुब्रह्मण्य ऋत्विज् का आह्वान कर विराम लेते हैं।

इसी प्रकार अपराह्न में तथा सायंकाल प्रवर्ग्यानुष्ठान, उपसदिष्टि तथा सुब्रह्ण्याह्वन करते हैं। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे दिन में भी प्रवर्ग्यानुष्ठान तथा उपसदिष्टि करते हैं।

तृतीय दिन—उपसदिष्टि के दूसरे दिन तथा दीक्षा से तीसरे दिन प्रात:काल नित्यक्रिया से निवृत्त होकर प्रवर्ग्य तथा उपसद् का अनुष्ठान करके सोमयाग के लिये महावेदी का निर्माण करते हैं। महावेदी प्राचीन वंशमण्डप के आगे 6 पद छोड़कर बनानी चाहिये। इस प्रकार सभी वेदियों का निर्माण कर सपत्नीक यजमान व्रतग्रहण अर्थात् दुग्धपान करता है। सायं पुन: प्रवर्ग्य और उपसद् का अनुष्ठान कर सुब्रह्मण्या का आह्वान करते हैं। इसके बाद उस दिन विराम करते हैं।

चतुर्थ दिन—उपसद् से तीसरे दिन तथा दीक्षा से चौथे दिन प्रात: काल नित्यक्रिया के बाद प्रवर्ग्य तथा उपसद् का अनुष्ठान कर प्रवर्ग्य का उद्वासन करते हैं, इसके बाद उत्तर में प्रवर्ग्य पात्रों को छोड़कर अग्निषोमीय पशु का याग करते हैं। इसी दिन यदि यजमान के पिता, पितामह आदि वेदाध्ययन तथा सोमयाग नहीं किये हुये हैं तो प्रायश्चित्त के लिए अग्निषोमीय पशुयाग करते हैं। इसके बाद सूर्यास्त के पूर्व वसतीवरी संज्ञक जल लाते हैं। सोमलता को कूटने के समय रसवृद्धि के लिये जो जल छोड़ते हैं, उसी का नाम वसतीवरी है।

पंचम दिन—इस दिन को सुत्यादिवस भी कहते हैं। इसी दिन सोमाभिषव, ग्रहग्रहण तथा उसका भक्षण आदि कार्य होता है। सोमयाग का यह पाँचवा दिन ही प्रधान दिन है। चतुर्थ रात्रि में आधी रात के पश्चात् पक्षियों के बोलने के पूर्व ही प्रात: सवन प्रारम्भ होता है। कात्यायन श्रौतसूत्र में भी लिखा है कि—

> "प्राग्वाचं प्रवदितो: प्रातरनुवाकोऽपाकरणं देवेभ्य: प्रातर्यावभ्योऽनुब्रूहीति समिधमादधत्।" का.श्रौ.सू. 9/1/10

उसी समय प्रतिप्रस्थाता सवनीय हवि का निर्वाप करता है। वे हवि हैं—धाना:, करम्भ:, परिवाप:, पुरोडाश: और पयस्या। इनके देवता हैं—इन्द्रो हरिवान, इन्द्र पूषण्वान, सरस्वती भारती, इन्द्र:, मित्रावरुण:।

इसके बाद प्रात: प्रातरनुवाक् शस्त्र को सम्पन्न करने के बाद उन्नेता, ऐन्द्रवायवादि पात्रों को स्थापित करता है। इसके बाद उपरव के पास सोमाभिषव के लिये अधिश्रवण फलक के चारों तरफ चार ऋत्विज् बैठते हैं। तत्पश्चात् अध्वर्यु अधिश्रवण फलक के ऊपर उपांशु सवन नाम के पाषाण के बीच में सोमलता को रखता है तथा प्रात: सवन के लिये सोमलता को कूटकर रस निकालते हैं। तब सभी ऋत्विज् तथा यजमान प्रात:कालीन सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म करते हैं।

सूर्योदय के बाद अन्तर्याम संज्ञक ग्रह का ग्रहण तथा होम करते हैं। उसके बाद आग्नेय सवनीय पशु का याग करते हैं। इसके बाद द्विदेवत्य भक्ष भक्षणकार्य तथा चमस पात्र के रस का पान होता है। प्रात: सवन के बाद मध्याह्न में प्रात: सवन के समान ही सोमलता का रस निकालकर पुन: सायंकाल तृतीय सवन के लिये सोमलता का रस निकालकर होम तथा पान करते हैं। इसके बाद वरण किये हुए ऋत्विजों को क्रमानुसार दक्षिणा प्रदान करते हैं। तदुपरान्त अवभृथ स्नान

होता है। सोमयाग में प्रयुक्त ग्रह चमस आदि पात्रों को अवभृथेष्टि करने के स्थान पर जल में छोड़ देते हैं, वहीं पर अवभृथेष्टि करके सपत्नीक यजमान तथा सभी ऋत्विज् स्नान करके देवयजन के पास आकर प्रायणीयेष्टि की तरह उदवसानीयेष्टि करते हैं। इसके बाद सायंकालीन अग्निहोत्रादि नित्यक्रिया सम्पन्न कर ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये।

सोमलता की उत्पत्ति का स्थान—सोमलता के सम्बन्ध में ऋग्वेद आदि सभी वेदों में विस्तृत वर्णन मिलता है। सोमलता की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आयुर्वेद शास्त्र की सुश्रुत संहिता के चिकित्सा स्थान के 29वें अध्याय में विस्तृत वर्णन मिलता है। यथा—

"ब्रह्मादयोऽसृजन् पूर्वममृतं सोमसंज्ञितम्।
जरामृत्युविनाशाय विधानं तस्य वक्ष्यते॥"

(सुश्रुत चिकित्सा स्थान 29/1)

अर्थात् पूर्वकाल में ब्रह्मा आदि ने बुढ़ापा तथा मृत्यु आदि को नष्ट करने के लिये सोम नामक अमृत का सृजन किया था। यहाँ अंशुमान् आदि 24 प्रकार के सोमों का वर्णन प्राप्त होता है। इनमें से किसी एक के पीने से मनुष्य सभी प्रकार का सुख प्राप्त कर सकता है। अग्निष्टोम याग में अंशुमान् नामक सोमलता को कूटकर सोने के पात्र में रस निचोड़कर हवन के पश्चात् उस रस का पान करने वाला जन अणिमा आदि आठों प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त कर स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है। औषधियों के स्वामी सोमरस का पान करके मनुष्य हजारों वर्ष तक शरीर धारण कर सकता है। सुश्रुतसंहिता में लिखा है—

"नाग्निर्न तोयं न विषं न शस्त्रं नास्त्रमेव च।
तस्यालमायुःक्षपणे समर्थानि भवन्ति हि॥"

(सुश्रुत संहिता चिकित्सा स्थान 29/15)

इसके अनुसार अग्नि आदि कोई भी सोमरस का सेवन करने वाले मनुष्य की आयु नष्ट नहीं कर सकते हैं, तथा सोमसेवन करने वाले मनुष्य को हजारों हाथियों का बल प्राप्त हो जाता है। वह मनुष्य क्षीरसागर, इन्द्रपुरी तथा उत्तरकुरु प्रदेश जहाँ कहीं भी जाना चाहे उसकी गति अकुण्ठित रहती है। इसीलिए पूर्वकालिक

ऋषिमुनि तथा राजा-महाराजा सोमपान करने वाले लोग इन्द्रपुरी आदि में जाते थे। सोम पीने वाला मनुष्य समस्त वेदों के तत्त्व को भी जानता है, एवं उसके संकल्प व्यर्थ नहीं जाते हैं।

ऋग्वेद में सोम को विश्वचर्षणी कहा है। अर्थात् यह सब मानवों का हित करने वाला है। ऋग्वेद में ही ऐसा कथन भी है कि सोम विश्वजित् है अर्थात् इसके पान करने वाले को सम्पूर्ण विश्व को जीतने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। शुक्लयजुर्वेद में भी आया है—

"सोमो धेनुं सोमो अर्वन्तमाशुं सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति।
सादन्यं विदथ्यं सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै॥"

(शुक्लयजुर्वेद 34/21)

अर्थात् सोमरस पीने वाले व्यक्ति को गौ, घोड़े तथा पुरुषार्थी एवं घर का यश बढ़ाने वाले, युद्ध में प्रवीण, सभा में सम्मान प्राप्त करने वाले तथा पिता के कीर्ति को बढ़ाने वाले पुत्र की प्राप्ति होती है। इसलिये वर्तमान में भी सोमरस का पान करने वाले इस प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता है जो सभी जगह देश की प्रतिष्ठा बढ़ा सकें।

ऋग्वेद में भी आया है—

"शूरग्रामः सर्ववीरः सहावाभ जेता पवस्व मराठी ळ सनिता धनानि।
तिम्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्व षाळहः साह्वान् पृतनासु शत्रून्॥"

(ऋग्वेद 9/90/3)

सोमरस का सेवन करने वाला वीर कैसा प्रभावी होता है, वह इस मन्त्र से स्पष्ट है—

"प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना।
भद्रान्कृण्वन्निन्द्रहवानत्सखिभ्य आ सोमो वस्त्रा रभसा निदत्ते॥"

(ऋग्वेद 9/96/1)

अर्थात् सोमरस का पान करने वाला व्यक्ति सेनापति होकर सेना के आगे चलते हुए सबको प्रसन्न करता है। वर्तमान में भी देश के शत्रुओं को सद्बुद्धि प्रदान करने की अथवा नष्ट करने की आवश्यकता है तो सोमरस पान करने से प्राप्त की जा सकती है। ऋग्वेद में लेख है कि—

"उपशिक्षापतस्थुषो भियसमा धेहि शत्रुषु। पवमान विदा रयिम्॥
नि शत्रोः सोम वृष्ण्यं नि शुष्मं नि वयस्तिर। दूरे वा सतो अन्ति वा।" (ऋग्वेद 9/19/6-7)

अर्थात् जो शत्रु हमसे दूर हैं, वे हमारे पास आकर मित्र बनें तथा शत्रुओं को भय देने वाले तथा सोमपान करने वाले को विजय देने वाला है। इस प्रकार सोम रस के पान करने वाले व्यक्ति के शत्रु स्वयं नष्ट हो जाते हैं। पुनः कहा है—

"आत् सोम इन्द्रियो रसो वज्रः सहस्रसाभुवत्।" (ऋग्वेद 9/47/3)

अर्थात् सोमरस पान करने वाले व्यक्ति के लिये यह सोम वज्र के समान सामर्थ्य बढ़ाने वाला है।

सोमलता के प्राप्ति के सम्बन्ध में सुश्रुत संहिता में कहा है—

"हिमवत्यर्बुदे सह्ये महेन्द्रे मलये तथा।
श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा॥
पारियात्रे च विन्ध्ये च देवसुन्दे ह्रदे तथा।
उत्तरेण वितस्तायाः प्रवृद्धा ये महीधराः॥
पञ्च तेषामधो मध्ये सिन्धुनामा महानदः।
हठवत् प्लवते तत्र चन्द्रमा सोमसत्तमः॥"

(सुश्रुत चिकित्सा स्थान 29/27-29)

इन श्लोकों में सोम की उत्पत्ति के स्थानों का निर्देश है, जो लता हिमालय, अर्बुद, सह्य, महेन्द्र, मलय, श्रीपर्वत, देवगिरि, पारियात्र, विन्ध्य, देवसुन्द, तथा ह्रद (बड़े तालाब) में पायी जाती है। वितस्ता नदी के उत्तर में बहुत बड़े जो 5 पर्वत हैं, उनके नीचे मध्य में सिन्धु नामक महानद है, उसमें सोमों में श्रेष्ठ सोम जलकुम्भी की भाँति तैरता रहता है।

"तस्योद्देशेषु चाप्यस्ति मुञ्जवानंशुमानपि।
काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम्॥
गायत्रस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाक्वरस्तथा।
अत्र सन्त्यपरे चापि सोमाः सोमसमप्रभाः॥"

(सुश्रुत चिकित्सा स्थान 29/30-31)

अर्थात् मुञ्जवान् और अंशुमान् भी चन्द्रमा नामक सोम के समीप रहते हैं। काश्मीर में क्षुद्रक मानस नामक दिव्य सरोवर है, वहाँ भी कई प्रकार के सोम पाये जाते हैं।

सोमलता के अभाव में पूतीका आदि वस्तुओं का विधान है। यथा—"सोमापहरणे विधावतेच्छतेति ब्रूयात्।" (कात्या.श्रौ.सू. 25/12/17) सोमक्रय के बाद यदि सोम शत्रु द्वारा अपहृत कर लिया जाये, तो स्वजनों को सोम के अन्वेषणार्थ भेजते हैं। यदि वह सोम न मिल सके तो—

"अदर्शनेऽरुणपुष्पाण्यर्जुनान्यभिषुणुयात्।"

(कात्यायन श्रौ.सू. 25/12/18)

अर्थात् सोम के अभाव में अरुणपुष्प वाले अर्जुनतृण को सोमलता की तरह से अभिषवादि कार्य करते हैं। अर्जुन एक विशेष प्रकार की छाल को कहते हैं—

"शष्पं बालतृणं घासो यवसं तृणमर्जुनम्।" अमरकोष

इसके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का भी प्रावधान है—

"श्येनहृतं, पूतीकानादारानरुणदूर्वा, हरितकुशान्पूर्वालाभे पूर्वालाभ उत्तरान्।" (कात्यायन श्रौत सूत्रम् 25/12/19)

खदिरादेर्बहुकालीन-वृक्षस्य ये वल्लीरूपा अङ्कुरा उत्पद्यन्ते तच्छ्येन हृतं, पूतीका रोहिततृणम्।

अर्थात् अर्जुन लता के अभाव में पूतीका, उसके अभाव में अरुणदूर्वा, उसके अभाव में हरित कुशा का प्रावधान है।

शतपथ ब्राह्मण में भी आया है—सोमलता के प्राप्त न होने पर "द्वयानि वै फाल्गुनानि लोहितपुष्पाणि चारुणपुष्पाणि च।......... एष वै सोमस्य न्यङ्गो यदरुणपुष्पाणि फाल्गुनानि।.........यद्यरुणपुष्पाणि न विन्देयु: श्येनहृतमभिषुणुयात्। यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत्। तस्याऽआहरन्त्यै सोमस्यांशुरपतत्। तच्छ्येहृतम्।" (शतपथ ब्राह्म. 4/5/10/2-3) श्येनहृताभावे आदारान् तदभावेऽरुणदूर्वान् तस्याप्यभावे हरितकुशान् अभिषुणुयात्। (वही, कण्डिका 4-6 का संक्षिप्त रूप)

इसी बात को ताण्ड्य महाब्राह्मण में भी कहा गया है, परन्तु वहाँ पर सोम के अभाव में पूतीका का ही विधान है, पूतीका के अभाव में अर्जुन तृण का विधान है—"यदि सोमं न विन्देयु: पूतीकानभिषुणुयुर्यदि न पूतीकानर्ज्जुनानि।" (ताण्ड्य महाब्राह्मण 9/5/3)।

इस सम्बन्ध में एक आख्यान भी है—''गायत्रीसोममाहरत्तस्या अनु विसृज्य सोमरक्षि: पर्णमच्छिनत्तस्य योंशु: परापतत् स पूतीकोऽभवत्तस्मिन् देवा ऊतिमविन्दन्नूतीको वा एष यत्पूतीनभिषुण्वन्त्यूतिमेवास्मै विन्दन्ति।'' (ता.म.ब्रा. 9/5/4)

अर्थात् पूतीका से देवताओं की तृप्ति होती है, परन्तु पूतीका के साथ निम्न वस्तुओं के मिलाने का भी विधान है।

''प्रतिधुक् च प्रात: पूतीकाश्च, शृतञ्च मध्यन्दिने पूतीकाश्च, दधि चाऽपराह्णे पूतीकाश्च।'' (ता.म.ब्रा. 9/5/5)

अर्थात् प्रात: सवन में पूतीका के साथ तत्काल दुहा हुआ दूध मिलाना चाहिए। माध्यन्दिन सवन में तपाया हुआ दूध तथा अपराह्ण के तृतीय सवन में दही मिलाकर होम करना चाहिए। पूतिका के अभाव में अर्जुनलता का जो विधान किया गया है, उसके सम्बन्ध में भी लिखा है—

> **''इन्द्रो वृतमहस्तस्य यो नस्त: सोम: समधावत्तानि बभ्रुतुलान्यर्जुनानि, यो वपाया उत्खिन्नायास्तानि लोहिततूलानि, यानि बभ्रुतूलान्यर्जुनानि तान्यभिषुणुयादेतद्वै ब्रह्मणो रूपं साक्षादेव सोममभिषुणोति।''** (ता. म. ब्रा. 9/5/7)

सोम के अभाव में श्रुतियों में वर्णित वस्तुओं से होम किया जा सकता है। ऐतरेय ब्राह्मण में आया है—''सोमो वै राजा गन्धर्वेषु आसीत् तं देवाश्च ऋषयश्चाध्यायन्''.........इत्यादि (ऐतरेय ब्रा. 1/27)

इसका भाव यह है कि एक बार सभी देवता तथा ऋषियों ने विचार किया कि किस प्रकार सोमलता को लाया जाये, क्योंकि सोम गन्धर्वों के पास है। सोमरस का पान करने के लिए सभी देवता लालायित थे। उन्हें मालूम हुआ कि गन्धर्व स्त्रियों को बहुत चाहते हैं। इसलिये उन्होंने वाणी को गन्धर्वों के पास भेजा। वह गायत्री के समान छन्दों के रूप में जाकर और पक्षी का रूप धारण कर वहाँ से सोम को ले आयी। श्येन पक्षी सोम को पैर में रखकर लाया। इस सूक्त का नाम सौपर्णसूक्त है।

इस प्रकार सोमलता के सम्बन्ध में सभी वेदों की संहिताओं एवं ब्राह्मणग्रन्थों में प्रशंसा की गयी है। आजकल कुछ लोग सुरा को भी सोमलता का रस कहते

हैं। यह भ्रामक प्रचार है। क्योंकि वेदों में सुरा के सम्बन्ध में आया है—"**हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।**" (ऋग्वेद 8/2/12)

इस मन्त्र से स्पष्ट है कि सुरा के सेवन से दुर्मद होते हैं, अर्थात् मद्यसेवन से जो नशा होता है, वह दुर्मद होता है। एक मन्त्र और है—"**सुरा मन्युर्बिभीदको अचिति:।**" (ऋग्वेद 7/86/6)

अर्थात् मद्य, क्रोध, द्यूतक्रीडा और अज्ञान पाप की ओर ले जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि सुरा और सोमलता अलग-अलग वस्तु हैं।

वर्तमान में सोमलता के अन्वेषण का कार्य सभी को मिलकर करना चाहिए। क्योंकि यह ऊँचे पर्वतों पर ही प्राप्त हो सकती है, इसे प्राप्त कर सोमलता का शास्त्रीय परम्परा से सोमयाग करके और उसके रस का पान करके सभी तरह की शक्ति प्राप्त की जा सकती है। सोमयाग के द्वारा दीर्घायु, बल, उत्साह तथा आरोग्य प्राप्त कर राष्ट्र की समृद्धि तथा एकता प्राप्त की जा सकती है। इसलिए वर्तमान में भी यह याग उतना ही उपादेय है, जितना पहले था।



8

अग्निष्टोम याग–व्यावहारिक कर्मकाण्डीय पक्ष

डॉ. महेन्द्र कुमार मिश्र, डी.लिट
डॉ. श्रीमती मंजू मिश्र
1/612–सी, सुरेन्द्र नगर, अलीगढ़

वैदिक यागों का गम्भीर अध्ययन वैदिक साहित्य को सम्यक् रूप से समझने, वैदिक काल के निर्धारण, उसके साहित्यिक विकास, वर्ण एवं जाति व्यवस्था पर उनके प्रभाव को जानने के लिये, उपजातियों, गोत्रों एवं प्रवरों के याथातथ्य विवेचन हेतु बहुत महत्त्वपूर्ण है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने केवल व्याकरण, तुलनात्मक भाषाविज्ञान, आदि के आधार पर जो वैदिक निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं, वे पर्याप्त अंशों में भ्रांमक सिद्ध हुये हैं। इसके प्रमुख कारणों में से एक कारण है कि उन्हें वैदिक यागों का सम्यक् ज्ञान नहीं था। वैदिक वाङ्मय में अधिकांश संहितायें (कुछ सीमा तक ऋग्वेद को छोड़कर) यज्ञों के सम्प्रदाय सम्बन्धी स्वरूपों के आधार पर गठित हैं। विभिन्न यज्ञों के लिये विभिन्न पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती थी और ये विभिन्न पुरोहित विभिन्न यागीय मन्त्रों का संग्रह रखते थे।

वैदिक यज्ञों के युक्त ज्ञान के लिये कतिपय वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों और श्रौत सूत्रों का अध्ययन आवश्यक है। यद्यपि इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लिखित कुछ एक ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें हाग कृत ऐतरेय ब्राह्मण का सटिप्पण अनुवाद, प्रो. इग्गेलिंग का सटिप्पण शतपथ ब्राह्मण, अनुवाद, प्रो. कीथ लिखित वेद और उपनिषदों का धर्म एवं दर्शन, कृष्ण यजुर्वेद एवं ऋग्वेद—ब्राह्मण का अनुवाद, कुन्ते कृत विसिसिटपूड्स ऑफ आर्यन् सिविलिजेशन इन इण्डिया में

उल्लेखनीय हैं। श्री वेबर और हिल्ले ब्राण्ट ने जर्मन भाषा में वैदिक यज्ञों के विषय में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। श्री चैलण्ड एवं हेनरी ने अग्निष्टोम याग पर फ्रांसीसी भाषा में अति विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा। यों तो जैमिनि ने पूर्व मीमांसासूत्र में कतिपय यज्ञों के विस्तारों के विषय में अपने निश्चित निष्कर्ष दिये हैं, तथापि वैदिक अग्निष्टोम यज्ञ के सम्बन्ध में प्रस्तुत शोध-पत्र उपर्युक्त ग्रन्थों के निष्कर्ष के आधार पर ही कुछ प्रासंगिक निष्कर्षों को प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास है।

वैदिक अग्निष्टोम यज्ञ एवं पारसियों के होम में पर्याप्त समानता दिखायी देती है। पारसियों की प्राचीन धार्मिक पुस्तकों एवं वैदिक साहित्य में प्रयुक्त कतिपय यज्ञ सम्बन्धी शब्दों का साम्य यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि यज्ञ सम्बन्धी परम्परायें अति प्राचीन हैं। उन शब्दों में अथर्वन्, आहुति, उक्थ, बर्हिस्, मन्त्र, यज्ञ, सोम, सवन, स्टोम, होत्रि आदि शब्द पारसी साहित्य में भी पाये जाते हैं। यद्यपि वैदिक यज्ञ वर्तमान काल में बहुत कम किए जाते हैं, परन्तु ईसा से कई शताब्दी पूर्व प्रचुरता से प्रचलित थे। [हरिवंश : 3/2/39-40 मालविकाग्निमित्र (अंक 5 राजसूय यज्ञ)]

अयोध्या के शुंगाभिलेख[1] में सेनापति पुष्यमित्र द्वारा अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख है। हाथीगुफा अभिलेख[2] में राजा खारवेल द्वारा राजसूय यज्ञ तथा गुप्ता इंस्क्रिप्शन्स, पृष्ठ 43 पर समुद्रगुप्त के अश्वमेध तथा ह्वदसेन के अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[3] पीकिर दानपत्र में पल्लव राजाओं को अश्वमेध, अग्निष्टोम, वाजपेय नामक यज्ञों को करने वाला कहा गया है।[4]

इन सब सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि अग्निपूजा मूलरूप से व्यक्तिगत जातीय या वर्गीय रही होगी। आरम्भिक काल में अग्निहोत्री लोग कम ही रहे होंगे, क्योंकि ब्राह्मण लोग अपेक्षाकृत निर्धन होते थे और अग्निहोत्री होने के कारण उन्हें घर पर ही रहना पड़ता था और जीविका कमाने में कठिनाई होती थी। अतः मध्यम आयु प्राप्त होने पर ही ब्राह्मणों के लिए अग्न्याधान की व्यवस्था थी।[5]

अग्निष्टोम-यज्ञ[6]

सुविधा के लिए यज्ञ 3 भागों में बाँटे जा सकते हैं—इष्टि, पशु एवं सोम। गौतम एवं लाट्यायन श्रौतसूत्रों ने (8/21, 5/4/34) सोमयज्ञ के सात भेद कहे हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और

अप्तोर्याम। अग्निष्टोम को सोमयागों का आदर्श रूप मान लिया गया है। अग्निष्टोम ऐकाहिक (एक दिवसीय) यज्ञ है। यह ज्योतिष्टोम का ऐसा अन्तर्हित याग है कि दोनों को कभी-कभी एक ही मान लिया जाता है। सोमयज्ञ अनेक प्रकार का है। यथा एकाह (एक दिवसीय), अहीन (एक दिन से बारह दिनों तक चलने वाला) तथा सत्र (12 दिनों से अधिक दिनों तक चलने वाला) द्वादशाह नामक यज्ञ सत्र। ज्योतिष्टोम यज्ञ बहुधा पाँच दिन में सम्पन्न होता है। प्रथम दिन पुरोहितों का वरण, मधुपर्क, दीक्षणीयेष्टि एवं दीक्षा तथा दूसरे दिन प्रायणीय इष्टि (आरम्भिक इष्टि) सोम क्रय, आतिथेयेष्टि (सोम को आतिथ्य प्रदान करने वाली इष्टि), प्रवर्ग्य एवं उपसद (प्रातः एवं सायंकालीन अभिवादन), तीसरे दिन प्रवर्ग्य एवं दो बार उपसद, चौथे दिन प्रवर्ग्य एवं उपसद, अग्नि-प्रणयन, अग्नीषोम प्रणयन, हविर्धान एवं पशुयज्ञ तथा पाँचवे दिन सुत्य तथा सवनीय के दिन (सोम का रस निकालना), प्रातःकालीन पूजा में चढ़ान पीना तथा मध्याह्न और सायंकाल में देवार्पण कर पीना, उदयीना (अन्तिम इष्टि) और अवभृथ (अन्तिम शुद्धकर्ता स्नान) आदि प्रमुख यागीय कृत्य हैं।

विभिन्न श्रौत सूत्रों के अनुसार अग्निष्टोम यज्ञ करना तीन वर्णों के लिये अनिवार्य है।[7] इस यज्ञ में अग्नि की स्तुति की जाती है तथा अन्तिम स्तोत्र अग्नि को ही सम्बोधित होने के कारण इस यज्ञ को 'अग्निष्टोम' नाम से जाना जाता है।[8] इस यज्ञ के प्रतिवर्ष वसन्त ऋतु की अमावास्या या पूर्णिमा के दिन किये जाने का विधान है।[9] जैमिनि (4/3/37) के अनुसार दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य तथा पशु यज्ञ संपादित करने के उपरान्त ही सोमयज्ञ किया जाना चाहिये। जबकि कुछ अन्य स्थानों पर दर्शपूर्णमास के पूर्व भी इसके किये जाने की स्वीकृति है, परन्तु वहाँ भी अन्याधानोपरान्त ही ऐसा करना उचित ठहराया गया है।[10] इस यज्ञ के करने की इच्छावाले यजमान को सर्वप्रथम 'सोम प्रवाक' (सोमयज्ञ कराने वाले के निमन्त्रणकर्ता) को ऐसे वेदज्ञ ब्राह्मणों को जो अतिवृद्ध या बाल वय वाले तथा विकलांग न हो, बुलाने भेजना चाहिये।[11] वह प्रमुख चार या सभी 16 ऋत्विजों को आमन्त्रित करता है। पुरोहितों को मधुपर्क दिया जाता है। यजमान अपने देश के राजा के पास यज्ञभूमि की याचना हेतु जाता है। हमारा विनम्र निवेदन है कि यह मात्र आडम्बर है, क्योंकि राजा भी ऐसी याचना होता तथा पुरोहितों से करता है। अपनी भूमि रहने पर भी यजमान को ऐसी याचना करनी पड़ती है।

यज्ञभूमि के पश्चिम भाग में घास-पात हटाकर एक चार कोण वाला मण्डप खड़ा किया जाता है। इस मण्डप को आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में प्राग्वंश या प्राचीनवंश भी कहा गया है। इस का विस्तार 16 प्रक्रम लम्बा तथा 12 प्रक्रम चौड़ा होता है। जिसमें चारों दिशाओं में प्रवेश हेतु 4-5 द्वार होते हैं। (10/5/5)। मण्डप के दक्षिण में व्रत-भोजन हेतु पाकशाला तथा पश्चिम में यजमान की पत्नी हेतु द्वितीय शाला बनानी चाहिये।[12]

यजमान अपने घर में ही गार्हपत्य एवं आवहनीय अग्नियों को अरणियों में रख लेता है। वह पुरोहितों, अरणियों तथा पत्नी के साथ मण्डप में पूर्वी द्वार से प्रवेश करता है। यज्ञ की अन्य सामग्रियां भी मण्डप में लाई जाती हैं। मण्डप में एक वेदी बनाकर उसमें घर्षण से उत्पन्न अग्नि रखी जाती है। मण्डप के बाहर उत्तर में यजमान एक विशिष्ट शाला में अपने केश कटवाता है। तदनु उदुम्बर की टहनी से दन्त-धावन कर कुण्ड के जल से स्नान और आचमन आदि करता है। इसी प्रकार यजमान की पत्नी भी प्रतिप्रस्थाता द्वारा आदेशित स्नान, नख कर्तन आदि कृत्यों को बिना मन्त्रोच्चारण के सम्पन्न करती है। यजमान अध्वर्यु द्वारा प्रदत्त रेशमी वस्त्र धारण कर अपराह्ण में प्राग्वंश में बैठकर घी और दही से मिश्रित या मनचाहा भोजन करता है। पत्नी भी यही कार्य करती है। तदनु वह दर्भ् की दो फुगनियों से अपने शरीर पर नवनीत लगाता है। यह कार्य वह चेहरे से आरम्भ कर तीन बार करता है। इसके उपरान्त दर्भ से अपने दायीं आँख में दो बार और बायीं आँख में एक बार अंजन लगाता है। या तीन बार दोनों में अंजन करता है। अध्वर्यु प्राग्वंश के बाहर यजमान की शुद्धि (हवा) करता है। यह कार्य प्रति प्रख्याता उसकी पत्नी के साथ करता है, किन्तु मन्त्रोचार के साथ नहीं किया जाता। यजमान पूर्व द्वार से तथा उसकी पत्नी पश्चिमी द्वार से मण्डप में प्रवेश करते हैं। दोनों के अपने-अपने आसन पर बैठ जाने पर उन्हें 'दीक्षणीय' इष्टि प्रदान की जाती है। दीक्षित यजमान ही यज्ञ करने योग्य माना जाता है।[13] दीक्षा कृत्य अपराह्ण में ही किया जाता है। तारे दिखाई देने तक यजमान मौन धारण किये रह्ते हैं। यज्ञ पूर्ण होने तक यजमान को पत्नी सहित दुग्धपान करके ही रहना होता है। यह अनिवार्य नियम है, न कि पुरुषार्थ मात्र। यह दूध दो गायों के स्तनों से दुहा जाता है और दो पात्रों में अलग-अलग गरम किया जाता है।

यजमान के लिये गार्हपत्य एवं उसकी पत्नी के लिये दक्षिण अग्नि पर दूध गरम होगा। इसके अतिरिक्त यजमान एवं उसकी पत्नी द्वारा अनेक पालनीय नियमों का उल्लेख श्रौतसूत्रों में दिया गया है।[14]

दीक्षा के उपरान्त प्रथम कृत्य है प्रायणीय इष्टि में चरु (चावल) दूध में पकाकर अदिति को दिया जाता है तथा आज्य की चार आहुतियाँ अन्य चार देवताओं को दी जाती हैं। इन चारों देवताओं के नाम पथ्यास्वस्ति, अग्नि, सोम एवं सविता हैं, जो क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर दिशा में स्थित माने जाते हैं। इसकी समाप्ति पर 'सोम' क्रय किया जाता है। कुत्स गोत्रीय किसी ब्राह्मण या शूद्र से सोम प्राप्त किया जाता है। आपस्तम्ब ने (10/20/12) ब्राह्मण से ही क्रय करने का निर्देश दिया है। जैमिनि ने (3/7/31) सोम के विक्रय के लिये पुरोहितों के अतिरिक्त किसी को भी उचित विक्रेता मान लिया है। क्रय के समय ब्राह्मण एवं सूत्रग्रन्थों में सोम को राजा कहा गया है। सोमविक्रेता 'सोम' में संलग्न घास-पात को कहने पर साफ करता है। सोम स्वच्छ करने के कार्य को अध्वर्यु एवं उसके सहायक, यजमान एवं उसके पुत्रों के न देखने या स्वयं स्वच्छ करने का निर्देश दिया गया है। (सत्याषाढ़ 7/1, पृष्ठ 609) बैल की लाल खाल के दक्षिणी भाग पर सोम रख दिया जाता है। सोम विक्रेता वृषभचर्म के उत्तरीयभाग पर बैठता है। एक जलपात्र सोम के सामने रख दिया जाता है। तदनु हिरण्यवती आहुति देने का विधान है। यज्ञभूमि के पूर्वी द्वार के दाहिनी ओर सोमक्रयणी गाय खड़ी रहती है। यह एक, दो या तीन वर्षीय होनी चाहिये। यथासम्भव इस गाय का रंग सोम के रंग का ही होता था। इस गाय को देकर सोम क्रय किया जाता था (सोमः क्रीयते यया गवा सा सोमक्रयणी)। गाय को पिंगल होना चाहिये। जिसकी आँखे पीले रंग से मिश्रित भूरी हों, वह विकलांग एवं बँधी हुई न हो, जो प्रसूता न हो। उसका कान या पैर पकड़कर कोई खड़ा न हो। आवश्यक होने पर गाय की गर्दन पकड़ी जा सकती है। गाय के अन्य सांस्कारिक कार्य करने के उपरान्त अध्वर्यु यजमान के सेवक द्वारा सोम को ढकने हेतु कपड़ा मंगवाता है। चार पहियों वाली गाड़ी में सोम चटाइयों से ढका रहता है। सोम के डण्ठल चुनने या हाथ में लिये जाने, वस्त्र से ढंकने आदि के अनेक नियम श्रौत सूत्रों में बताये गये हैं।[15] यजमान सोम का अभिवादन करता है और अदिति की पूजा करता है (आप.

10/25/1)। तदनु अध्वर्यु बंधा हुआ सोम विक्रेता को दे देता है और दोनों के क्रय-विक्रय का नाटक चलता है। सोम विक्रेता को स्वर्ण भी दिया जाता है। सोम क्रय-विक्रय की अनेक बातों का विवेचन वैदिक ग्रन्थों में विस्तार से किया गया है।[16] तदनु सुब्रह्मण्या कृत्य किया जाता है, जिसे उद्गाता का सहायक सुब्रह्मण्य नामक पुरोहित करता है। सोम को गाड़ी में विशिष्ट कृत्यों के साथ लाया जाता है। सोम के स्वागत में आतिथ्येष्टि की जाती है। सोम को गाड़ी से उतार कर उसे विशिष्ट मृगचर्म के आसन पर विधिवत् रखा जाता है। आतिथ्येष्टि के प्रमुख देवता हैं विष्णु। उनके लिये 9 कपालों वाली रोटी बनती है। अग्नि की उत्पत्ति घर्षण से की जाती है। एतदर्थ विधि हेतु आपस्तम्ब (10/3) एवं कात्यायन श्रौतसूत्र (8/1) विस्तार से निर्देश देते हैं। इडा खा लेने के उपरान्त 'तानूनप्त्र' कार्य करना चाहिये। इस कृत्य में यजमान एवं पुरोहित 'तनूनपात्' (तीव्र वेग वाली वायु) का नाम लेकर परस्पर अमंगल न करने का प्रण करते हैं। तदनु यजमान को अवान्तर दीक्षा दी जाती है, जिसमें यजमान मन्त्रों से आहवनीय अग्नि में समिधा डालता है। उसकी पत्नी मौन रूप से गार्हपत्याग्नि में समिधा डालती है। मदन्ती नामक पात्र के गर्म जल को यजमान एवं सभी पुरोहित स्पर्श करते हैं। [17] अवान्तर दीक्षा के उपरान्त उपसद एवं प्रवर्ग्य कृत्य किये जाते हैं। ये प्रातः एवं अपराह्ण में दो बार किये जाते हैं। यह क्रम दूसरे-तीसरे एवं चौथे दिन तक चलता है। पाँचवे दिन सोम का रस निकालने से पूर्व यह कृत्य होता है। यदि सोम 'रस' सातवें या आगे के दिनों में निकाला जाय तो प्रवर्ग्यों एवं उपसदों की संख्या बढ़ जाती है। [18] आतिथ्या में प्रयुक्त बर्हि, प्रस्तर एवं परिधि की विधि उपसदों और अग्नीषोमीय पशु के कृत्यों में भी की जाती है। प्रवर्ग्य, उपसद् एवं अग्नीषोमीय पशु आदि का विवेचन आवश्यक है।

प्रवर्ग्य—

आपस्तम्ब (15/5-12) बौधायन (9/6) एवं कात्यायन 25 श्रौतसूत्रों में प्रवर्ग्य का वर्णन पृथक्-पृथक् रूप से पाया जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण का मत है कि प्रवर्ग्य कृत्य से यजमान को मानों एवं नवीन दैवी शरीर प्राप्त होता है। प्रवर्ग्य को एक स्वतन्त्र या अपूर्व कृत्य कहा गया है। यह कृत्य किसी का परिमार्जित रूप नहीं है। आपस्तम्ब[19] के मतानुसार यह कृत्य प्रत्येक अग्निष्टोम याग में आवश्यक

नहीं है। वाजसनेयी संहिता में जो 'धर्म' कहा गया है, वह सूर्य को द्योतक है और सम्राट् नाम से यज्ञ का अधिष्ठाता माना गया है। इसी प्रकार गर्म दूध को दैवी जीवन एवं प्रकाश का, द्योतक कहा गया है।[20] मिट्टी का एक पात्र बनाया जाता है, जिसमें एक छेद होता है, जिसमें से तरल पदार्थ गिराया जाता है। इस पात्र को महावीर नाम दिया गया है। इसी प्रकार दो अन्य महावीर पात्र और भी होते हैं। पिनवन नामक अन्य दो दुग्धपात्र होते हैं और 'रोहिण' नामक दो थालियों में रोटी पकाई जाती है। ये तीनों पात्र महावीर पिनवन एवं रोहिण गार्हपत्याग्नि से प्रज्ज्वलित घोड़े के गोबर की अग्नि में पकाये जाते हैं।

रोहिण में दो पुरोडाश पकाकर प्रातः एवं सायंकाल में दिन तथा रात्रि के लिये आहुति के रूप में दिये जाते हैं। महावीर पात्र को मिट्टी से बने ऊँचे स्थान पर रखकर उसके चारों ओर आग जलाकर उसमें घृत छोड़ा जाता है। प्रमुख महावीर पात्र को प्रथम पात्र माना जाता है। अन्य दो महावीर पात्रों को वस्त्र से ढक्कर सोम स्थान के उत्तरी दिशा में बड़ी आसन्दी पर रखदिया जाता है। प्रमुख पात्र के उबलते घृत में गाय तथा बकरी का दूध मिलाकर छोड़ दिया जाता है। इस मिश्रित गर्म दूध को 'धर्म' कहा जाता था। यह 'धर्म' अश्विनौ, वायु, इन्द्र, सविता, बृहस्पति और यम को आहुति में दिया जाता था। पुरोहित केवल इसकी गंध लेते थे। शेष दूध को उपयमनी से यजमान पी जाता था। इस सब कृत्य के समय होता उपर्युक्त मन्त्रों का पाठ तथा प्रस्तोता सामगान करते जाते हैं। यह सम्पूर्ण कृत्य प्रवर्ग्य कहलाता है।

उपसद—

यह एक इष्टि है। बहुत सी अम्न्यन्वाधान आदि क्रियायें, जो दर्शपूर्णमास में की जाती हैं, इस इष्टि में नहीं की जाती। इसमें घृत की आहुतियाँ, अग्नि, विष्णु एवं सोम को जुहू से दी जाती है। आतिथ्या नामक इष्टि के उपरान्त किये जाने वाले सब कृत्य जैसे सोम को बढ़ाना, सुब्रह्मण्या स्तोत्र का पाठ, प्रत्येक उपसद् में प्रातः एवं अपराह्ण तीन या अधिक दिन तक किये जाते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपसद् में आज्यमार्गों, प्रयाजों, अनुयाजों कि क्रियायें नहीं की जाती है और न ही स्विष्टकृत अग्नि (आश्व. 4/8/8) को आहुति ही दी जाती है। प्रातः ऋग्वेद के तीन मन्त्रों 7/15/1-3 का पाठ तीन-तीन बार किया जाता

है, जिसे सामिधेनी कहा जाता है। सायं काल ऋग्वेद के मन्त्रों 2/6/1-3 का पाठ किया जाना चाहिये। उपसद् की आहुति 'स्रुव' से दी जाती है। उपसद् मन्त्रों से स्पष्ट है कि वे लोहे, चाँदी एवं स्वर्ण के दुर्गों के घेरों की ओर संकेत करते हैं। इन मन्त्रों की प्रासंगिकता समझ में नहीं आती है। यद्यपि शतपथ ब्राह्मण (3/4/4/3-4) में नगरों पर घेरा डालने की चर्चा हुयी है।

महावेदि—

प्रवर्ग्य एवं उपसद् कृत्यों के उपरान्त अगले दिन सोमयाग हेतु महावेदी बनाये जाने का विधान है।[21] आहवनीय अग्नि के सम्मुख पूर्व में 6 प्रक्रम की दूरी पर एक खूंटी (शंकु) गाड़ी जाती है। कात्यायन के मतानुसार अग्निशाला के पूर्वीद्वार के पूर्व में तीन प्रक्रम दूरी पर अन्त:पात्य या शालामुखीय नामक खूंटी गाडी जाती है। इस खूंटी से 36 प्रक्रम पूर्व एक अन्य खूंटी गाड़ी जाती है, जिसे 'यूपावटीय' कहा गया है।[22] इन दोनों खूंटियों को जोड़ने वाले धागे को 'पृष्ठया' कहा जाता है। अन्त:पात्य नामक खूंटी के उत्तरी एवं दक्षिणी भाग में 15 प्रक्रमों की दूरी पर अन्य खूंटिया गाड़ी जाती है। यूपावटीय खूंटी के दक्षिणी एवं उत्तरी सिरे से 12 प्रक्रमों की दूरी पर दो खूंटियाँ गाड़ी जाती हैं। इस प्रकार महावेदि का पश्चिमी भाग, जिसे श्रोणी कहा जाता है, 30 प्रक्रमों का, पूर्वी भाग जिसे अंस (कंधा) कह्ते हैं, 24 प्रक्रमों का तथा महावेदी की लम्बाई 26 प्रक्रमों की हो जाती है।[23] आपस्तम्ब श्रौतसूत्र की टीका के अनुसार एक प्रक्रम दो या तीन पदों के बराबर तथा एक पद बौधायन के अनुसार 15 अंगुलों का और कात्यायन के अनुसार 12 अंगुलों का होता है। तैत्तिरीय संहिता में महावेदी का परिमाप दिया गया है।

> **"त्रिंशत्पदानि पश्चात्तिरश्ची भवति, षट्त्रिंशत्प्राची चतुर्विंशति: पुरस्तात्तिरश्ची ॥ (6/02/4/5) ॥**

महावेदी के चारों ओर एक रस्सी बाँधी जाती थी। इसी प्रकार अन्य स्थलों के निर्माण का भी विवेचन मिलता है। यज्ञारम्भ के द्वितीय दिवस प्रात: एवं सायं वाले प्रवर्ग्यों एवं उपसदों के संपादित होते ही प्रवर्ग्य के उदासन के उपरान्त आहवनीयाग्नि से उत्तरवेदी तक लायी जाने वाली अग्नि का कृत्य किया जाता है, जिसे अग्नि-प्रणयन कहा जाता है। वेदी की नाभि पर स्थित अग्नि सोम याग की आहवनीयाग्नि कही गयी है। स्मरणीय है कि मूल आहवनीयाग्नि, गार्हपत्याग्नि

का रूप धारण कर लेती है।[24] कुश समिधा एवं वेदी पर छिड़क दिया जाता है और वेदी पर कुश बिछायी जाती है। कुश के अंकुर पूर्वाभिमुख रखे जाने चाहिये। अग्निशाला से जल से स्वच्छ की गयी दो गाड़ियाँ लाकर महावेदी पर रख दी जाती हैं। इन गाड़ियों को हविर्धान नाम दिया गया है, क्योंकि हवि रूपी सोम इन पर रखा रहता है। दक्षिण दिशा वाली गाड़ी अध्वर्यु एवं अन्य गाड़ी प्रतिप्रस्थाता के अधिकार में रहती है। ये गाड़ियाँ घास या बाँस के छिलकों से बनी चटाई से ढंक दी जाती है। तदनु 6 खम्भों वाला हविर्धान मण्डप बनाया जाता है। गाड़ी के धुरों पर यजमान की पत्नी एवं प्रतिप्रस्थाता द्वारा कई कृत्य किये जाते हैं।[25] हविर्धान के अन्दर कोई कुछ खा-पी नहीं सकता।

उपरव—

अध्वर्यु दक्षिण दिशा में रखी हुयी गाड़ी के सामने एक हाथ गहरे चार गड्ढे खोद कर उन पर कुश बिछा देता है। उन पर दो अधिषवणफलक (तख्ते) बिछाकर वृषभ का रक्तचर्म रख उस पर चार प्रस्तर खण्डों से सोम-का रस निकाला जाता है। प्रस्तरखण्डों से उत्पन्न घोष को चारों उक्त गड्ढे, अधिक गुंजा देते हैं। इसे ही उपरव कहा जाता है।[26] (उप उपरिष्टाद्ग्राणी र व: शब्दो येषु ते) द्रष्टव्य-कात्यायन 8/4/28, 8/5/24 एवं आपतम्ब 11/11/1, 11/2/6)

उपरवों के पूर्व में या अधिषवण चर्म या उपस्तम्बन के पूर्व में चार कोनों वाले मिट्टी के ढेर पर सोमपात्र रखे जाते हैं। तदनु पुरोहितों के लिये पृथक्-पृथक् आसनों का निर्माण विभिन्न संस्कारों द्वारा किया जाता है।

इसके उपरान्त अग्नि एवं सोम के लिये एक पशु की बलि दिये जाने का विधान है। यह विधि निरूढपशुबंध विधि के समान ही है। परिस्तरण यज्ञीय पात्रों के रखने, प्रोक्षण आदि कार्य किये जाते हैं। प्रतिप्रस्थाता यजमान की पत्नी को निहित शाला से लाता है। साथ ही यजमान के अन्य सम्बन्धी भी बुलाये जाते है। यजमान अध्वर्यु का, पत्नी यजमान पति का, पुत्र भाई की यजमान की पत्नी का स्पर्श करते हैं। सभी नवीन परिधान पहनते हैं।[27] अध्वर्यु आज्य को प्रचरणी अर्थात् वैसर्जिन आहुतियाँ सोम को देता है। तदनु अग्नि एवं सोम का प्रणयन होता है। आह्वनीय पर अग्नि प्रज्वलित कर उत्तर वेदी पर लाई जाती है। भाँति-भाँति के पात्र महावेदी पर पशुबलि हेतु लाये जाते हैं। इसी प्रकार दूसरे दिन सोमरस

निकालते समय काम में लाये जाने वाले पात्र भी यथास्थान सजा दिये जाते हैं। अग्नि आग्नीध्र के धिष्ण्य के पास रख दी जाती है। सोम के डण्ठल हविर्धान मण्डप में ला कर दक्षिण दिशा की गाड़ी में कृष्णमृग चर्म पर रख दिये जाते हैं। इसके उपरान्त ही यजमान अपनी मध्यम दीक्षा का त्याग करता है। अर्थात् मेखला ढीली कर मुट्ठियाँ खोल, मौन तोड़, उपवास का भोजन छोड़ता है और अपनी हवि मैत्रावरुण नामक पुरोहित को दे देता है। इसी के बाद वह अपने नाम से पुकारा जाता है तथा उसके घर में बना भोजन अन्य लोग खाते हैं।[28] तदनु अग्नि एवं सोम के लिये पशुबलि छाग (बकरे) की दी जाती है। सोमरस निकालने के लिये प्रयुक्त जल जिसे 'वसतीवरी' कहा जाता है, उसे विधिपूर्वक नदी से लाकर सुरक्षित रखा जाता है। रात्रि भर पुरोहित जन यज्ञशाला में ही निवास करते हैं।

पाँचवें अन्तिम दिन को जिस दिन सोमरस निकाला जाता है, 'सुत्या' कहा जाता है। सूर्योदय से पूर्व ही पुरोहित जगा दिये जाते हैं। वे उपांशु से सोमरस निकालते हैं। इसके उपरान्त सवनीय पशु बलि की व्यवस्था की जाती है।

प्रातरनुवाक्—

प्रातः पक्षी जगने से पूर्व अध्वर्यु होता को प्रातरनुवाक् (प्रातः स्तुति) के लिये आज्ञा देता है। इस में प्रातःकाल आ जाने वाले अग्नि, उषा एवं अश्विनौ देवताओं की स्तुति की जाती है। अध्वर्यु ब्रह्मा से मौन रखने, प्रतिप्रस्थाता को सवनीय पुरोडाश हेतु निर्वाप (सामग्रियाँ) निकालने तथा सुब्रह्मण्य को सुब्रह्मण्यस्तोत्र पाठ करने की आज्ञा देता है। अध्वर्यु होता को मौन ही रहकर स्तुति करने का निर्देश देता है। होता हविर्धान गाड़ियों के जुओं के बीच बैठ कर प्रातरनुवाक् को तीन भागों में कहता है। इन तीन भागों को 'क्रतु' कहा गया है। प्रत्येक भाग में होता कम से कम एक मन्त्र गायत्री, अनुष्टुप्, बृहती, उष्णिक्, त्रिष्टुप्, जगती एवं पंक्ति नामक सातों छन्दों में कहता है। आश्वलायन ने लगभग 250 मन्त्र उषा क्रतु में, 407 आश्विन क्रतु में कहने का निर्देश दिया है।[29] प्रातरनुवाक् होते समय आग्नीध्र (कात्या. 9/1/15) या प्रतिप्रस्थाता (आप. 12/4/4) आहुतियों की सामग्री को निकालता है। ये सामग्री 11 कपालों वाली एक रोटी इन्द्र के लिये, इन्द्र के पिंगल घोड़ों के लिये भुने जौ का दाना, पूषा के लिये करम्भ (हल्दी मिश्रित जौ का सत्तू), सरस्वती हेतु दही तथा मित्र एवं वरुण हेतु पयस्या तैयार

करता है। तदनु अन्य कृत्य किये जाते हैं। समय-समय पर सोमरस निकालकर देवों को चढ़ाया जाता है। इसके उपरान्त महाभिषव कृत्य किया जाता है।

महाभिषव—

सोमरस निकालने के कर्म से सम्बन्धित यह एक महान् कृत्य है, सोमरस निकालने में दो प्रकार का जल प्रयुक्त होता है। 1. वसतीवरी जो पूर्व रात्रि में ही लाया जाता है 2. एक घना जो उसी दिन लाया जाता है। प्रात: काल सोम डण्ठलों के अधिकतम भाग से रस निकाला जाता है तथा मध्याह्न में कम रस निकाला जाना चाहिये। अध्वर्यु उपर नामक पत्थर उठा कर उसे अधिख वज चर्म पर रखता है। उस पर सोम डण्ठल रख कर निग्राम्य जल छिड़कता है, और अन्य पुरोहित दाहिने हाथ में पत्थर लेकर डण्ठलों को कूटते हैं। यह कृत्य पर्याग (प्रथम दौर) कहलाता है। दूसरी बार में इधर-उधर बिखरे डण्ठल कूटे जाते हैं। इसी प्रकार तृतीय दौर भी चलता है। तदनु अध्वर्यु कूटे हुये डण्ठलों को संभरणी नामक पात्र में इकट्ठा कर आघवनीय नामक पात्र में रखता है, जिसमें पहले से ही जल भरा रहता है। सोम डण्ठल उसमें स्वच्छ कर पुन: निचोड़कर बाहर निकालकर अधिषवण चर्म पर रख दिये जाते हैं। तदनु धार्मिक कृत्य कर पात्र पर पात्र भरे जाते हैं। प्रथम पात्र को अन्तर्याम कहा गया है। द्रोणकलश में रखे सोम को शुक्र कहा जाता है।[30] उपांशु प्याला सूर्योदय से पूर्व दिया जाता है, किन्तु अन्तर्याम प्याला अध्वर्यु द्वारा सूर्योदय होते ही दिये जाने का विधान है।[31] सोमरस भरे पात्र ऐन्द्रवायव्य, मैत्रावरुण, शुक्र, मन्थी, आग्रयण, उक्त्थ और ध्रुव नाम से जाना जाता है। ये पात्र 'खर' नामक ऊँचे स्थान पर रखे जाते हैं। इन पात्रों में सोम रस धारा रूप में ढाला जाता है। अत: इन्हें धाराग्रह भी कहा जाता है। तदनु बहिष्पवमान स्तोत्र का पाठ किया जाता है, जो अनेक कृत्यों सहित पूरा होता है। यह स्तोत्र 'आस्ताव' नामक स्थान पर पढ़ा जाता है। यजमान एवं वा पुरोहित 'अध्वर्यु को छोड़कर इसे गाते हैं।[32] प्रथम बार सोमरस निकालने पर प्रथम स्तोत्र (पवमान) कहा जाता है, किन्तु प्रात:कालीन सवनस्तोत्र को बहिष्पवमान कहा गया है। दूसरी और तीसरी बार सोम रस निकालते समय क्रमश: माध्यन्दिन पवमान एवं आर्भया तृतीय पवमान तथा अन्य स्तोत्रों को धुर्य कहा जाता है।[33]

बहिष्पवमान स्तोत्र कहे जाते समय उन्नेता पुरोहित आहवनीय पात्र से सोमरस को पूतभृत् पात्र में डालता है। स्तोत्र समाप्ति पर अध्वर्यु आग्नीध्र पुरोहितों से घिष्ण्यों पर अग्नि प्रज्वलित करने को कहता है तथा वेदी को कुश एवं पुरोडाश से अलंकृत करने की आज्ञा देता है और प्रतिप्रस्थाता को सवनीय पशु लाने की आज्ञा दी जाती है।

सवनीय पशु की आहुति—

अग्निष्टोम याग में सोमरस निकालने के दिन अग्नि के लिये बकरे की बलि दी जाती है। सभी पुरोहित एवं यजमान सदों में प्रवेश करते है। वे औदुम्बरी स्तम्भ के पूर्व एवं अपने आसनों के पश्चिम भाग में बैठ जाते है। वे सभी अपने-अपने सोमरस पात्रों एवं तीन देवियों अर्थात् आहवनीय पूतमृत् एवं द्रोणकलश तथा घृत पात्रों की ओर मन्त्रों के साथ दृष्टि फेरते हैं। यजमान मन्त्रों के साथ सभी पात्रों का सम्मान करता है। तदनु प्रतिप्रस्थाता पाँचों सवनीय आहुतियों को लाता है। अध्वर्यु इन आहुतियों को सजाकर एक पात्र में रखता है। इन आहुतियों के उपरान्त सामाहुतियाँ द्विदेवत्य ग्रहों अर्थात् इन्द्र, वायु, मित्र, एवं वरुण तथा दोनों अश्विनौ को (दो-दो देवों के साथ-साथ) दी जाती हैं। तदनु चमसोन्नयन कर्म किया जाता है।

चमसोन्नयन—

उत्तरवेदी के पश्चिम में उन्नेता नामक पुरोहित चमसाध्वर्युओं के लिये 9 प्यालों को सोमरस से भरता है। सर्वप्रथम द्रोणकलश से सोमरस लिया जाता है, जिसे उपस्तरण कहा गया है। तदनु क्रमशः पूतमृत् और अन्ततः द्रोणकलश से सोमरस लिया जाता है, जिसे अभिधारण कहा जाता है। ये 9 पात्र क्रमशः ब्रह्मा, उद्‌गाता, यजमान, मैत्रावरुण, पोता, ब्रह्मणाच्छंसी, होता, नेष्टा एवं आग्नीध्र के लिये भरे जाते हैं। उन्नेता तथा अच्छावाक् के लिये नहीं भरे जाते। होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्‌गाता में प्रत्येक के तीन-तीन सहायक पुरोहित होते हैं।[34]

शुक्रमन्थि-प्रचार—

अध्वर्यु शुक्र नामक सोमपात्र ग्रहण करता है। इस प्रकार प्रतिप्रस्थाता मन्थी

पात्र तथा उत्तरवेदी पर रखे गये चमसों (चमचों) को चमसाध्वर्यु लोग ग्रहण करते हैं। ये चमसाध्वर्यु यजमान द्वारा चुने गये ऋत्विक् नहीं होते। वे पुरोहितों द्वारा चुने गये सहायक होते हैं।[35] ये संख्या में 10 होते हैं। कौन पुरोहित प्रथमतः सोम पान करता है। इस सम्बन्ध में मतभेद है कि पहले ब्रह्मा या अध्वर्यु सोम रस पान करेगा। विभिन्न पुरोहितों के सोमरस पान की विधि बड़ी जटिल है।

ऋतुग्रह—

अग्निष्टोम याग में विभिन्न ऋतु पात्रों में भी सोमरस भरा जाता था। द्रोणकलश से ये पात्र भरे जाते थे। अध्वर्यु और उसका सहायक प्रतिप्रस्थाता 12 मधु, माधव आदि मलमासों को सोमरस देता था।[36] दो-दो मासों की 6 ऋतुओं को भी सोमरस प्रदान किया जाता है। दो मासों में प्रथम को अध्वर्यु तथा दूसरे को प्रतिप्रस्थाता रस देता था।

क्षत्रिय एवं सोमरस—

ऐतरेय ब्राह्मण (35/2-4) के मतानुसार क्षत्रिय यजमान सोमरस का पान नहीं कर सकता। वह यदि चाहे तो बरगद की कोमल टहनियों का रस, बरगद का अन्य पवित्र वृक्षों या गूलर के फलों को दही मिलाकर खा सकता है, परन्तु कुछ संस्कृत ग्रन्थों में क्षत्रियों को 'सोमपा' कहा गया है। कुछ सूत्रों जैसे सत्याषाढ़ 8/7 आपस्तम्ब 12/24/5 ने भी यही बात कही है। जैमिनि 3/2/47-51 द्वारा कहा गया है कि इन वस्तुओं का तरल रूप सब प्याले में रख दिया जाता है तो उसे फल-चमस कहा जाता है और यह आहवनीयाग्नि के अंगारों पर डाल दिया जाता है, खाया नहीं जाता।

शस्त्र एवं स्तोत्र—

अग्निष्टोम कृत्य में शस्त्रों के वचन के 6 या 7 प्रकार हैं—(1) मौन रूप से जप, (2) आहवि एवं प्रतिगर (3) तूष्णीशंस, (4) निषिद या पुरोरुक (5) सूक्त, (6) उक्थ्यवाची शब्दों का जप एवं (7) याज्या। अग्निष्टोम में 12 स्तोत्र एवं 12 शस्त्र पाये जाते हैं। शस्त्र एवं स्तोत्र शब्द का अर्थ स्तुति या प्रशंसा है,

किन्तु स्तोत्र वह स्तुति है जो सस्वर गाया जाता है और शस्त्र वह स्तुति है जिसका मात्र वाचन होता है।[37] शस्त्र का वाचन स्तोत्र के उपरान्त होता है। अग्निष्टोम में आज्य शस्त्र प्रथम शस्त्र है और आग्निमारुत्त अन्तिम। प्रात:काल के सवन (सोमरस निकालने) की क्रिया में पाँच स्तोत्र गाये जाते हैं। यथा—बहिष्पवमान, चार अन्य तथा चार आज्य स्तोत्र। कुल 12 स्तोत्र एवं 12 शस्त्र होते हैं। प्रात:काल में होता द्वारा आज्यशस्त्र, प्रौत्रशस्त्र एवं तीन आज्यशास्त्र मैत्रावरुण, ब्राह्मणोच्छंसी एवं अच्छावाक् द्वारा कहे जाते हैं। मध्यकालीन एवं सायंकालीन सवन में भी ये शस्त्र कहे जाते हैं। त्रिवृत्स्तोम में बहिष्पवमान का, पंचदशस्तोम में चार आज्यस्तोत्र एवं माध्यन्दिन पवमान का, सप्तदशस्तोम में चार पृष्ठ स्तोत्र एवं आर्भव पवमान तथा एकविंशस्तोम में यज्ञायज्ञीय का गायन होता है। स्तोत्र का अर्थ है कई छन्दों का समूह। पंचदशस्तोत्र आदि शब्दों का अर्थ है कि छन्द अधिकत्तर तीन 15, 17, 21 आदि संख्याओं तक बढ़ा दिये जाते हैं। यह बढ़ाना कई विधियों से होता है, जो बार-बार दुहराने के आधार पर बनी होती हैं।

दक्षिणा—

अग्निष्टोम यज्ञ में दक्षिणा देने का वर्णन भी विस्तार से किया गया है। यजमान एवं उसके परिवार के ओढ़ने के परिधान में जो स्वर्ण बंधा रहता है, वह दक्षिणा पुरोहितों को दी जाती है अन्य उपहार भी देने का विधान है। आपस्तम्ब में 16 पुरोहितों को दक्षिणा में 7, 21, 60, 100, 112 या 1000 गायें देने का विधान किया है। या ज्येष्ठ पुत्र को याग को छोड़ कर सारी सम्पत्ति भी दक्षिणा में दी जा सकती है। अनेक प्रकार के पशु, परिधान, रथ, गदहे एवं अन्न भी दिये जा सकते हैं। यजमान दक्षिणा में अपनी कन्या भी दे सकता है (देव-विवाह) पशुओं को 4 भागों में बाँट कर एक-एक चौथाई भाग अध्वर्यु एवं आधे सहायकों को दक्षिणा में हविर्धान स्थल में दिया जाता था। सबसे पहले दक्षिणा आग्नीध्र को और अन्त में प्रतिहर्ता को दिये जाने का आदेश है। आग्नीध्र के उपरान्त क्रमश: ब्रह्मा, उद्गाता एवं होता को ही दक्षिणा दी जानी चाहिये। सामान्यत: अब्राह्मण को दान नहीं दिया जाता, तथापि अब्राह्मण को दान दिया जा सकता है।[38]

सोम की विवेचना हेतु ऋग्वेद[39] और अथर्ववेद[40] देखें। आज तो सोम यज्ञ में सोम के स्थान पर शंशेर (मराठी पौधा) काम आता है।

अन्य सोमयज्ञ—

सूत्र ग्रन्थों में सात सोमयज्ञ कहे हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र एवं आप्तोर्याम।[41] आपस्तम्ब एवं सत्याषाढ ने तो उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र एवं आप्तोर्याम को अग्निष्टोम का ही परिष्कृत रूप बताया है।[42]



सन्दर्भ

1. एपिग्रेफिका इण्डिका—जिल्द 20, पृष्ठ 54
2. वही, पृष्ठ 79
3. वही, जिल्द 10, पृष्ठ 53
4. वही, जिल्द 1, पृष्ठ 2
5. जैमिनि, 1/3/3 (शबर व्याख्या)
6. तैत्तिरीयसंहिता : 1/2-4, 3/1-3, 6/1-6, तैत्तिरीय ब्राह्मण 1/1/1, 1/4/1-5-6, 1/5/4, 2/2/8, शत.ब्रा. 1-15, आपस्तम्ब, 10-13, 14/8-12, कात्यायन. 7-11, बौधायन 6-10, आश्वलायन 4-6, लाट्यायन श्रौत. 1-3, जैमिनि 10/6/60-61, एवं तंत्रवार्तिक 2/2/2
7. जैमिनि. 6/2/31
8. ऐत.ब्रा. 14/5, आप. 10/2/3
9. आपतम्ब, 10/2/2/5, कात्यायन, 7/1/4, सत्याषाढ़ (7/1)
10. आश्वलायन 4/1/1-2, सत्याषाढ़ 7/1, पृ. 556
11. ताण्ड्य ब्रा. 1/1/1, द्राह्यायण श्रौत. 1/1, आपस्तम्ब. 10/1/1
12. कात्यायन. 7/1/19-25, बौधायन 6/1, आपस्तम्ब 10/5/1-5

13. जैमिनि. 5/3/29-31
14. आपस्तम्ब 10/16, कात्या. 4/19/34, बौधा. 6/6
15. आपस्तम्ब. 10/24/7-14, कात्या. 7/7/12-21
16. शतपथ ब्रा. 3/3/3, आपस्तम्ब 10/25/1-16, कात्या. 7/8-1-20 एवं सत्याषाढ़ 7/2, पृ. 636-643
17. वाजसनेयी संहिता 5/6
18. आपस्तम्ब 10/2-5, 15/12-5, सत्याषाढ 4
19. ऐतरेय ब्रा. 4/5
20. आपस्तम्ब श्रौ. 13/4/3-5
21. ऐतरेय ब्रा. 4/1, शत. ब्रा. 14/1/4, तैत्तिरीय आर. 4/1/42, 5/1-12
22. कात्यायन 8/3/6, आपस्तम्ब 11/4/11, शतपथ 3/4/4/3-4
23. बौधा. 6/22, कात्यायन 8/3/7
24. आपस्तम्ब 11/5/9-10, टीका-5/4/3, कात्यायन 8/3/14
25. आप. 11/9-8; कात्यायन 8/4, कात्यायन. 8/5/25, अधिषवण फलक लकड़ी का होता है। (अधि उपरि अभिषूयते सोमो ययोस्ते अधिषवणे फलके।' ऋग्वेद 10/94/9, 'अंशु दुहन्तो अध्यासते गदि' आप. 8/5/26 की टीकानुसार प्रस्तरखण्ड चार तथा कात्यायन 8/5/28 ने उनकी संख्या 5 दी है। ये प्रस्तर खण्ड सोमरस के डण्ठल कूटने के काम आते थे।
26. कात्या. 8/7/1, आप. 11/16/15,
27. कात्या. 8/7/22, जैमिनि. 6/1/12
28. आश्वलायन, 4/13/6
29. कात्या. 9/5/15
30. आप. 12/13/12
31. आप. 12/17/11-12 (उपगाता)
32. आप. 12/17/8, कात्या. 9/14/5 की टीका
33. आश्व.श्रौत. 4/1/6, आप.श्रौ. 10/1/9
34. जैमिनि. 3/7/27

35. तैत्तिरीय संहिता 1/4/14, वाजसनेयी सं. तथा तैत्ति. 1/4/14/1, वाज. सं. 3/70 में मलमास को क्रमश: संसर्ग तथा अंहसस्पति कहा है।

36. द्रष्टव्य जैमिनि. 3/6/36

37. आश्व. 5/10-21-24

38. शबर एवं जैमिनि 7/2/17

39. आप. 13/5/1-3, 13/7/15, 13/6/2, कात्या. 10/2/39, 10/2/32

40. ऋग्वेद 10/85/1-2, 5/51/15, 10/85-19, 8/94/2, 10/12/7, 10/68/10, 8/82/8, 9/86/24, 26, 37, 8/48/2, 4, 5, 12, 13, 9/86/24,

41. अथर्व. 1/1/6/7, तथा शतपथ ब्रा. 4/5/20, ताण्ड्य ब्रा. 9/3/3, आश्वलायन 6/8/5-6' कात्यायन. 10/9/27, आश्व. 6/11/1, लाट्यायन, 5/4/24

42. आप. सू. 14/1/1, सत्या. 9, 7 तथा ब्राह्मणों में शतपथ 4/6/3/3 तैत्ति. 1/3/2.



9

अग्निष्टोम यज्ञ का वैशिष्ट्य

श्री नारायण दत्त शर्मा
137, मदन लाल ब्लॉक्, खेल गाँव,
नई दिल्ली-49

आकार, विधि एवं फल की दृष्टि से सम्पूर्ण यज्ञों को शास्त्रकार अनेक भागों में विभाजित करते हैं। उन यज्ञों में अग्निष्टोम भी एक यज्ञ है।

यज्ञ मुख्यतः दो प्रकार के माने गए हैं—श्रौत एवं स्मार्त। इसमें सम्पूर्ण श्रौत यज्ञों को ऐतरेय ब्राह्मण ने पाँच भागों में विभाजित किया है। यथा–अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग एवं सोमयाग।[1] सोमयागों में अग्निष्टोम पहला सोमयाग माना गया है, जो अन्य छह सोमयागों की प्रकृति है। कुल सात सोमयाग इस प्रकार हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम।[2]

अग्निष्टोम की उत्पत्ति—

प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से बहुत होने की कामना की और ऐसी कामना करते हुए ही उसने प्रजनन साधन रूप अग्निष्टोम का दर्शन किया। इसके पश्चात् उसने दृश्यमान यह सारी सृष्टि उत्पन्न की।[3] गोपथब्राह्मण विभिन्न देवताओं से अग्निष्टोम के विभिन्न कृत्यों की उत्पत्ति का उल्लेख करता है—यथा, श्रद्धा से दीक्षणीयेष्टि की, अदिति से प्रायणीयेष्टि की, सोमदेवता से सोमक्रय की, विष्णु से आतिथ्येष्टि की, सूर्य से प्रवर्ग्य की, स्वधा से उपसदिष्टि की, अग्नि और सोम से उपवसथ की, प्रातःकाल चलने वाले देवताओं से प्रातरनुवाक की, आठों वस्तुओं (अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, प्रकाश, चन्द्रमा

और नक्षत्र) से प्राप्त सवन की, रुद्रों से माध्यन्दिन सवन की, आदित्यों से तृतीय सवन की, वरुण से अवभृथ की, अदिति से उदयनीयेष्टि की, मित्र और वरुण से अनुवन्ध्या की, त्वष्टा से त्वाष्ट्र की, देवियों और देविकाओं से देवताओं की अनेक हवियों की, काम से दशातिरात्र की तथा स्वर्गलोक से उदवसानीयेष्टि की।[4]

इसके अतिरिक्त पुराणों में भी अग्निष्टोम की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है।[5] कालिका पुराण के अनुसार यज्ञ—वराह के उठे हुए कपोल से लेकर कर्णमूल तक के भाग से अग्निष्टोम की उत्पत्ति हुई।[6] शतपथ ब्राह्मण की एक आख्यायिका के अनुसार देवताओं ने तपस्या करके अग्निष्टोम का विधान प्राप्त किया, जिस के द्वारा उन्होंने असुरों का विरोध किया।[7]

अग्निष्टोम की व्युत्पत्ति—

ऐ.ब्रा. में आया है कि जो अग्निष्टोम है, वह साक्षात् अग्नि ही है। इस क्रतुरूप अग्नि की देवों ने स्तोमों के द्वारा स्तुति की, इसलिए उसका नाम 'अग्निस्तोम' हुआ। अग्निस्तोम होते हुए उस नाम से युक्त क्रतु को परोक्ष रूप से व्यवहार के लिए वैदिक लोगों ने सकार को षकार में, तकार को टकार में बदलकर उसे ''अग्निष्टोम'' कहना प्रारम्भ किया। इस प्रकार ''अग्निस्तोम'' अग्निष्टोम हो गया।[8]

अग्निष्टोम नामक ''यज्ञायज्ञीय'' साम का गायन सबसे अन्त में किया जाता है, इसीलिए इसका नाम अग्निष्टोम हुआ।[9] गोपीनाथ के अनुसार अग्नि की स्तुति वाले यज्ञायज्ञीय नामक स्तोत्र से जिस यज्ञ की समाप्ति होती है, वह यज्ञ अग्निष्टोम कहलाता है।[10] गोपीनाथ के अनुसार ही रुद्रदत्त ने भी अग्निष्टोम का यही अर्थ किया है।[11] पदमंजरी में सोमयाग की सात संस्थाओं में प्रथम संस्था का नाम ''अग्निष्टोम'' ही उद्धृत है।[12] इसीलिए बालमनोरमा टीका में अग्निष्टोम को स्तोत्र विशेष तथा संस्था विशेष दोनों ही कहा गया है।[13]

अग्निष्टोम के नामान्तर—

अग्निष्टोम के निर्वचन के प्रसंग में ऐतरेय ब्राह्मण ने इस यज्ञ के दो पर्याय भी उद्धृत किए हैं—यथा, चतुस्तोम[14] और ज्योतिस्तोम।[15] जिस प्रकार ज्योतिस्तोम से अग्निष्टोम बना, ठीक उसी प्रकार चतुस्तोम से चतुष्टोम और ज्योतिस्तोम से ज्योतिष्टोम बना।

अग्निष्टोम को ज्योतिष्टोम कहने का कारण—

इस यज्ञ में प्रात: सवन, माध्यन्दिन सवन तथा तृतीय सवन के अन्तर्गत 12 स्तोत्रों[16] का गान किया जाता है और यह सामगान चार प्रकार के स्तोमों[17] से सम्पन्न किया जाता है, जिन्हें "ज्योति" संज्ञा प्राप्त है। इसलिए अग्निष्टोम का एक पर्याय ज्योतिष्टोम भी माना गया है। इसका यह भी तात्पर्य है कि जिस-जिस यज्ञ में त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश और एकविंश इन चारों स्तोमों का प्रयोग होगा, उसे ज्योतिष्टोम कहा जायेगा। ताण्ड्य महाब्राह्मण में त्रिवृदादि चारों स्तोम ज्योतिरूप कहे भी गए हैं।[18]

जिस सोमयाग में विराडात्मक छन्द (विराज) का सम्पादन होता है, वह भी ज्योतिष्टोम कहलाता है, क्योंकि विराट् छन्द ज्योतिरूप है। अग्निष्टोम में विराज का सम्पादन[19] होने से भी यह ज्योतिष्टोम कहलाता है।[20] संक्षेप में अग्निष्टोम में प्रयुक्त त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश तथा एकविंश स्तोम के ज्योतिरूप होने से तथा इसमें विराज का सम्पादन होने से अग्निष्टोम ज्योतिष्टोम कहा जाता है।[21]

प्रथम सोमयाग अग्निष्टोम—

संख्या के क्रम से सर्वत्र अग्निष्टोम का उल्लेख सर्वप्रथम किया गया है। समस्त सोमयागों की प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम की सात सोमसंस्थाओं में अग्निष्टोम का अनुष्ठान ही प्रथम करने का विधान है।[22] गोपीनाथ के अनुसार उक्थ्य-षोडशी-अतिरात्र आदि सोमयागों की प्रकृति अग्निष्टोम होने से वही सबसे पहले किया जाता है।[23] सबसे पहले उपत्न्न होने के कारण प्रजापति ज्येष्ठ माने गये हैं और उन्होंने सर्वप्रथम अग्निष्टोम का यजन किया, इसलिए भी अग्निष्टोम सबसे पहले किया जाता है।[24] आपस्तम्ब नें भी अग्निष्टोम के अनुष्ठान को सर्वप्रथम करने का विधान किया है।[25]

एक स्थान पर ताण्ड्य ब्राह्मण सर्वप्रकृतिभूत अग्निष्टोम के प्राथम्य का विधान प्रस्तुत करने के लिए एक आख्यायिका प्रस्तुत करता है,[26] तथा दूसरे स्थान पर वही ब्राह्मण ज्योतिसंज्ञक एकाह सोमयाग को प्रथम अनुष्ठेय उद्घोषित करता है।[27] अब प्रश्न उठता है, कौन सा सोमयाग पहले किया जाना चाहिए ? इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए सायण लिखता है कि यह ज्योतिसंज्ञक एकाह सर्वप्रकृतिभूत अग्निष्टोम के सदृश ही है।[28] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वोक्त दोनों यज्ञों में कोई भी यज्ञ पहले किया जा सकता है।

मीमांसादर्शन के दो सूत्र अग्निष्टोम के प्राथम्य का प्रतिपादन करते हैं।[29] इस प्रसंग में ज्योतिष्टोम की 190 स्तोत्रियों को अग्निष्टोम के प्रथम होने में प्रमाण माना गया है।[30] ताण्ड्य ब्राह्मण में ज्योतिष्टोम की 190 स्तोत्रियाँ प्रतिपादित हैं।[31] प्रत्येक सवन में गाए जाने वाले प्रत्येक स्तोत्र में कितनी-कितनी स्तोत्रियाँ हैं, उन सब की गणना सायण ने विस्तारपूर्वक यथाप्रसंग की है।[32] उपर्युक्त प्रमाणों के द्वारा सुस्पष्ट हो जाता है कि सिद्धान्तरूप में सर्वत्र अग्निष्टोम को प्रथम ही करने का विधान प्राप्त है, उसके उपरान्त ही उक्थ्य-षोडशी आदि विकृति रूप सोमयाग किए जा सकते हैं।

सर्वकामसाध्य अग्निष्टोम—

अन्य यज्ञ तो स्वर्ग - प्रजा - पशु - हिरण्य आदि की प्राप्ति के लिए विधानतः काम्य कोटि में आते हैं, उदाहरण के लिए आपस्तम्ब ने पशु प्राप्ति के लिए उक्थ्य का, वीर्यकाम के लिए षोडशी का, प्रजाप्राप्ति के लिए अतिरात्र के अनुष्ठान का उल्लेख किया है,[33] किन्तु अग्निष्टोम काम्य यज्ञों की अपेक्षा विलक्षण है, क्योंकि अग्निष्टोम को सर्वफलसाध्य कहा गया है।[34] एक स्थान पर अग्निष्टोम के द्वारा पशु प्राप्ति तथा ब्रह्मवर्चस्विता की प्राप्ति का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।[35]

प्रकृतिरूप एवं अपूर्वकर्म अग्निष्टोम—

''यज्ञ-समग्रांगोपदेशः सा प्रकृतिः''[36] यह लक्षण मीमांसकों के द्वारा किया गया है। इसका अर्थ यह है कि जो पदार्थ जिस प्रकार के उपकार के द्वारा जिसका अंग हुआ है, उसके सम्बन्धी के रूप में उसी प्रकार के उपकार के द्वारा उस पदार्थ में अन्यांगत्व बोधक प्रामण को अतिदेश कहा गया है। उदाहरण के लिए जैसे प्रयाज अनुयाजादि पर अदृष्ट उपकार और दृष्टार्थों पर दृष्ट उपकार के पदार्थ, अदृष्टार्थों द्वारा आग्नेयादि के अंग रूप में अवधारित हुआ है, अतः उस प्रयाजानूयाजादि पदार्थ में आग्नेयादि के अंग रूप में अवधारित हुआ है, अतः प्रयाजानूयाजादि पदार्थ में आग्नेयादि के सम्बन्धी के रूप में दृष्टादृष्टोपकार द्वारा सौर्यादि याग निरूपित अंगत्वबोधक ''प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'' प्रकृति के समान विकृति का अनुष्ठान करना चाहिए, यह वाक्य प्रमाण होता है। प्रयाजानुयाजादि का आग्नेयादि से सम्बन्धित होना स्वरूपतः नहीं है, किन्तु वे प्रयाजानुयाजादि

पदार्थ आग्नेय की इतिकर्त्तव्यता के रूप में आग्नेय से सम्बन्धित होते हैं। अत: विकृति याग के साथ होने वाली प्रयाजानुयाज की सम्बन्धिता अवच्छेदक धर्म "आग्नेयेतिकर्त्तव्यतात्व" ही होगा, यह स्पष्ट है। जैसे प्रकृति में भावना की इतिकर्त्तव्यताकांक्षा के पूरक बनकर प्रयाजानुयाजादि का भावना में अन्वय (सम्बन्ध) होता है, वैसे ही विकृति भावना में भी तदुपकार द्वारा वे प्रयाजानुयाजादि अन्वित होते हैं। अत: इतिकर्त्तव्यताकांक्षा के पूरक समग्र अंगों का आम्नान (पाठ) जहाँ हो, उसे प्रकृति शब्द से कहा गया है। यह लक्षण सूत्रारूढ़ भी है। जैमिनि का "कृत्स्नविधानाद्वा पूर्वत्वम्"[37] सूत्र अग्निष्टोम की अपूर्वता में तथा प्रकृतित्त्व को प्रदर्शित करने के लिए कृत्स्न विधान कर रहा है। इसका अर्थ यह है कि अभिषवादि सकल अंगों का वहाँ विधान रहने के कारण अग्निष्टोम एक अपूर्व कर्म है तथा साथ ही साथ वह प्रकृतिरूप कर्म भी है। अत: अभिषवादिसकलांगविधान (कृत्स्न विधान) ही अग्निष्टोम में अपूर्वता और प्रकृतित्व होने में हेतु है। सूत्रकार का यही वास्तविक अभिप्राय है। इस कारण प्रकृति का "यत्र समग्रांगोपदेश: सा प्रकृति:" यह लक्षण सिद्ध होता है।

प्रकृति याग तीन ही माने गए हैं।[38] यद्यपि पशुयाग भी प्रकृति याग है, तथापि उसका इष्टि में अन्तर्भाव किया गया है।[39] इन तीन प्रकार के प्रकृतियागों में सर्वएकाह अहीन सत्र मूलप्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम की चार संस्थाओं में आद्यासंस्था सर्वक्रतुओं की प्रकृतिभूत अग्निष्टोम ही सिद्ध होता है।

अग्निष्टोम की कतिपय-विशेषताएँ—

अग्निष्टोम का अनुष्ठान सत्रह ऋत्विजों के द्वारा सम्पन्न होता है। सत्रहवाँ ऋत्विज् स्वयं यजमान होता है, जो कि स्वयं यज्ञ का स्वामी है।[40] सत्रहवें ऋत्विक् के रूप में "सदस्य" को स्वीकार नहीं किया गया है।[41] यजमानातिरिक्त ये सोलहों ऋत्विक् चार वर्गों में विभक्त किए गए हैं।[42]

दक्षिणा-वितरण के आधार पर शबरस्वामी ने सोलहों ऋत्विजों का विभाग इस प्रकार किया है—जिन ऋत्विजों को अपने वर्ग में आधी दक्षिणा मिलती है, वे अर्द्धिन:, जिन्हें तिहाई दक्षिणा मिलती है, वे तृतीयिन:, जिन्हें चौथाई दक्षिणा मिलती है, वे पादिन: होते हैं।[43]

ताण्ड्य महाब्राह्मण ने दक्षिणा में दी जाने वाली 10 वस्तुओं का उल्लेख किया है।[44] इनमें गोओं की संख्या 112 ही निश्चित की गई है।[45]

कात्यायन ने निर्धारित 100 गौओं का वितरण यज्ञ के सोलहों ऋत्विजों में इस प्रकार किया है—ब्रह्मा, उद्‌गाता, होता एवं अध्वर्यु को 12-12 गौवें, अर्द्धिन: संज्ञक ऋत्विज् ब्राह्मणाच्छंसि, प्रस्तोता, मैत्रावरुण एवं प्रतिप्रस्थाता को 6-6 गौवें, तृतीयिन: संज्ञक ऋत्विक् पोता, प्रतिहर्त्ता, अच्छावाक् तथा नेष्टा को 4-4 तथा पादिन: संज्ञक ऋत्विज्, आग्नीध्र, सुब्रह्मण्य, ग्रावस्तुत तथा उन्नेता को 3-3 गौवें।[46]

अग्निष्टोम के अन्तर्गत सवन कर्म में गाए जाने वाले[47] स्तोत्रों की संख्या 12 एवं शंसन किए जाने वाले शस्त्रों[48] की भी संख्या 12 ही है।

स्तोत्र के अन्तर्गत एक ही साम जिस प्रकार पाँच भागों—हिंकार,[49] प्रस्ताव,[50] उद्‌गीथ,[51] प्रतिहार[52] तथा निधन[53] में विभक्त है, उसी प्रकार शस्त्र के भी 6 या 7 प्रकार माने गए हैं। यथा—अक्षरपंक्ति,[54] मौन जप,[55] आह्व,[56] प्रतिगर,[57] तूष्णीशंस,[58] निविद्,[59] सूक्त,[60] उक्थंवाचि शब्दों का जप[61] तथा याज्या।[62]

प्रात: सवन में त्रिवृत्स्तोमात्मक[63] बहिष्पवमानस्तोत्र[64] तथा पंचदशस्तोमात्मक[65] चार आज्य स्तोत्रों[66] का गायन किया जाता है। शस्त्रों में आज्यशस्त्र, प्रउग शस्त्र, मैत्रावरुण शस्त्र, ब्राह्मणच्छंसिशस्त्र तथा अच्छावाक शस्त्र का शंसन किया जाता है।

माध्यन्दिन सवन में पंचदशस्तोमात्मक माध्यन्दिन पवमान स्तोत्र तथा सप्तदश स्तोमात्मक[67] चार पृष्ठ स्तोत्रों[68] का गायन किया जाता है। शस्त्रों में मरुत्वतीय शस्त्र, निष्कैवल्य, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसि तथा अच्छावाक शस्त्र का शंसन किया जाता है।

तृतीयसवन में आर्भव पवमान[69] तथा अग्निष्टोम[70] स्तोत्र का गायन तथा वैश्वदेव एवं अग्निमारुत शस्त्र का शंसन किया जाता है।

एकाह अग्निष्टोम का अनुष्ठान मध्यरात्रि के पश्चात् प्रारम्भ करके अगले दिन सायंकाल पर्यन्त सवनत्रय का सम्पादन करते हुए समाप्त कर दिया जाता है।[71] तीनों सवनों में शीघ्रता बिल्कुल नहीं की जाती।[72]



सन्दर्भ

1. स वा एष यज्ञः पंचविधः—अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशुः, सोमः इति (ऐ.आ. 2.3.3)।
2. ''अग्निष्टोमः, अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, वाजपेयः, अतिरात्रं, आप्तोर्यामः इति सप्त सोमसंस्थाः'' (गौतम धर्मसूत्र 8.18)।
3. ''प्रजापतिरकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति, स एतमग्निष्टोममपश्यत्तमाहरत्तेनेमाः प्रजा असृजत'' (ताण्ड्य महाब्राह्मण 6.1.1)।
4. ''श्रद्धाया वै देवा दीक्षणीयां निरमिमतादितेः प्रायणीयां सोमात्क्रयं विष्णोरातिथ्यमादित्यात्प्रवर्ग्यं स्वधाया उपसदोऽग्नीषोमाभ्यामौपवसथ्यमहः प्रातर्यावद्भ्यो देवेभ्यः प्रातरनुवाकं वसुभ्यः प्रातः सवनं रुद्रेभ्यो माध्यन्दिनं सवनमादित्येभ्यस्तृतीयसवनं वरुणादवभृथमदितेरुदयनीयां मित्रावरुणाभ्यामनूबन्ध्यां त्वष्टुस्त्वाष्ट्रं देवीभ्यो देविकाभ्यो देवताहवींषि कामाद्दशातिरात्रं स्वर्गाल्लोकादुदवसानीयां तद्वा एतदग्निष्टोमस्य जन्म'' (गोपथ ब्राह्मण 1.4.7)
5. गायत्रं च ऋचश्चैव त्रिवृत्स्तोमं रथन्तरम्।
   अग्निष्टोमं च यज्ञानां निर्ममे प्रथमान्मुखात्॥ (विष्णु पु. 1.5.52, द्र. मार्कण्डेय पु. 45.31, ब्रह्माण्ड पु. 1.8.50)।
6. कालिका पुराण—अध्याय 30
7. ''ततो देवाः अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तऽएतदग्निष्टोमसद्यं ददृशुस्तऽएतेनाग्निष्टोमसद्येन सर्वं यज्ञर्धं समवृंजन्तान्तरायन्नसुरान्यज्ञात्तथो'' (शतपथ ब्राह्मण 4.2.4.12)
8. ''स वा एषोऽग्निरेव यदग्निष्टोमस्तं यदस्तुवँस्तस्मादग्निस्तोमस्तमग्निस्तोमं सन्तमग्निष्टोम इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः'' (ऐतरेय ब्राह्मण 3 पंचिका, 14 अध्याय, 5 खण्ड)।
9. ''यज्ञायज्ञीय'' इत्यस्यामाग्नेय्यामुत्पन्नेनाग्निष्टोमसाम्ना समाप्तेरस्याग्निष्टोम इति नाम सम्पन्नम्'' (ताण्ड्य ब्राह्मण 6.1.1 पर सायणभाष्य)।
   ''अग्निष्टोमः सः, यो हि अग्निष्टोमस्तोत्रे (यज्ञायज्ञीये) समाप्यते'' (जैमिनीय न्यायमाला विस्तर 1.6.16.42)।
10. ''स चात्र लक्षणया तत्संबद्ध-यज्ञायज्ञियाख्यस्तोत्रविशेषकरणस्तुतिपरो ज्ञेयः।

अग्ने: स्तोम: स्तुतिर्यस्मिन्सोऽग्निष्टोम: । योगरूढ पदम् । अग्निस्तुतिसंपादकेन यज्ञायज्ञियनामकेन स्तोत्रेण संस्था समाप्तिर्यस्य सोऽग्निष्टोम इति निष्कृष्टोऽग्निष्टोमशब्दार्थ:'' (सत्याषाढ श्रौ.सू. 7.1, गोपीनाथ, पृष्ठ 549)।

11. ''यज्ञायज्ञियस्य स्तोत्रे अग्निस्तुत्या यस्य संस्था सोऽग्निष्टोम:, प्रथममाहकर्त्तव्य:'' (आपश्रौसू. 10.2.3 पर रुद्रदत्त की वृत्ति)।

12. ''सोमयागस्य सप्त संस्था: तत्राद्या संस्था (अग्निष्टोम:) उच्यते'' (अष्टाध्यायी की काशिका वृत्ति पर पदमंजरी—8.3.82)।

13. ''अग्निष्टोम इति स्तोत्रविशेषस्य संस्थाविशेषस्य च नाम'' (सिद्धान्तकौमुदी पर बालमनोरमा 206 ए. 14)।

14. ''अथ यदेनमूर्ध्वं सन्तं ज्योतिर्भूतमस्तुवंस्तस्माज्ज्योतिस्तोमस्तं ज्योतिस्तोमं सन्तं ज्योतिष्टोम इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा:'' (ऐ.ब्रा. 3.145)।

15. ''तं यच्चतुष्ट्या देवाश्चतुर्भि: स्तोमैरस्तुवंस्तस्माच्चतुस्तोमस्तं चतुस्तोमं सन्तं चतुष्टोम इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा:'' (ऐ.ब्रा. 3.14.5)।

16. ''स्तोत्रं च उद्गातृपुरुषैस्त्रिभि: क्रियमाण: सामगानविशेष:'' (काश्रौसू. 9.13.29 की सरलावृत्ति पर टिप्पणी)।

17. ''स्तोमशब्दश्च स्तोत्रगतसंख्यावाचक: (काश्रौसू. 10.1.16 पर सरलावृत्ति)।
''स्तोमाश्च त्रिवृत्पंचदश: सप्तदश एकविंश इत्येवं चत्वार: (ऐब्रा. 3.14.5 पर सायणभाष्य) (द्र. जैमिनीय न्यायमालाविस्तर 7.3.10)।

18. ''यो हि त्रिवृदन्यं यज्ञक्रतुमापद्यते स तं दीपयति य: पंचदश: स तं य: सप्तदश: स तं य: एकविंश: स तम्'' (ताण्ड्य महाब्राह्मण 16.1.4)।

19. ''यत्र संस्तुतानां सर्वासां स्तोत्रीयाणां दशसंख्याविभागे अन्ततो दशसंख्ययैव परिसमाप्यते नावशिष्यते स याग: विराजं सम्पद्यते'' (तांब्रा. 10.2.2 पर सायण भाष्य, द्रष्टव्य: 6.3.6 एवं 16.1.8 तथा तैसं. 7.1.1.1)।

20. ''तस्माद्यो विराजं स्तोम: सम्पद्यते तं ज्योतिष्टोमोऽग्निष्टोम इत्याचक्षते विराड्ढि छन्दसां ज्योति:'' (तांब्रा. 10.2.2)।''
किं ज्योतिष्टोमस्य ज्योतिष्टोमत्वमित्याहुर्विराजं संस्तुत: सम्पद्यते विराड् वैच्छन्दसां ज्योति:'' (तांब्रा. 6.3.6)।

21. ''अयं यज्ञस्त्रिवृदादिभि: संस्तुत: सन् विराजं सम्पद्यते तथा सति विराजत इति विराडिति व्युत्पत्या छन्दसां मध्ये विराट् ज्योति:। एवं स्तोमानां मध्ये विराट् द्वारा सम्पत्तेरयं ज्योतिष्टोम इत्युच्यत इति'' (तांब्रासा. 6.3.6)।''
''ज्योतींषि स्तोमा यस्याऽसौ ज्योतिष्टोम इति नामनिर्वचनम्'' (तांब्रासा. 16.1.4)।

22. "स: प्रथम: सोमानाम्" (सत्याश्रौसू. 7.1.6)।
23. "सर्वेभ्य: सोमेभ्य: पूर्वमग्निष्टोमाख्य: सोम: कर्त्तव्यो, न त्रिवृदादयस्तद्गुणविकारा न चान्य उक्थ्यादय एकाहा द्विरात्रादयोऽहीनाश्चेत्यर्थ:" (सत्याश्रौसू. 7.1.6 पर गोपीनाथ का भाष्य)।
24. "प्रजापतिर्वाव ज्येष्ठ: स ह्येतेनाग्रेऽयजत" (तैसं. 7.1.1.4) इति। "ज्येष्ठयज्ञो वा एष यदग्निष्टोम:" (तांब्रा. 6.3.8)। "प्रजापतेर्ज्येष्ठत्वं प्रथमोत्पन्नत्वात्" (सत्याश्रौसू. 7.1.6 पर गोपीनाथ)। "तेनैव सर्वेभ्य: सोमेभ्य: पूर्वमग्निष्टोमस्यानुष्ठितत्वाज्ज्येष्ठत्वम्। प्रजापतिर्यथा सर्वोत्पादकत्वाज्ज्येष्ठस्तथाऽग्निष्टोमोऽपि सर्वेभ्य: सोमेभ्यो धर्माणां समर्पणाज्ज्येष्ठ:" (सत्याश्रौसू. 7.1.6 पर गोपीनाथ)।
25. "अग्निष्टोम: प्रथम यज्ञ:" (आपश्रौसू. 10.2.1-2)।
26. "प्रजापतिरकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति स एतमग्निष्टोममपश्यत्तमाहरत्तेनेमा: प्रजा असृजत" (तांब्रा. 6.1.1)।
27. "एष वाव प्रथमो यज्ञानां य एतेनाऽनिष्ट्वाऽथवाऽन्येन यजते गर्त्तापरन्यमेव तज्जीयते प्र वा मीयते" (तांब्रा. 16.1.12)।
28. "योऽयं सर्वप्रकृतिभूतोऽग्निष्टोमो विहित: तत्सदृश एष ज्योतिराख्य एकाह इति" (तांब्रासा. 16.1.2)।
29. "य एतेनेत्यग्निष्टोम: प्रकरणात्॥ लिंगाच्च"॥ (मीमांसासूत्र 5.3.13.37-38)।
30. मीमांसासूत्र 5.3.13.38 पर शाबरभाष्य।
31. "तस्य (ज्योतिष्टोमस्य) नवतिशत स्तोत्रीया:" (तांब्रा. 16.1.8)। "प्रतिपदिति प्रथमतृचमेव स एव स्तोत्रीय इति चोच्यते" (तांब्रासा. 6.9.1)। "तस्य संस्तुतस्य नवतिशतं स्तोत्रीया:" (ऐब्रा. 3.14.3)।
32. "प्रात: सवने बहिष्पवमानस्त्रिवृदतो नवस्तोत्रीया भवन्ति। आज्यस्तोत्राणि चत्वारि तानि पंचदशानि षष्ठिस्तोत्रीया भवन्ति। तदुभयम्मिलित्वा एकोनसप्ततिस्तोत्रीया भवन्ति। माध्यन्दिने सवनेऽपि पंचदश माध्यन्दिन: पवमान: पृष्ठस्तोत्राणि चत्वारि अपि सप्तदश स्तोमानि मिलित्वा त्र्यशीतिस्तोत्रीया भवन्ति। तृतीयसवनेऽपि सप्तदश आर्भव पवमान:। एकविंशस्तोममग्निष्टोमस्तोत्रं मिलित्वा अष्टत्रिंशत्स्तोत्रीया भवन्ति। सवनत्रयं मिलित्वा नवत्यधिकं शतस्तोत्रीया भवन्ति" (तांब्रासा. 6.36), द्र. तांब्रासा. 16.1.8, तैसं. 7.1.1 पर सायण भाष्य, ऐब्रासा. 3.14.3, शाबरभाष्य 5.3.13.38)।
33. "उक्थ्येन पशुकामो यजेत। षोडशिना वीर्यकाम: अतिरात्रेण प्रजाकाम:

पशुकामो वा'' (आपश्रौसू. 14.1.2)। द्र. ''षोडशिना वीर्यकामः स्तुवीत'' (तैसं. 6.6.11)।

34. ''सर्वकामो अग्निष्टोमः'' (सत्याश्रौसू. 7.1.1) ''एकरूपा अन्यो यज्ञः कामायाह्रियते सर्वेभ्योऽग्निष्टोमः।''
35. ''द्वादश स्तोत्राण्यग्निष्टोमो द्वादशमासाः संवत्सरः संवत्सरं पशवोऽनु प्रजायन्ते तेन पशव्यः समृद्धः'' (तांब्रा. 6.3.3)। ''अग्नौ स्तोत्रमग्नौ शस्त्रं प्रति तिष्ठति तेन ब्रह्मवर्चस्य'' (तांब्रा. 6.3.5)।
36. अर्थसंग्रह, पृष्ठ 88
37. मीमांसासूत्र 8.1.5
38. ''प्रकृतिस्त्रिविधा—अग्निहोत्रमिष्टिः सोमश्चेति'' (तैसं. सायण भाष्यभूमिका)।
39. ''दर्शपूर्णमासधर्मा इष्टि-पशुषु-सामर्थ्यात्'' (काश्रौसू. 4.3.2)।
40. ''स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात्'' (जैमिनि 3.7.18.34)।
41. द्र. शाबरभाष्य 3.7.18.38।
42. अध्वर्युवर्ग, ब्रह्मवर्ग, होतृवर्ग एवं उद्गातृवर्ग।
43. ''केचित् अर्द्धिनः, केचित् तृतीयिनः, केचित् पादिनः'' (शाबरभा. 10.3. 14.55)।
44. ''गौश्च अश्वश्च अश्वतरश्च गर्दभाश्च अजाश्च अवयश्च ब्रीह्यश्च तिलाश्च माषाश्च'' (तांब्रा. 16.1.10)।
45. ''दक्षिणायाः द्वादशशतगोरुपायाः विभज्य दानं ज्योतिष्टोमे'' (विस्तर, 10.3.47)।
46. ''यथारम्भं द्वादश द्वादशाद्येभ्यः षड् षड् द्वितीयेभ्यश्चतस्रश्चतस्रस्तृतीयेभ्य-स्तिस्रस्तिस्र इतरेभ्यः'' (का.श्रौ. 10.2.24)।
47. ''स्तोत्रं च उद्गातृपुरुषैस्त्रिभिः क्रियमाणः सामगानविशेषः'' (का.श्रौ.; 9.13.29 पर सरलावृत्ति)।
48. ''होत्रा ऋग्वेदमन्त्रैः क्रियमाणं देवतानिष्ठगुणाभिधानं शस्त्रं शंसनं चोच्यते'' (का.श्रौ. 10.3.8 पर सरलावृत्ति की टिप्पणी)।
49. ''हिंकारनिधनरूपावाद्यन्तौ भागौ सर्वैः पठनीयौ'' (तैसंसा. 3.3.2)।
50. ''द्वितीयं प्रस्तावभागं प्रस्तोता गायति'' (तैसंसा. 3.3.2)। ''प्रस्तावः गानस्य प्रारम्भः'' (तैसं. 3.3.2 पर भट्टभास्कर), ''सर्वत्र चतुर्थस्वरा मन्द्रस्वराश्च प्रस्तावाः'' (संहितोपनिषद् ब्रा. 2.15)। (द्र. लाट्याश्रौसू. 75.11 पर अग्निस्वामी का भाष्य)।

51. "तृतीयमुद्गीथभागमुद्गाता गायति" (तैसंसा. 3.3.2)।
52. "चतुर्थं प्रतिहारभागं प्रतिहर्त्ता गायति" (तैसंसा. 3.3.2)।
53. द्र. तैसंसा. 3.3.2।
54. "अक्षरपंक्तिः सु मद् पद् वग् दे इति पंच अक्षराणि" (ऐब्रा. आर. कोष)। पंचसंख्याकानामक्षराणां समूहोऽक्षरपंक्तिः तान्येतान्यक्षराणि होतृजपादौ प्रयोक्तव्यानि" (ऐब्रासा. 8.6.2)।
55. "अध्वर्युआह्वयते येन "शोंसावोम्" इति मन्त्रेण तस्मात् पूर्वभावी होतृजपः" (ऐब्रासा. 2.5.38)।
56. "शोंसावोम्" इत्यनेन मन्त्रेण शंसनकाले होताऽध्वर्युमाह्वयति सोऽयमाहावः" (ऐब्रासा. 2.5.33)।
57. "प्रतिगरः प्रातः सवनादित्रये अग्निष्टोमे "शंसामो दैवोम्" इति (ऐब्रासा. 12.1.1)। प्रतिगीर्यते प्रत्युच्चार्यत इति प्रतिगरः" आश्वश्रौसू. 5.9.4. पर नारायणवृत्ति)।
58. "कोऽयं तूष्णीशंस इति स उच्चते—"भूरग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरित्येष नवाक्षरात्मको मन्त्रः एकस्तूष्णीशंसभागः। इन्द्रो ज्योतिर्भुवो ज्योतिरिन्द्र इत्येव दशाक्षरात्मको मन्त्रो द्वितीयस्तूष्णीशंसभागः। सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः स्वः सूर्य इत्येष नवाक्षरात्मको मन्त्रस्तृतीयस्तूष्णीशंसभागः" (ऐब्रासा. 2.9.7)। द्र. आश्वश्रौसू. 5.9.11।
59. "अग्निर्दैवेद्ध" (खिलम् 5.5.1) इत्यादिभिर्द्वादशभिर्वक्ष्यमाणैः पदैः युक्ता तत्समूहरूपा निवित्" (ऐब्रा. 2.10.1)।
60. "प्र वो देवायाग्नये" इत्यादिकं सप्तर्चं सूक्तम्" (ऐब्रासा. 2.10.1)।
61. "यत्र सन्तमप्यर्थमविवक्षित्वा उच्चारणमात्रमदृष्टार्थं क्रियते, जपः अविवक्षितार्थकम् उच्चारणमात्रमेव" (बालमीमांसा प्रकाश, पृष्ठ 71)। "यत्र वचनमात्रं मन्त्रस्य क्रियते, न स्तूयते नाशास्यते स जपः" (शाबरभाष्य 12.4.1.1)।
62. "याज्या देवतोपलक्षणार्था" (शाबरभाष्य 12.3.15.35)।
"यया इज्यते सा याज्या" (तन्त्रवार्त्तिक 3.2.5.12)।
63. "त्रिवृतं त्रिवारमावृत्तित्रयसाध्यमेतन्नामकं स्तोमम्" (तांब्रासा. 6.1.6)।
"यस्तु त्रिवृत्स्तोमोऽस्ति त्र्यावृत्या नवर्च्चः सम्पद्यन्ते" (तांब्रासा. 6.2.2)।
"त्रिवृद् बहिष्पवमानम्" (जैब्रा. 2.135)।
64. सूक्तत्रयगानसाध्यं स्तोत्रं बहिष्पवमानमित्युच्यते तत्रावस्थितानामृचां पवमानार्थत्वात् बहिः संबन्धाच्च" (विस्तर 1.4.3.6-7)।

65. ''पंचदशस्तोमं तृचगतानां तिसृणामृचां त्रिष्वपि पर्यायेषु पंचवारावृत्तिसाध्यं पंचदशस्तोमम्'' (तांब्रासा. 6.1.8)।

66. ''तानि [''अग्न आ याहि वीतये'', ''आ नो मित्रावरुण'', ''आ याहि सुषमा हि ते,'' ''इन्द्राग्नी आ गतं सुतम्''] एतानि प्रातः सवने गायत्रसाम्ना गीयमानानि चत्वार्याज्यस्तोत्राणीत्युच्यन्ते'' (विस्तर 1.4.3.6-7)।

67. ''प्रथमावृत्तौ प्रथमायामृचि त्रिरभ्यासः, द्वितीयावृत्तौ मध्यमायाम्, तृतीयावृत्तौ मध्यमोत्तमयोः सोऽयं सप्तदशस्तोम इति'' (ऐब्रा. 3.14.4)।

68. ''एतानि (''अभि त्वा शूर नोनुम'', ''कया नश्चित्र आ भुवत्'', ''तं वो दस्मामृतीषहम्'', ''तरोभिर्वो विदद्वसुम्'') एतानि क्रमेण रथन्तरवामदेव्यनौधसकालेयसामभिर्माध्यन्दिनसवने गीयमानानि पृष्ठस्तोत्राणि इत्युच्यन्ते'' (विस्तर 1.4.3.6-7)।

69. ''आर्भवसंज्ञकः पवमानः ज्योतिष्टोमे तृतीयसवनेऽस्ति। तस्मिन् पंचसूक्तानि ततः गायत्री-अनुष्टुप्-उष्णिक्-ककुब्जगतीभिः पंचच्छन्दाः सप्तसामा च भवन्ति'' (विस्तर 9.2.6)।

70. ''यज्ञायज्ञा वो अग्नय इत्यस्यामृचि गीयमानमग्निष्टोमसंज्ञकं स्तोत्रम्'' (का.श्रौ. 10.7.1. पर सरलावृत्ति)। अग्निष्टोमकांस्थाप्रयुक्तं मुख्यं स्तोत्रमिदम्। (सत्याषाढ 9.4 पर गोपीनाथ की व्याख्या)

71. ''प्रातः सवने मध्यरात्रादूर्ध्वमारभ्य मध्याह्नात्पूर्वकालस्यानुष्ठानपर्याप्तत्वान्नास्ति त्वरैवमुत्तरयोरपि सवनयोः'' (ऐब्रासा. 3.14.6.)।

72. ''तेनासत्वरमाणाश्चरेयुर्यथैव प्रातः सवन एवं माध्यन्दिन एवं तृतीयसवनः'' (ऐब्रा. 3.14.6)।



10

सोमयाग और शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग

पं. विष्णुदत्त पुरोहित
कीर्तनीया घाटी, नाथद्वारा

श्रौतयाग से पुष्टिमार्ग का सम्बन्ध बताने से पूर्व सम्प्रदाय के प्रतिपादन व प्रतिष्ठा के इतिहास को दृष्टिगोचर करने का मैं लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ, क्योंकि इस सम्प्रदाय के संस्थापक का जितना सम्बन्ध सोमयाग नामक याग से रहा है, शायद ही किसी अन्य धर्म के प्रवर्तक का रहा हो।

संक्षेप में इस इतिहास को समझा पाने के लिये शब्द सृजन के कौशल का अभाव होते हुए भी इस अवसर पर इतना ही बता देना उपयुक्त रहेगा कि वेद का अग्नि से व अग्नि का वेद से अविच्छिन्न सम्बन्ध है तथा प्रत्येक मन्त्र में भूदेवता अग्नि का आभास होता है। उसी अग्नि का एक वैदिक नाम वैश्वानर है एवं वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तक के जन्म से ही अग्नि का सम्बन्ध रहा है। इसी हेतु श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु का नाम वैश्वानर अवतार माना जाता है, और इसीलिये कुल के वंशजों को आज भी अग्निकुल से सम्बोधित किया जाता है।

श्रीमद् वल्लभ के पूर्वजों में श्री यज्ञनारायण भट्ट तैलंग ब्राह्मण ने 100 सोम यागों को सम्पन्न करने का संकल्प लिया था एवं इसी क्रम में श्री वल्लभाचार्य चरण के पिता लक्ष्मणभट्ट तक 99 सोमयागों का प्रतिपादन सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। उन्हीं श्री लक्ष्मण भट्ट को ऐसा संकेत प्राप्त हुआ कि आप द्वारा सम्पन्न हुए यज्ञों की शृंखला में मैं स्वयं प्रकट हो रहा हूँ, इसे ही सौंवा सोमयाग माना जाये एवं उसी के फलस्वरूप श्रीमदाचार्यचरण का प्राकट्य चम्पारन के जङ्गल में पृथ्वी परिक्रमा के चलते हुए मार्ग में इनकी माता श्रीमती इल्लमागारू की कोख से हुआ तथा परिक्रमा में विक्षेप के भय से उन्होंने नवजात वल्लभ को वहीं त्याग

अपने पति का अनुसरण किया। पुन: लौटने तक अग्नि द्वारा रक्षित श्रीवल्लभ को अग्नि से परिवृत एवं सुरक्षित पाकर माँ ने वात्सल्य से उन्हें ले लिया। इसी प्रकार संन्यास की आज्ञा लेने हेतु जब श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु ने अपनी भार्या से अनुमति मांगी तब भी आज्ञा न मिलने से कक्ष में रात्री के समय अग्नि स्वयं प्रज्ज्वलित हुई एवं श्रीमहाप्रभु की भार्या ने स्वाभाविक ही परे ! परे ! का घोष किया तो उसे ही आज्ञा मान वे वैराग्य को प्राप्त करने के अधिकारी बन गये एवं अपने गन्तव्य की ओर अग्रसर हो गये। इस प्रकार वैश्वानर अवतार श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्य का जन्म स्वयं ही एक सोमयाग है एवं अग्नि के माध्यम से समय-समय पर अपना श्रौत स्वरूप प्रस्तुत कर इस सम्प्रदाय के साथ एवं इसके मूल में सोमयाग का सम्बन्ध होना दर्शाता है।

वेदों में दो प्रकार के श्रौतयागों का महत्त्व है। इनमें से अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास व सोमयाग अध्वर (अहिंसात्मक) यज्ञ हैं एवं ये ही यज्ञ इस सम्प्रदाय में प्रचलित रहे हैं।

आज भी वल्लभ कुल के वंशज सोमयाग का प्रतिपादन कर अपने जीवन को धन्य मानते हैं। इन्हीं शब्दों के साथ मैं पुन: इस आयोजन के प्रणेताओं एवं आयोजकों को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ कि जिन्होंने भारत के प्रसिद्ध वेद के विद्वानों को आमन्त्रित कर इस पावन तीर्थभूमि पर ऐसा मंच उपलब्ध किया कि लुप्तप्राय श्रौतयागों की वर्तमान परिस्थितियों में भी उपयोगिता पर विचार कर यहाँ के समाज को लाभन्वित किया। एतदर्थ वे सभी साधुवाद के पात्र है।

इति शुभम्।



11

वाजपेय यज्ञ का स्वरूप और आधुनिक युग में श्रौत-यज्ञों की व्यावहारिकता

पं. रामप्रपन्न शास्त्री

श्रौत यज्ञ क्या हैं? इनके अधिकारी कौन हैं? तथा आधुनिक युग में श्रौत यज्ञों की कित्तनी व्यावहारिक्ता है? इन्हीं प्रश्नों के समाधान हेतु सारांश रूप में श्रौत यज्ञों की स्वरूप विवेचना करते हुए वाजपेय याग की विधि का सारांश रूप में विवेचन करना प्रस्तुत लेख का मुख्य ध्येय है।

श्रौत यज्ञ क्या है? वे कौन-कौन से हैं? इसका समाधान है कि वेद के मन्त्र भाग में संकेतित शतपथ ब्राह्मण, ताण्ड्य महाब्राह्मण आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में तथा आपस्तम्ब श्रौतसूत्र एवं कात्यायन श्रौत सूत्र में जिन यज्ञों का विवेचन हैं, वे श्रौत यज्ञ कहलाते हैं। इस तथ्य का "श्रुति-प्रोक्ता: श्रौतयज्ञा:" इस निर्वचन से स्वत: स्पष्टीकरण हो जाता है।

स्मार्त यज्ञ वे हैं, जिनमें पुराणादि स्मृतियों में प्रोक्त याग किये जाते हैं।

लौकिक याग वे याग हैं, जो सद्य: स्थापित अग्नियों में रुद्रयाग और विष्णुयागादि किये जाते हैं।

हाँ इतना अन्तर अवश्य है कि श्रौतयाग में षट्कार का प्रयोग होता है तथा खड़े-खड़े आहुति दी जाती है। ऐसे याग ही यज्ञ शब्द की परिभाषा में आते है।

रुद्रयागादि यज्ञ शब्द से संबोध्य नहीं है, अपितु वे हवन या होम कहलाते हैं। सोमरस की आहुति ग्रहपात्रों से देना "सवन" कहलाता है। अन्य याग "हवन" शब्द से ही संबोध्य होते हैं।

श्रौत याग के अधिकारी वे होते हैं, जो आहिताग्नि होते हैं। अर्थात् विवाह

के अनन्तर अथवा आहिताग्नि पिता की मृत्यु होने पर उत्तराधिकार के रूप में सर्वप्रथम अग्न्याधान संस्कार से संस्कारित होते हैं। वे उस अग्नि में सायं-प्रात: अग्निहोत्र करते हैं। अमावास्या पर दर्श याग करना, एवं पूर्णिमा पर पौर्णमास याग करना इसमें आवश्यक है।

इसके अनन्तर चातुर्मास्य याग और छठे महिने निरूढ़ पशुबन्ध याग, जो वर्षाकाल में किया जाता है, सम्पन्न किए जाते हैं। शरद् और वसन्त में आग्रायणेष्टि याग में यवाग्रयण करके ब्रीह्याग्रयण याग किया जाता है। प्रतिवर्ष सोम-याग किया जाता है। सोमयाग में होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा इस प्रकार चार वेद के ज्ञाता ऋत्विक होते हैं। सोमयागों में प्रथम अग्निष्टोम याग होता है और इसी के विस्तार अथवा संक्षेप से सप्तसंस्थाएँ होती हैं। ''संस्था'' शब्द अर्थ समाप्तिवाची है न कि प्रकारवाची। उदाहरणार्थ—

''यज्ञा यज्ञश वो अग्नये'' इस साम के उच्चारण के साथ जिसकी समाप्ति हो, वह अग्निष्टोम याग कहलाता है। इसी प्रकार उक्थ्यस्तोम, षोडशीस्तोम, अतिरात्रस्तोम इत्यादि साममन्त्रों के समूह के गायन करने पर जो पूर्ण होते हैं, वे तत्तत् नामों से निर्दिष्ट सोमयाग होते हैं।

इन्हीं के विस्तार के साथ अन्य तीन याग भी होते हैं, जिनमें अत्यग्निष्टोम, वाजपेययाग और आप्तोर्याम याग होते हैं।

सामवेदोक्त श्रुतियों से जो देवताओं की स्तुति कहलाती हैं, वे स्तोत्र कहलाते हैं। ऐसी स्तुतियों का समूह स्तोम कहलाता है।

इस प्रकार त्रिवृत्-स्तोम, पञ्चदशस्तोम सप्तदशस्तोम और एकविंशस्तोम इत्यादि त्रिणव, त्रयस्त्रिंश, चत्वारिंश, चतुश्चत्वारिंश एवं अष्टाचत्वारिंश शब्दों से जो साममन्त्र समूह होते हैं, वे ही स्तोम शब्द से संबोध्य होते हैं।

अग्निष्टोम में द्वादशस्तोम एवं शस्त्र होते हैं, अत्यग्निष्टोम में त्रयोदश, उक्थ्य में पञ्चदश, षोड़शी में षोड़श और वाजपेय में सप्तदश और अतिरात्र में पञ्चविंशति और आप्तोर्याम में त्रयस्त्रिंशत् स्तोम होते हैं।

इस भूमिका से स्पष्ट है कि आधुनिक युग में आहिताग्नि होना असम्भव नहीं तो दुर्गम अवश्य है, जिसमें अनेक नियमों का पालन करना होता है। यथा प्रात: सायं सन्ध्यावन्दन एवं अग्निहोत्र करना आवश्यक है। साथ ही अग्नि की निरन्तरता परमावश्यक है। आज के युग में ये सभी करना अत्यन्त कठिन है।

उदाहरणार्थ स्मरण रहे कि लंकाधिपति रावण स्वयं आहिताग्नि था और उसकी अन्त्येष्टि आहिताग्नि विधि से सम्पन्न हुई थी, ऐसा वाल्मीकीय रामायण में वर्णित है।

इस विषय में कठिनाई यह है कि इन यागों में पशुहिंसा आवश्यक है और इसके लिए उपनिषदों में घोर निन्दा की गई है। जैसे—

"अदृढा: ह्येते यज्ञप्रवाहा:, न ह्यध्रुवेण ध्रुवम् लभ्यते" अर्थात् इन यज्ञों का सकाम होने के कारण स्वर्ग प्राप्ति रूपफल में अल्पता है। इनसे अमृतत्त्व प्राप्ति की आशा नहीं है, ऐसा वेदान्त शास्त्रों का निर्णय है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है—"त्रैगुण्य-विषया: वेदा:, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।" इत्यादि निन्दा होने के कारण इन कर्मों से श्रद्धा कम हो रही है। परन्तु इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि श्रौत यज्ञों का प्रचार बन्द हो गया और चण्डीयाग, रुद्रयाग और विष्णुयाग इत्यादि का ही प्रचार रह गया है, परन्तु निष्त्रैगुण्यता तो फिर भी प्राप्त नहीं हुई। यह है श्रौतयागों की अत्यल्प भूमिका।

प्रस्तुत वाजपेय याग के सम्बन्ध में विवेचन प्रारम्भ किया जाता है।

सर्वप्रथम देशकाल और पात्र का निरूपण आवश्यक है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि पूर्वोक्त सप्तसंस्थान्तर्गत वाजपेय याग भिन्न है और विशिष्ट वाजपेय याग भिन्न। यहाँ विशिष्ट वाजपेय याग का स्वरूप निर्दिष्ट है, जिसके अधिकारी केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही होते हैं और इसका काल शरद् ऋतु होता है। इस यज्ञ के प्रारम्भ से पूर्व तथा अन्त में बृहस्पति सव नामका याग किया जाता है। यदि आश्विन की अमावस्या को वाजपेय होता है तो भाद्रपद अथवा कार्तिक पूर्णिमा को बृहस्पति सव करना चाहिये।

इस प्रकार बृहस्पति सव सम्पुटित याग वाजपेय होता है, यह प्रथम पक्ष है।

द्वितीय पक्ष है कि बृहस्पति सव के स्थान पर ज्योतिष्टोम याग होता है अथवा वाजपेय याग। वर्ष के द्वादश शुक्ल पक्षों में द्वादश याग करने चाहिये। इस पक्ष में वर्ष के युग्म अर्थात् सम शुक्ल पक्षों (द्वितीय, चतुर्थ, षट् आदि) में पृष्ठ्य, षड़हसम्बन्धी अहर्गण करने चाहिये तथा अयुग्म अर्थात् विषम शुक्ल पक्षों में वाजपेय से पूर्व ज्योतिष्टोम याग करने चाहिये। यह तृतीय पक्ष हुआ।

चतुर्थपक्ष है कि वाजपेय के पूर्व पौष की पूर्णिमा से प्रारम्भ करके भाद्रपद

पूर्णिमा तक राजसूय याग में प्रोक्त पवित्राभिषेचनीय, दशपेय; केशवपनीय, व्युष्टिद्वैरात्र, क्षत्रधृति, त्रिष्टोम एवं ज्योतिष्टोम यागों का क्रम से अनुष्ठान करना चाहिये।

वाजपेय के पश्चात् पूर्वोक्त अनुष्ठानों का विपरीत क्रम से अनुष्ठान करना चाहिये, यह चौथा क्रम है।

यह है देश, काल, पात्र और कर्मों का संक्षिप्त रूप। इन कर्मों का स्वरूप तत्तत् विधिग्रन्थों में देखने से स्पष्ट होता है।

वाजपेय का मुख्य स्वरूप है कि कार्तिक की अथवा आश्विन की अमावास्या को राजसूय की सुक्त्या करनी चाहिये। सुक्त्या से तात्पर्य कि इसमें सोमलता अथवा पशुओं की वपारूप सोम की आहुति दी जाती है। यह वपा, जिसे लौकिक भाषा में चर्बी कहा जाता है, पशु के हृदय पर सफेद रंग की इस प्रकार की झिल्ली होती है, उसका सवन ही सुक्त्या कहलाता है।

कार्तिक की अमा को सुक्त्याकरण के पक्ष में आश्विन शुक्ल दशमी को मातृपूजादि कर्म करने चाहियें। फिर सप्तदीक्षाएँ होती हैं। कार्तिक कृष्ण द्वादशी को प्रायणीयेष्टि होती है, जो यज्ञ के प्रारम्भ से पूर्व की जाती है। उसी दिन सोम का क्रयण किया जाता है तथा सुरासाधनीय द्रव्यों का संग्रह होता है। वे द्रव्य हैं—

सज्जत्वक् त्रिफला चैव, शुण्ठि चैव पुनर्नवा।
चतुर्जातक - संयुक्तं, पिप्पली गजपिप्पली॥ 1॥
वंशोऽवका बृहच्छत्रा, चित्रकं चैन्द्रवारुणी।
अश्वगन्धां समुत्पाट्य, मूलान्नैतानि निर्दिशेत्॥ 2॥
धान्यकञ्च यवानीञ्च, जीरकं कृष्णजीरकम्।
द्वे हरिद्रे वचा चैव, विरूढाः व्रीहयो यवाः॥ 3॥

ये सुरा द्रव्य बताये गये हैं। इन वस्तुओं को एकत्रित करके श्रुतिप्रोक्त क्रम से एक महान् पात्र में ओदन का प्रक्षेप करे, तत्पश्चात् शाला के नैऋत्य कोण में खड्डे में गाडकर मिट्टी से पूरित करे। इस प्रकार तीन दिन में सुरा तैयार है। यह सुरा ही सोम के रूप में सवन के काम आती है।

सवन करने के पात्र चौकोर काष्ठपात्र होते हैं। इनसे सवन किया जाता है।

अनन्तर तीनों दिन सायंकाल प्रवर्ग्य और प्रातःकाल उपसद् याग करना चाहिये। चतुर्दशी के दिन अग्निषोमीय पशु एवं सोलह हाथ का यूप अर्थात् स्तम्भ स्थापित किया जाता है, जिसे सत्रह प्रकार के वस्त्रों से वेष्टित किया जाता है। पूर्णिमा के दिन पात्र स्थापन के समय एक षोड़शी पात्र अधिक होता है और सुराग्रह के लिए सत्रह पात्र होते हैं। वाजपेय याग में सवनीय पशुओं की संख्या बाईस होती है, जिनके नामकरण भी भिन्न-भिन्न हैं। यथा—आग्नेय, ऐन्द्राग्न, ऐन्द्र, चतुर्थी, सारस्वती, मेषी (भेड़), पञ्चमी वशासंज्ञक, गौत्र (कलियुग में गौसवन का निषेध होने से अजा की स्थापना करते हैं), आदि।

अनन्तर सप्तदश संख्या वाले पशुओं का स्थापन किया जाता है, जो पशु श्याम वर्ण के बिना सींग वाले और प्रजनन की सामर्थ्य से युक्त होने चाहिये। इस प्रकार पूर्वोक्त आग्ने आदि पाँचों पशुओं की वपा का पृथक्-पृथक् होम करना चाहिये, क्योंकि इनके देवता भिन्न-भिन्न होते हैं।

परन्तु पूर्वस्थापित सप्तदश प्राजापत्य पशुओं की वपा का एक ही बार होम किया जाता है। जिस समय सवनीय हवि का निर्वाप करते हैं, उसी समय पाँच प्रकार के धान्यों से सत्रह सरावों से परिमित बार्हस्पत्य चरु का भी निर्वाप करना चाहिये। इस क्रिया के अनन्तर दक्षिणा दान किया जाता है। पुनः मरुत्वतीय होम किया जाता है। इस कर्म में माहेन्द्र नामक ग्रह से निर्वाप करने से पूर्व आग्नीध्र के समीप (जो अथर्ववेदी ब्रह्मा के समीप तृतीयस्थान पर स्थित होने वाला ऋत्विक् आग्नीध्र कहलाता है।) अध्वर्यु अर्थात् यजुर्वेदी एक रथ पर दूसरा स्थापित करके मन्त्रोच्चार पूर्वक द्वितीय रथ को नीचे उतारता है, फिर उसे धुरे में जोड़कर उक्त रथ को वेदी के समीप उपस्थित करता है और उसमें चार घोड़ों को जोता जाता है। इस प्रकार सोलह रथों में चार-चार घोड़ों का नियोजन करता है।

इस प्रकार चौसठ पशुओं के नियोजन के पश्चात् आग्नीध्र के पीछे, दो स्तम्भों को आगे-पीछे गाड़ा जाता है। गाड़ने की विधि है कि उन दोनों पर सत्रह शंकुओं से युक्त एक काष्ठ को पूर्वाग्र के क्रम से स्थापित करके उन शंकुओं में सत्रह नागरियाँ लटका दी जाती हैं। उन दुन्दुभियों को क्रमशः एक दण्ड से बजाया जाता है। अनन्तर एक क्षत्रिय वीर चत्वाल अर्थात् एक चौकोर गर्त और उस गर्त में से निकली हुई मिट्टी, जिसे उत्कर कहते हैं, जिनके मध्य में इतना अन्तराल होता है, कि इनके बीच में खड़ा क्षत्रिय क्रमशः सप्तदश संख्या के बाणों को दूर

फेंकता है। वह ध्यान रखना है कि प्रथम बाण के पतन स्थान पर जाकर वहाँ से खड़े होकर दूसरा बाण फेंकता है। इस क्रम से सप्तदश इषुओं का प्रक्षेप किया जाता है। इस प्रकार एक के बाद एक सप्तदश इषुओं के पतन के स्थान पर एक गूलर की शाखा की स्थापना की जाती है। अनन्तर मुख्य यजमान रथ पर आरोहण करता है फिर अन्य भी अपने-अपने रथों पर चढ़ जाते हैं और पूर्व में स्थापित उदुम्बुर की शाखा को लक्ष्य बनाकर अपने रथों को दौड़ाते हैं। इस क्रिया को श्रुति में "वाजि धावन" कहा गया है। उन रथों के धावन के समय ब्रह्मा रथ चक्र पर बैठकर साम गायन करते रहते हैं। पहले यजमान आगे जाता है फिर अन्य उसके पीछे चलते हैं। ये समस्त रथ औदुम्बुरीय शाखा की प्रदक्षिणा करके याग भूमि में लौट आते हैं। क्रम से सभी यजमानों को और दुन्दुमियों को ब्रह्मा नीचे उतारता है। फिर मुख्य यजमान अपने रथ का अध्वर्यु तथा अन्य सोलह रथ भी जिस-जिसके हैं, उन्हें दे दिया जाता है। इस प्रकार वाजिधावन कर्म के अनन्तर मधुग्रह और सौग्रह का प्रचार किया जाता है। यजमान अपनी पत्नी के साथ पूर्व स्थापित स्तम्भ के ऊपर गीले काष्ठ से निर्मित इक्कीस संख्या वाले सोपान से युक्त निश्रेणी पर चढ़ते हैं, जिसके नीचे खड़े पुत्र-पौत्र पीपल के पत्ते में बँधी हुई खारी मिट्टी के सत्रह ढेलों को यजमान पर फेंकते हैं। इस क्रिया को "स्वर्गारोहण क्रिया" कहा जाता है। अनन्तर एक अन्न को छोड़कर समस्त ग्राम्य अर्थात् ब्रीही आदि और आरण्यक अर्थात् नीवार आदि समस्त अन्नों का सात मन्त्रों से सात बार हवन किया जाता है और इस अन्न होम से अवशिष्ट अन्न के द्वारा यजमान को मसनद के सहारे बिठाकर उसका अभिषेक किया जाता है। तत्पश्चात् आण्याहुतियाँ और फिर वशाप्रचार होता है।

इस वाजपेय याग में अन्य सोमयागों की अपेक्षा यह विशेषता है कि उदयनीयेष्टि के स्थान पर त्रैधातवीयेष्टि होती है।

एक विशेष विधि यह है कि सभी यजमान और ऋत्विक् गण स्वर्णमालाधारी होते हैं, जिनका यागोपरान्त उन्हीं ऋत्विकों को दान कर दिया जाता है।

विशेष—इस यज्ञ का नाम वाजपेय याग है। इस कर्म में प्रयुज्यमान साम गायनों का निर्देश करना आवश्यक हो जाता है। वह है कि चतुर्थ दिन माहेन्द्रग्रह नामक शस्त्र का उल्लेख आया है, जिसका गायन रथावरोहण क्रिया के पश्चात् किया जाता है, उसका उल्लेख करते हैं—"ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ३ ॐ ॐ ३

ॐ ॐ ॐ ३ थामो दैवेति०-------'' इत्यादि का गायन किया जाता है। इस प्रकार जितने न्यूङ्ख होते है अर्थात् ॐकार का विस्तार किया जाता है, उतने ही प्रतिगर होते है। प्रणव में प्राकृत अर्थात् मूल ऋचा का पाठ होता है।

षोड़शी साम में ऋचाओं—''ओ थामो दैव भदोऽकूम०'' इस प्रकार अन्त में प्रतिगर होता है। ''दो दामो दैवायो०'' यह प्रणव में गायन होता है। ब्राह्मणाच्छंसि नामक शस्त्र के उच्चारण के समय ॐ ॐ ॐ ॐ ३ ॐ ३ ॐ ॐ ॐ ॐ ३ मदेथम दैवो ३ ३ ॐ थामो दैव यह अवसान में और प्रणव में प्राकृत होता है।

इस प्रकार सप्तदश सामों में आदित्याह जरित: इत्यादि देवनीथ नामक सप्तदश प्रणव होता है। वह है—

''ओह जरितरोथामो दैवेत्यवसाने।
तथा हजरितरोथामो दैवेति प्रणवे॥''

इसी प्रकार वाजपेय याग में सप्तदश स्तोमों का गायन किया जाता है, वह इस प्रकार है। यहाँ स्तोम गायन के तीन पर्याय है, जिनमें **प्रथम पर्याय** में पहली ऋचा का तीन बार तथा दूसरी और तीसरी ऋचा का एक-एक बार गायन होता है। इस प्रकार ५ स्तोम हुए।

द्वितीय पर्याय में पहली और तीसरी ऋचा का एक-एक बार और दूसरी ऋचा का तीन बार गायन करते है। इस प्रकार द्वितीय पर्याय में भी ५ स्तोम हुए।

तृतीय पर्याय में प्रथम ऋचा का एक बार तथा दूसरी और तीसरी ऋचा का तीन-तीन बार गायन किया जाता है। इस प्रकार ७ स्तोम हुए।

इस प्रकार ३ + १ + १, १ + ३ + १, १ + ३ + ३ ऋचा की आवृत्ति मिलकर कुल सत्रह स्तोम सम्पन्न होते हैं।

इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप में विधियों का नाम निर्देश मात्र किया गया है। समयाभाव के कारण इन विधियों का विस्तार से विवेचन करना सम्भव नहीं है।

आधुनिक युग में इन श्रौत यज्ञों की उपादेयता तो पूर्व में निर्दिष्ट की जा चुकी है, परन्तु ये समस्त दर्श-पौर्णमासादि सोमयाग पर्यन्त यच्च यावत् जितने याग होते हैं, जो सकाम कर्म-याग होते हैं, इनसे अमृतत्त्व की प्राप्ति नहीं होती है, केवल ''अग्नि चयन'' याग से ही श्रुतियों में अमृतत्त्व की प्राप्ति बताई गई है। ये समस्त कर्मकाण्ड अति जटिल एवं सकाम ही बताये गये हैं। अतएव इन्हें

गीतादि उपनिषद् शास्त्रों में अव्यवहार्य ही बताया गया है, क्योंकि इनमें कर्म की इतनी सूक्ष्मता है कि अल्पत्रुटि से ही प्रत्यवाय की आशंका रहती है।

इसीलिए गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

त्रैविद्या मां सोमपा: पूतपापा, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिविदेवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥

यद्यपि श्रुतियों एवं गीतादि उपनिषदों में कर्मत्याग का उपदेश बिल्कुल नहीं है, अपितु विधिलोप जनित प्रत्यवाय के निवारण के लिए गीतोपदेशक कहते हैं—

''मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यति।''

भगवान् कहते हैं—

''सर्वधर्मान् कर्म फलरूपेण त्यक्त्वा ईश्वरार्पणबुद्ध्या कर्म अवश्य करना चाहिये।''

यही सबका सारांश है।

उदाहरणार्थ सन्ध्याकर्म का संकल्प इस प्रकार करते हैं—''श्री परमेश्वर प्रीत्यर्थममुककर्माहं करिष्ये'' ''कायेनवाचामनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वा प्रकृते: स्वभावात्। करोमि यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पये तत्॥'' इति॥



12

वाजपेय याग

डॉ. कमला प्रसाद सिंह
वरिष्ठ उपाचार्य, संस्कृत विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ऋग्वेद 1.164.35
यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः अथर्ववेद
प्रजापतिर्यज्ञः (शतपथ ब्राह्मण 1.1.1.13)
यज्ञो वै विष्णुः (शतपथ ब्राह्मण 1.1.2.13)
सैषा त्रयी विद्या यज्ञः (शतपथ ब्राह्मण 1.1.4.1)
यज्ञेन हि दिवा दिवं गता यज्ञेनासुरानपानुदन्त।
यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति यज्ञेन सर्वं प्रतिष्ठितम्।
तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति। महानारायणोपनिषद्
अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ मनुस्मृति 3.76
यज्ञैश्च देवानाप्नोति। अग्निपुराण 380.।

इत्यादि श्रुतियों तथा स्मृतियों में यज्ञ के अप्रतिम माहात्म्य का उद्घोष किया गया है। इस महत्त्व की पृष्ठभूमि में विद्यमान कारणों का अन्वेषण आधुनिक वैज्ञानिक युग में नितान्त समीचीन है। महावैयाकरण पाणिनि के अनुसार यज्ञ शब्द ✓ यज् धातु से निष्पन्न है। ✓ यज् धातु का अर्थ देवपूजा सङ्गतिकरण तथा दान है (यजदेवपूजासङ्गतिकरणदानेषु)। देवपूजा का तात्पर्य है दैवी सद्गुणों का अनुसरण करके परिष्कृत व्यक्तित्व का निर्माण करना। सङ्गतिकरण का अभिप्राय है एकता, सहकारिता की स्थापना करना। दान का अर्थ है समाज के लिये त्याग की भावना

का प्रसारण करना। इन तीनों प्रवृत्तियों को व्यष्टि तथा समष्टि के उत्कर्ष की दिव्य धारायें कहा जा सकता है, जिनका मनोरम सङ्गम यज्ञ में दृष्टिगोचर होता है। यज्ञों की महती उपयोगिता के कारण ही वैदिक वाङ्मय में इनका साङ्गोपाङ्ग विवरण सोत्साह प्रस्तुत किया गया है। विख्यात ज्योतिषग्रन्थ 'सिद्धान्त शिरोमणि' में कहा गया है—'वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ताः'। लगध ज्योतिष में 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः' कहा गया है। गोपथब्राह्मण (1.4.24) में 'चत्वारो वै वेदाः तैर्यज्ञस्तायते'' उल्लिखित है। वात्स्यायन भाष्य (4.1.62) में 'यज्ञो मन्त्रः वेदस्य विषयः' कहा गया है।

इस प्रकार यज्ञ भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त षोडश संस्कारों के रूप में यज्ञानुष्ठान करके मानव-जीवन में पाशविक वृत्ति का परिहार करके देव-वृत्ति का प्रादुर्भाव किया जाता है। यहाँ तक कि मृत्यु के उपरान्त अन्त्येष्टि के रूप में यज्ञ का विधान किया गया है। इनसे यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि भारतीय मानव-जीवन में यज्ञ-सम्पादन अनिवार्य है। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा कल्पित भारोपीय युग में भी किसी न किसी रूप में यज्ञ का प्रचलन विद्यमान था। अग्नि की आराधना का प्रचलन तो उस युग में निर्विवाद रूप से विद्यमान था। भारत-ईरानी काल में यज्ञ-संस्था सुप्रतिष्ठित हो चुकी थी, जो अवेस्ता में प्राप्त 'आजूइति' (आहुति) 'यस्न' (यज्ञ), 'यज़्मइदे' (यजामहे), 'हओम' (सोम) इत्यादि शब्दों से स्वयं प्रमाणित है। भारतीय इतिहास के उषाकाल अर्थात् ऋग्वेद के समय में यज्ञों का सम्पादन सुव्यवस्थित रूप ग्रहण कर चुका था, जैसा कि ऋग्वेद में प्राप्त यज्ञीय शब्दों तथा उल्लेखों से स्पष्टतः द्योतित होता है। ब्राह्मण-युग में तो यज्ञ ने अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर लिया। फलतः विभिन्न प्रकार के दीर्घकालीन तथा जटिल यज्ञ अनुष्ठित होने लगे।

औषधियों तथा घृत आदि हविषों को वाष्प बनाकर उन्हें अधिक सूक्ष्म एवं प्रभावशाली बनाने की प्रक्रिया को आयुर्वेदवेत्ता प्राचीन काल से ही अपनाते रहे हैं। औषधियों आदि का हवन करने से उससे उत्पन्न ऊर्जाजनि सूक्ष्म प्रभावों के द्वारा शरीर तथा वातावरण के कीटाणु विनष्ट हो जाते हैं। आधुनिक मनीषी एम. मोनियर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ Ancient History of Medicine में सप्रमाण उल्लेख किया है कि रोग-कीटाणुओं को मारने की जितनी शक्ति यज्ञ-ऊर्जा में है, उतनी शक्ति अन्य किसी में नहीं है। शारीरिक तथा मानसिक व्याधियों को

इसके द्वारा दूर किया जा सकता है। जैसा कि अथर्ववेद से भी प्रमाणित है (12.31/32, 4.37., 1.18)। इसीलिए यज्ञ में न्यूनतम वस्त्र धारण का विधान है, जिससे सूक्ष्म यज्ञ ऊर्जा सुगमता से रोम-छिद्रों के द्वारा शरीर में प्रवेश कर सके। हवन के माध्यम से सूक्ष्मीकृत औषधि को शरीर के भीतर प्रविष्ट कराने की प्रक्रिया को एक प्रकार से जीवनी-शक्ति का अभिवर्धन भी कह सकते हैं। बलवर्धक औषधियाँ गरिष्ठ भी होती हैं। उनके न पचने पर पाचन-व्यवस्था और बिगड़ जाती है। दीर्घकालीन रोगी की पाचनक्रिया तो पहले से ही दुर्बल रहती हैं। अत: लाभ के बदले हानि प्रदान करते हैं। अत: हवन के द्वारा गरिष्ठ वस्तुओं को सूक्ष्मीकृत करके मुख, नासिका, कर्ण तथा रोम-छिद्रों के माध्यम से शरीर के भीतर प्रविष्ट कराया जाता है, जो निश्चय ही लाभ पहुँचाता है तथा यह लाभ कई गुना अधिक होता है। उदाहरणार्थ घृत तथा लालमिर्च आग में डाले जाने पर अपने प्रभाव को अत्यन्त व्यापक बना लेते हैं। फ्रान्स के विद्वान् डॉ. हॉफकिन्स तथा मद्रास के डॉ. कर्नल सिंग के अनुसार अग्नि में घृत डालने से कोसों दूर के कीटाणु मर जाते हैं। इस प्रकार यज्ञ वातावरण के परिशोधन, स्वास्थ्य लाभ तथा रोग निवारण में परम सहायक सिद्ध होते हैं।

यज्ञ की अत्यधिक उपयोगिता के कारण प्राचीन समय में विभिन्न प्रकार के यज्ञ निर्धारित काल में निर्धारित वर्ण के व्यक्ति द्वारा सम्पन्न किये जाते थे। उनमें वाजपेय यज्ञ का भी विशेष महत्त्व है। 'वाजपेय' का शाब्दिक अर्थ "अन्न तथा पान" अथवा अन्न या शक्ति के पान से है। पाश्चात्य विद्वान् वेबर ने इसका अर्थ शक्ति का रक्षण किया है। यद्यपि वाजपेय को ज्योतिष्टोम का एक रूप माना जाता है तथा इसमें 'षोडशी' याग के विधिक्रम का अनुसरण किया जाता है। तथापि अपने अनेक वैशिष्ट्यों के कारण यह एक स्वतन्त्र यज्ञ के रूप में प्रख्यात है। ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय इस यज्ञ को करने का अधिकारी है, परन्तु सोमयाग के सप्तसंस्थागत वाजपेय को वैश्य भी कर सकता है। इस यज्ञ में 17 संख्या का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इसमें 17 स्तोम, 17 शस्त्र, 17 बकरे (प्रजापति के लिए), 17 दक्षिणाएँ, 17 अरत्नी का यूप, 17 दिन की सम्पादन की अवधि, 17 सुराग्रह, 17 सोमग्रह, 17 रथ तथा 17 दुन्दुभि होते हैं। ब्राह्मण वैदुष्य के क्षेत्र में सर्वोपरि होने के लिए इसे करता था तथा क्षत्रिय आधिपत्य, स्वराज्य तथा समृद्धि के लिए करता था (स वा एष ब्राह्मणस्य चैव राजन्यस्य च यज्ञ:

[तै.ब्रा. 1.3.2], य एवं विद्वान् वाजपेयेन यजते गच्छति स्वाराज्यम्। अग्रं समानानां पर्येति। तिष्ठन्तेऽस्मै ज्यैष्ठ्याय [ताण्ड्य ब्रा. 18.6.4]।

इसके सम्पादन का समय शरद् ऋतु है। इसमें 22 सवनीय पशुओं का विधान है। अग्नि, इन्द्राग्नि तथा इन्द्र प्रत्येक के लिए एक-एक मेष, सरस्वती के लिए मेषी, मरुतों के लिए तथा प्रजापति के लिए श्यामचर्म के प्रजनन समर्थ 17 बकरों का प्रावधान है। निर्मित सुरा अथवा सुराद्रव्य तथा सोमलता का क्रय एक ही समय किया जाता है।

माध्यान्दिन सवन के साथ एक धावन-प्रतियोगिता का आयोजन किया जाता है, जिसमें 17 रथ प्रयुक्त होते हैं। इनमें से एक रथ यजमान के लिए होता है तथा शेष रथ 'वाजसृत्' कहे जाने वाले अन्य मनुष्यों के लिए होते हैं। एक क्षत्रिय 17 बाणों को मारता है तथा जहाँ 17वाँ बाण गिरता है, वहीं धानवा प्रतियोगिता की अन्तिम सीमा होती है। ब्रह्मा चात्वाल तथा उत्कर के मध्य में स्थित यूप पर "मैं वाज (शक्ति, अन्न, जाति) को नीलूं (वा.सं. IX 10)" यह कहता हुआ आरोहण करता है, जिस पर उदुम्बर का एक चक्र बँधा रहता है। 17 दुन्दुभि बजाये जाते हैं। यजमान सर्वप्रथम अन्तिम सीमा पर पहुँच कर औपचारिक रूप से विजयी होता है तथा यज्ञशाला को लौट आता है। सोम तथा सुराग्रह प्रदान किये जाते है। यजमान स्वर्गारोहण के प्रतीक के रूप में सीढ़ी के सहारे यज्ञीय यूप के शिखर पर आरोहण करता है। इसी समय यजमान तथा उसकी पत्नी के मध्य स्वर्ग के आरोहण के सम्बन्ध में तीन बार संवाद होता है। यूप-शिखर पर पहुँच जाने के उपरान्त यजमान कहता है हम लोग स्वर्ग को पहुँच गये (वाज. सं. IX 21)। इस अवस्था में स्थित उसकी और उसके परिजन अश्वत्थ-पत्र में बँधी नमक की 17 पोटरियों को फेंकते हैं। इसके उपरान्त वह नीचे उतर कर आसन पर बैठ जाता है तथा उसके ऊपर जल, दुग्ध तथा अन्य वस्तुओं का मिश्रण छिड़का जाता है। अवशिष्ट मिश्रण का प्रयोग 'वाजप्रसवीय' होम के लिए किया जाता है। अध्वर्यु यजमान को तीन बार सम्राट् घोषित करता है।

आश्वलायन के अनुसार 1700 गायें, 17 रथ, 17 घोड़े, मानव-वाहन के रूप में प्रयुक्त 17 अन्य पशु, 17 वृषभ, 17 शकट, निष्क से अलंकृत 17 दासी पुत्रियाँ तथा 17 हाथी दक्षिणा के रूप में प्रदान किये जाते हैं। लगभग यही दक्षिणाएँ अन्य आचार्यों ने भी निर्धारित की हैं।

प्रतीकात्मक रूप में यज्ञों का उद्देश्य आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए है। ऋषियों-मनीषियों ने प्राणविद्या को समझ कर यज्ञ की सूक्ष्मता को अपनाने पर बल दिया। बाएँ नासिका छिद्र की क्रिया इड़ा नाड़ी से तथा दाहिने नासिका छिद्र की पिङ्गला नाड़ी से होती है। ये दोनों नाड़ियाँ क्रमशः अग्नि तथा सोम की प्रतीक हैं। ब्रह्माण्ड में इन दोनों और पिङ्गला को क्रमशः सूर्य तथा चन्द्र नाड़ी भी कहा जाता है। इसी रहस्य को उद्घाटित करने के लिए दर्श तथा पूर्णमास इष्टियों का विधान किया गया है। अर्थात् साधक को सर्वप्रथम प्राणविद्या के अनिवार्य तत्त्वों को समझ कर उन पर अभ्यास करना चाहिए। इसी सिद्धान्त के प्रतिपादनार्थ प्रारम्भ में इन दोनों इष्टियों को करने का प्रावधान है। उपर्युक्त उभय इष्टियों द्वारा प्राणविद्या का व्रत ग्रहण कर लेने पर पशुबन्ध यज्ञ किया जाता है, क्योंकि पाशविक वृत्तियों को अधीन करने के बाद ही साधक का अभ्यास अग्रसर होगा। पशुबन्ध आसुरी प्रवृत्तियों को बाँधने-नियन्त्रित करने का रूपक है। जब साधक प्राणों की पृथक्-पृथक् स्थिति समझ कर इन्द्रिय-निग्रह द्वारा अधिकार कर लेता है, तभी वह अग्निष्टोम अर्थात् सूर्य एवं चन्द्र इन दोनों नाड़ी से संयुक्त यज्ञ अग्नि-सोम यज्ञ करता है। अग्नि-सोम यज्ञ-प्राणापानाहुति यज्ञ प्राण-अपान में समता स्थापित करने के लिए है। प्राणपान के समत्व में अथवा इड़ा-पिङ्गला दोनों के समभाव में चलने पर सुषुम्ना नाड़ी में प्राण का सञ्चार होता है। फलतः साधक अधिक उन्नत स्थिति में पहुँच जाता है। तभी उसके द्वारा वाजपेय यज्ञ किया जा सकता है।

सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग द्वारा प्राणों को ऊर्ध्वगामी करने पर उसके साथ शरीर में बल और ओज का वर्धन करने वाले वीर्य को प्राणों की ऊष्मा के द्वारा सोमरूप शान्त, सूक्ष्म एवं अदृश्य बनाकर उसको ऊपर उड़ाते जाना या उनका हरण कर लेना और उसको शरीर 'द्यु' स्थान अर्थात् मूर्धा में ले जाकर इस स्थान के देवताओं—इन्द्रियों को उस सोम का पान कराना अर्थात् बल से युक्त करना वाजपेय यज्ञ है। इस प्रकार पुनः पुनः यज्ञ करने से शतक्रतु अर्थात् इन्द्र पद प्राप्त कर लेता है। उसके आधीन सभी देव-इन्द्रियाँ हो जाती हैं, क्योंकि बार-बार वह उन्हें तृप्त करता है। यही साधक का राजसूय यज्ञ है। इस प्रकार राजसूय द्वारा जो राजा बम जाता है, वहीं अपने आत्मा रूपी राष्ट्र की समृद्धि के लिए अश्वमेध करता है। इन यज्ञों के द्वारा शरीर के आन्तरिक स्थानों का चित्रण भी

किया जाता है। यूप से बँधी हुई पत्नी का रहस्य है इड़ा तथा पिङ्गला के विधिवत् होम में मेरुदण्ड का प्रतीक यूप रखा जाना। इसी मेरुदण्ड में सुषुम्णा नाड़ी के नीचे वाले भाग में साढ़े तीन फेरे लिपटी कुण्डलिनी शक्ति की प्रतीक यूप से बधी यजमान की पत्नी। आध्यात्मिक प्राण विद्या के ये यज्ञ अपने आलंकारिक रूप में हैं। समझने हेतु चित्रण पूर्ण निरूपण करने के लिए भौतिक यज्ञों को किया जाता है। कालान्तर में यज्ञ अनेक रूढ़ियों से ग्रस्त हो गये।

निष्कर्ष में यही कहा जा सकता है कि प्रतीकात्मक कृत्यों के माध्यम से विजय तथा आधिपत्य की प्राप्ति वाजपेय यज्ञ का लक्ष्य है अथवा आध्यात्मिक उत्कर्ष की उपलब्धि इसका उद्देश्य है।



13

वाजपेय याग के कुछ एक महत्त्वपूर्ण कृत्य

डॉ. महेन्द्र कुमार मिश्र, डी.लिट्
डॉ. मञ्जु मिश्र
1/612-सी सुरेन्द्र नगर, अलीगढ़

सूत्र ग्रन्थों ने सोमयज्ञों के सात प्रकार बताये हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र एवं आप्तोर्याम।[1] वाजपेय शब्द का अर्थ है 'भोजन एवं पेय'' अथवा ''शक्ति का पीना'' या भोजन या जाति का पीना।[2] वाजपेय याग भी एक सोमयज्ञ है। इस याग में भी सोमरस का पान किया जाता है। अतः इस यज्ञ के सम्पादन में भोजन (अन्न) शक्ति आदि की प्राप्ति होती है। इस यज्ञ में षोडशी की विधि पाई जाती है। यह ज्योतिष्टोम याग का स्वरूप कहा गया है, किन्तु इसकी अपनी पृथक् विशेषतायें उल्लेखनीय हैं। इस यज्ञ में 17 की संख्या को प्रमुखता प्राप्त है। इस याग में स्तोमों और शस्त्रों की संख्या 17 है। इसमें प्रजापति के लिये 17 पशुओं की बलि होती है। दक्षिणा में भी 17 वस्तुएं दी जाती है। यज्ञ-यूप जिसमें बाँधकर पशु की बलि दी जाती है, 17 अरत्नियों का लम्बा होता है। यूप में परिधान बाँधा जाता है, वह भी 17 टुकड़ों वाला होता है। यह यज्ञ 17 दिनों तक चलता है। जिसमें 13 दिनों तक दीक्षा 3 दिनों तक उपसद तथा एक दिन सोमलता से रस निकालने का कार्य चलता है।[3] इस यज्ञ में प्रजापति के लिये 17 प्यालों में सुरा भरी रहती है। सत्रह प्यालियों में सोमरस भी रखा जाता है। इस यज्ञ में 17 रथ होते हैं। जिनमें घोड़े जोत कर दौड़ की जाती है। वेदी की उत्तरी श्रोणी पर 17 ढोलकें रखी रहती हैं, जो साथ ही बजाई जाती हैं।[4] यह जटिल कृत्य उसके द्वारा किया जाता था, जो आधिपत्य, समृद्धि या स्वराज्य का अभिलाषी होता था।[5]

यह यज्ञ शरद् ऋतु में सम्पादित होता है। इस यज्ञ को करने का अधिकार ब्राह्मण या क्षत्रिय को ही प्राप्त था, वैश्य को नहीं।[6] इस यज्ञ के सभी पुरोहित, यजमान एवं यजमान की पत्नी स्वर्ण की सिकड़ियाँ (गले का हार) धारण करते हैं। पुरोहितों की सिकड़ियाँ उनकी दक्षिणा हो जाती थी। इस यज्ञ में अग्नि, इन्द्र और इन्द्राग्नि के लिये जो पशु बलि दिये जाते हैं, उनके अतिरिक्त मरुतों के लिये एक वन्ध्या गाय, सरस्वती के लिये एक भेड़, प्रजापति के लिये शृंगविहीन एक रंग वाली या काली, तरुण एवं पुष्ट 17 बकरियाँ दिये जाने का विधान है।[7] प्रतिप्रस्थाता हविर्धान के दक्षिणी धुरे के पश्चिमी भाग (पार्श्व) में एक ऊँचे स्थान का निर्माण करता है, जिस पर विभिन्न जड़ी-बूटियों से निर्मित आसव (परिश्रुत) की 17 प्यालियाँ रखी जाती हैं। सोमपात्र गाड़ी के धुरे के पूर्व तथा आसव पात्र पश्चिम दिशा में एक-दूसरे से पृथक् रखे जाते हैं। कात्यायन का मत है कि नेष्टा नामक पुरोहित ही खर एवं आसव पात्रों का निर्माण करता है। आसवपात्रों के मध्य में एक स्वर्ण पात्र में मधु रखा जाता है। जब मध्याह्न कालीन सोमरस निकाला जाता है, उस समय रथों की दौड़ करायी जाती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (1/3/2) ने उस दौड़ की ओर संकेत किया है, जिसमें बृहस्पति की विजय हुयी थी। इस ग्रन्थ ने उस दौड़ को वाजपेय यज्ञ से सम्बद्ध माना है।

आहवनीय अग्नि के पूर्व में 17 रथ इस प्रकार रखे जाते हैं कि उसके जुये उत्तर या पूर्व में रहें। यजमान के रथ में तीन घोड़े मन्त्रों के साथ जोते जाते हैं, चौथा घोड़ा तीसरे घोड़े के साथ बिना जुते ही दौड़ता है। इन घोड़ों को बृहस्पति के लिये बनाया गया चरु सुंघाया जाता है, अन्य 16 रथों में वेदी के बाहर चार-चार घोड़े बिना मन्त्रों के जोत दिये जाते हैं।[8] चत्वाल और उत्कट के मध्य एक क्षत्रिय या राजपुत्र एक तीर छोड़ता है, जहाँ वह तीर गिरता है, वहाँ से एक-दूसरा तीर उसी के द्वारा छोड़ा जाता है। यह क्रिया 17 बार की जाती है।[9] जब रथों की दौड़ आरम्भ होती है, ब्रह्मा 17 अरों वाला एक पहिया रथ की धुरी में लगा कर उस पर चढ़ता है और कहता है कि ''सविता देवता की उत्तेजना पर मैं वाज (शक्ति, भोजन या दौड़) जीत लूँ।[10] जब पहिया बाँयें से दायें तीन बार घुमाया जाता है, तो ब्रह्मा नामक पुरोहित वाजि-साम का गायन करता है।[11] ब्रह्मा निम्नलिखित मन्त्र का पाठ या तीन बार मन्त्र को पढ़ता है।[12] यह मन्त्र उन मन्त्रों में से एक है, जो ऋग्वेद में नहीं पाया जाता—

"आविर्मर्या आ वाजं वाजिनो अग्यन्देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्गा अर्वन्तो जयत।"

यजमान विशेष रूप से उस रथ में बैठता है, जिस पर मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। अध्वर्यु या उसका शिष्य, यजमान से वैदिक मन्त्र कहलवाने के लिये उसके साथ बैठ जाता है। अन्य लोग, जिन्हें वाजस्तृत् कहा जाता है, दौड़ में सम्मिलित होने के लिये शेष 16 रथों में बैठ जाते हैं। 16 रथों की पंक्ति के किसी एक रथ में एक क्षत्रिय या वैश्य बैठ जाता है। इस प्रकार रथ दौड़ आरम्भ हो जाती है। इस समय 17 ढोलकें बजाई जाती हैं। बृहस्पति के निमित्त 17 पात्रों में पके नीवार (चावल) के चरु को सभी घोड़े सूंघ लेते हैं। सबसे आगे यजमान का रथ होता है। अध्वर्यु यजमान से विजय मन्त्र (अग्निरेकाक्षरेण) बुलवाता है। लक्ष्य तक पहुँचते ही रथ उत्तर की ओर जाकर पुनः दक्षिणामिमुख हो जाता है।[13] सभी रथ पुनः यज्ञ स्थल पर लौट आते हैं। सभी घोड़ों को पुनः नीवार का चरु सुंघाया जाता है। तदनु 'दुन्दुमि विमोचनीय' होम होता है। ढौलक बजते समय होम किया जाता है। एक-एक बेर (अर्थात् कृष्णल नामक एक विशिष्ट तोल के बराबर) स्वर्णखण्ड रथ में बैठने वाले सभी लोगों को दिया जाता है, जिसे वे पुनः लौटा देते हैं। इन स्वर्ण खण्डों को ब्रह्मा (पुरोहित) ग्रहण करता है। स्वर्णपात्र में रखा मधु, पात्र सहित ब्रह्मा को दिया जाता है। तदनु सोम पात्र ग्रहण किये जाते हैं। अध्वर्यु होतृ-चमस ग्रहण करता है। उसी प्रकार चमसाध्वर्यु भी अपने पात्र उठा लेते हैं। तदनु अन्य कृत्य किये जाते हैं।

वाजपेय यज्ञ के उपरान्त यजमान क्षत्रियोचित व्यवहार करता है। वह अध्ययन या दान आदि कर सकता है। इसके उपरान्त वह अभिवादन के लिये स्वयं खड़ा नहीं होता, न ऐसे लोगों के साथ खाट पर बैठ सकता हैं, जिसने वाजपेय यज्ञ नहीं किया है।

अध्वर्यु यजमान वाले रथ को तथा यूप में बंधे 17 परिधानों को ले लेता है। यज्ञीय दक्षिणा के सम्बन्ध में अनेक मत हैं।[14] आश्वलायन के अनुसार 1700 गायें 17 अश्वयुक्त रथ, पुरुषों के चढ़ने योग्य 17 पशु, 17 बैल, 17 गाड़ियों, सुनहरे परिधानों से सजे 17 हाथी दक्षिणा में दिये जाने चाहिये। ये सभी वस्तुयें पुरोहितों में बाँट दी जाती हैं।

वाजपेय यज्ञ में बहुत से प्रतीकात्मक तत्त्व पाये जाते हैं। आश्वलायन

(9/9/19) का मत है कि वाजपेय यज्ञ करने के उपरान्त राजा को चाहिये कि वह राजसूय यज्ञ करे और ब्राह्मण को चाहिये कि वह बृहस्पति सव करे। यह वाजपेय का ही एक अंग जैमिनि के द्वारा स्वीकार किया गया है। तैत्तिरीय तथा आश्वलायन के अनुसार बृहस्पति सव एक प्रकार का एक दिवसीय सोमयज्ञ है, जो आधिपत्य के अभिलाषी द्वारा किया जाता है।[15] आश्वलायन ने ब्रह्मवर्चस (आध्यात्मिक महत्ता) के अभिलाषी के लिये इसे करने को कहा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने राजपुरोहित पद की प्राप्ति हेतु इसे करने को कहा है।[16]

अग्निष्टोम तथा अन्य सोमयज्ञ एकाह यज्ञ कहे जाते हैं। क्योंकि उनमें सोमरस व्यक्तियों द्वारा एक ही दिन में तीन बार पान किया जाता है। अन्य सोम यज्ञों में बृहस्पतिसव, गोसव, श्येन, उद्भिद्, विश्वजित्, व्रात्यस्तोम आदि भी वैदिक साहित्य द्वारा कहे गये हैं।[17] इनमें विश्वजित् बहुत महत्त्वपूर्ण है, जिसमें 1000 गाय या ज्येष्ठ पुत्र का भाग छोड़कर यजमान अपनी सभी सम्पत्ति दान में दे देता है। भूमि एवं खेतिहर श्रमिक शूद्रों को दान में नहीं दिया जाता।[18] इस यज्ञ के उपरान्त यजमान उदुम्बर वृक्ष के नीचे तीन दिनों तक रह कर मात्र कन्दमूल पर ही निर्वाह करता है। तीन दिनों तक वह निषादों की बस्ती में रहकर चावल, श्यामाक (सावां) एक हरिण के मांस पर निर्वाह करता है। तीन दिन वैश्यों तथा अन्य तीन दिनों तक क्षत्रियों के साथ निवास करता है। तदनु एक वर्ष पर्यन्त वह जो कुछ भी दिया जाय, उसे अस्वीकार नहीं कर सकता, परन्तु भिक्षा नहीं माँगता।

इस प्रकार सोम यज्ञों में वाजपेय यज्ञ बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है।



सन्दर्भ

1. कात्यायन सूत्र 10/9/27, आश्वलायन 6/11/1 लाट्यायन 5/4/24
2. तैत्तिरीय ब्राह्मण 1/342 'वाजाप्यो वा एष:।' वाजं ह्येतेन देवा ऐप्सन्। सोमो

वै वाजपेय:।.... अन्नं वै वाजपेय:।'' तथा शांखायन श्रौत. (5/1/4-6) पानं वै पेय:। अन्न वाज:। पानं वै पूर्वमथान्नम्। तयोरुभयोराप्त्यै।''

3. आप. 18/1/5 ताण्ड्य. 18/7/5, आप. 18/1/12, आश्वलायन 9/9/2-3
4. आप. 18/4/4 एवं 7 कात्यायन 10/3/14
5. आश्व. 9/9/1 आपस्तम्ब 18/1/1 (इन्द्र पदवी या निर्विवेध राज्य)
6. तैत्तिरीय ब्राह्मण 1/3/2 लाट्यायन 8/11/1 कात्यायन 14/1/1 आपस्तम्ब 18/1/1
7. आपस्तम्ब. 18/2/12-13 कात्यायन0 18/2/11-13
8. कात्यायन 14/1/17, आपस्तम्ब 18/3/3 तथा 12-14
9. कात्यायन 14/3/11
10. आप. 18/3/12 कात्यायन 14/3/1, 16-17
11. आप0 18/4/8 का.या. 14/3/13 वाज.सं. 9/10
12. आप0 18/4/11, आश्व. 9/9/8 लाट्यायन 5/12/14
13. आश्वलायन 9/9/3
14. वाज. संहिता 8/31-34 तैत्ति. सं. 1/1/11
15. आप. 18/3/4-5 आश्व. 25/9/14-17, कात्यायन 14/2/29-33 लाट्या. 8/11/1622
16. जैमिनि 4/3/29-31, तैत्ति. ब्रा. 2/7/1, आपस्तम्ब 22/7/5, आश्वलायन 9/5/3
17. आश्व. 9/5/3 तैत्ति.ब्रा. 2/7/1
18. आश्व. 9/5-11 बौधा. 18/1-10
19. जैमिनि. 4/3/10-16, 1/7/1-20, 7/3/6-11, 10/6/13
20. कात्या. 22/1/9-133 लाट्या. 8/2/1-16



14

अश्वमेध यज्ञ

डॉ. वीरेन्द्र कुमार वर्मा
वरिष्ठ प्रोफेसर, संस्कृत,
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अश्वमेध याग अत्यन्त प्रसिद्ध याग है। यह याग अनुष्ठान की दृष्टि से उतना ही प्राचीन है, जितना वेद। इसका उल्लेख ऋग्वेद में भी प्राप्त है। ऋग्वेद के दो सूक्तों (1/162-163) का तो देवता ही अश्व है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि अश्वमेध का आविर्भाव भारोपीय काल में ही हो गया था।[1]परवर्ती काल में तो इसका प्रभाव बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बतलाया गया। कहा जाता है कि सौ अश्वमेध करने वाला राजा इन्द्र को भी स्वर्ग के अधिपति पद से हटाकर स्वयं स्वर्ग का अधिपति बन जाता है। अश्वमेधी राजाओं ने पुरोहितों की दक्षिणा के रूप में अत्यधिक धन व्यय किया। इस याग के माध्यम से अनेक राजाओं ने राजकीय शक्ति का प्रदर्शन किया; विजेता राजाओं ने अपनी विजय का सार्वजनिक प्रदर्शन किया।

श्रौतयागों में अश्वमेध सर्वाधिक प्रभावशाली तथा उपादेय है। शतपथ-ब्राह्मण में अश्वमेध को यज्ञों का राजा कहा गया है।[2] शतपथ यह भी कहता है कि अश्वमेध करने वाला सब दिशाओं को जीत लेता है, इस संसार को जीतता है, अश्वमेध उसको शासक तथा धारक बनाता है।[3] जो अश्वमेध करता है, वह सब कामनाओं की पूर्ति करता है, सब पदार्थों को प्राप्त कर लेता है। अश्वमेध सर्वस्व है। सबकी प्राप्ति के लिए, सबकी उपलब्धि के लिए है।[4] यह सबका प्रायश्चित्त और सबकी औषधि है। इससे देवता सब पापों से छूट गये, यहाँ तक कि ब्रह्महत्या से भी। जो अश्वमेध यज्ञ करता है, वह सब पापों से छूट जाता है, ब्रह्महत्या से भी।[5]

अश्वमेध यज्ञ सोमयाग है। सोमयज्ञ होने पर भी इसमें सवनीय पशु के

रूप में अश्व का संज्ञपन किया जाता है, अत: इसे 'अश्वमेध' कहा जाता है। यद्यपि इस यज्ञ के अनुष्ठान में एक वर्ष या इससे भी अधिक समय लग जाता है, तथापि मुख्य याग तीन दिन में ही सम्पन्न होता है। यही कारण है कि सूत्र-ग्रन्थों में इसे 'त्रिदिवसात्मक अहीन' कहा गया है।

यज्ञाधिकारी—

अश्वमेध यज्ञ करने का अधिकारी सार्वभौम राजा होता है अर्थात् जो समग्र भूमण्डल का शासक होता है, जिसके वश में अन्य सामन्त राजा होते हैं, वही इस यज्ञ का अनुष्ठान कर सकता है। साधारण क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण एवं वैश्य इस यज्ञ को करने के अधिकारी नहीं होते हैं। यह मुख्य कल्प है। आपस्तम्ब आदि सूत्रकार गौण रूप से असार्वभौम शासक का भी इस यज्ञ में अधिकार मानते हैं। कात्यायन के अनुसार तो राजसूय की भाँति इस यज्ञ का अधिकारी प्रत्येक राजा होता है। यही कारण है कि ग्रन्थों में अश्वमेध को 'राजसूय' कहा गया है।[6] अश्वमेध के अनुष्ठान में विपुल धन व्यय होता है। अत: अत्यधिक धनी राजा ही इस यज्ञ का अनुष्ठान कर सकता है। इस यज्ञ के अनुष्ठान के लिए राजा को प्रजा पर कर लगाने अथवा राजकोष रिक्त कर देने की अनुमति नहीं है। महाधनी होने पर भी जो राजा अति बली नहीं है, वह इस यज्ञ का अनुष्ठान नहीं कर सकता है। जो अपने बल से सबको अभिभूत कर सकता है, वही राजा इस यज्ञ को सम्पन्न कर सकता है। निर्बल राजा के अश्व को तो कोई भी राजा पकड़ लेता है, जिससे यज्ञ सम्पन्न नहीं होता। अत: राजा को अतिधनी तथा अतिबली होना चाहिए।

अश्वमेध का काल—

अश्वमेध यज्ञ को वसन्त अथवा ग्रीष्म ऋतु में प्रारम्भ करना चाहिए। फाल्गुन अथवा ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी अथवा नवमी तिथि इस यज्ञ के प्रारम्भ के लिए उपयुक्त होती है।

अश्वलक्षण—

अश्वमेध यज्ञ में उसी अश्व का उपयोग होता है, जो गम्भीर आकृति वाला हो, जो गतिवाला हो, युवा हो, जो मूल्य में सहस्र गायों के बराबर हो तथा जिसकी बराबरी अन्य कोई अश्व न कर सकता हो। उस अश्व का अगला आधा भाग

काला तथा पिछला भाग सफेद होना चाहिए तथा उसके माथे पर शकट का चिह्न होना चाहिए।

राजा की पत्नियों तथा उनकी अनुचरियों का स्वरूप—

राजा की चार पत्नियाँ होती हैं—प्रथम पत्नी महिषी (पटरानी) होती है, द्वितीय परिणीता स्त्री वावाता कहलाती है, जो सर्वाधिक प्रिय होती है, तृतीय परिणीता पत्नी परिवृक्ता कहलाती है, जो प्रिय नहीं होती है, चतुर्थ परिणीता पत्नी पालागली होती है, जो दूतपुत्री होती है। सौ राजपुत्रियाँ महिषी की अनुचरियाँ होती हैं, सौ क्षत्रियपुत्रियाँ वावाता की अनुचरियाँ होती हैं, सौ सूतपुत्रियाँ परिवृक्ता की अनुचरियाँ हैं, द्वारपालों की सौ पुत्रियाँ पालागली की अनुचरियाँ होती हैं।

मुख्य ऋत्विजों एवं सहऋत्विजों की संख्या—

अश्वमेध यज्ञ में 16 ऋत्विज होंगे। इनका चार गणों में विभाग होगा—

अध्वर्युगण में	ब्रह्मगण में	होतृगण में	उद्गातृगण में
अध्वर्यु	ब्रह्मा	होता	उद्गाता
प्रतिप्रस्थाता	ब्राह्मणाच्छंसी	मैत्रावरुण	प्रस्तोता
नेष्टा	अग्नीध्र	अच्छावाक	प्रतिहर्ता
उन्नेता	पोता	ग्रावस्तुत्	सुब्रह्मण्य

उपर्युक्त में अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता तथा उद्गाता प्रधान ऋत्विज हैं। अवशिष्ट 12 सहायक ऋत्विज होते हैं।

अश्वमेध याग के अनुष्ठान की विधि

ब्रह्मौदन पाक—

अश्वमेध याग का प्रारम्भ ब्रह्मौदनपाक से होता है। अध्वर्यु चारों दिशाओं से लाये गए जल में ब्रह्मौदन को पकाता है। वह महाऋत्विजों-अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता और उद्गाता को ब्रह्मौदन देता है। महाऋत्विज लोग ब्रह्मौदन खाते हैं। यजमान प्रत्येक ऋत्विज को एक-एक सहस्र गाय और सोना दान में देता है। यह सोना सौ मान का होता है।

तदनन्तर यजमान की चार पत्नियाँ महिषी, वावाता, परिवृक्ता और पालागली,

अपनी सौ-सौ अनुचरियों के साथ वहाँ उपस्थित होती हैं। चारों रानियाँ मुक्तामणियों और सोने के हार से अलंकृत होती हैं। अपनी रानियों के साथ यजमान अग्निगृह में प्रवेश करता है—पूर्व द्वार से यजमान, दक्षिण द्वार से रानियाँ। राजा सायंकाल अग्निहोत्र करने के पश्चात् गार्हपत्य के पीछे उत्तर की ओर सिर करके वावाता के साथ सोता है। अन्य पत्नियाँ भी वही सोती हैं। ब्रह्मचर्य की नियमपूर्वक रक्षा करता है। सूर्योदय होने पर अग्निहोत्र करके अध्वर्यु पूर्णाहुति देता है। अग्नि की इष्टि को करता है। इसके लिये पन्द्रह सामिधेनियाँ होती हैं। तदनन्तर पूषा की इष्टि को करता है। इसके लिये सत्रह सामिधेनियाँ होती हैं।

तत्पश्चात् अध्वर्यु बारह हाथ या तेरह हाथ लम्बी दर्भ की रस्सी को घृत से चुपड़ कर अश्व को बाँधने के लिए ब्रह्मा से अनुज्ञा माँगता है। ब्रह्मा से अनुज्ञा प्राप्त होने पर अश्व के कण्ठ में रस्सी बाँधता है और तब अश्व को किसी समीपवर्ती तडाग में ले जाया जाता है। अश्व के साथ एक चार आँखों वाले (चार आँखों का कुत्ता वह है, जिसकी आँखों के ऊपर आँख के सदृश चिह्न होते हैं) कुत्ते को भी वहाँ ले जाया जाता है। उन दोनों को तडाग में प्रवेश कराया जाता है। तब शूद्र पुरुष से वैश्या स्त्री में उत्पन्न पुरुष के द्वारा मुसल से उस कुत्ते को मरवा कर अश्व के पैरों के नीचे फेंक दिया जाता है। तब वहीं पर स्थित अश्व का प्रोक्षण महाऋत्विज राजपुरुषों के साथ करते हैं। प्रोक्षण का प्रकार इस प्रकार है—सौ राजपुत्रों के साथ अध्वर्यु अश्व के पूर्व भाग में प्रोक्षण करे। सौ शूर क्षत्रियों के साथ होता उत्तराभिमुख खड़े होकर, अश्व के दक्षिण भाग में प्रोक्षण करे। सौ सारथियों के साथ ब्रह्मा, पूर्व की ओर मुँह करके खड़ा हुआ, अश्व के पश्चिम भाग में प्रोक्षण करे। सौ द्वारपालों के साथ उद्गाता, दक्षिणाभिमुख खड़ा होकर, अश्व के उत्तर भाग में प्रोक्षण करे। तब अश्व को तडाग से बाहर निकाल कर यज्ञशाला में ले जाया जाता है और जब तक अश्व के शरीर से जल बिन्दु भूमि पर गिरते रहेंगे, तब तक स्तोकीय संज्ञक आहुतियाँ आहवनीय अग्नि में दी जायेंगी। इसके बाद सविता देवता की तीन इष्टियाँ होती हैं। इनमें बारह-बारह कपालों के पुरोडाश दिये जाते हैं। इसी समय वीणा बजाने वाला ब्राह्मण यजमान के दान आदि के विषय में तीन गाथा गाता है। जब वह समाप्त हो जाय, तो अध्वर्यु और यजमान उठकर अश्व के दाहिने कान में जपते हैं—'विभूर्मात्रा प्रभुः पित्रा.....'' (यजु. 22/19) आदि।

तदनन्तर अध्वर्यु और यजमान सौ वृद्ध अश्वों के साथ अश्व को दिग्विजयार्थ पृथ्वी पर भ्रमण करने के लिये उत्तर-पूर्व दिशा में छोड़ देते हैं। उस अश्व के साथ उसकी रक्षा के लिए चार सौ वीर पुरुष जाते हैं—सौ राजपुत्र कवच धारण किये हुए, सौ क्षत्रिय तलवार लिए हुए, सौ सूतपुत्र तीरों से भरे हुए तरकशों को लिए हुए, सौ द्वारपालों के पुत्र डण्डे लिए हुए। उनको इस प्रकार आदेश देना चाहिए—अश्व को अधिक जल वाले सरोवर से तथा घोड़ियों से बचाए रखना; अश्व को जल पिलाना, चारा खिलाना; जो ब्राह्मण आश्वमेधिक कर्म नहीं जानता उससे अपने भोजनादि को ग्रहण करना; रात्रि में रथकार के घर में निवास करना। इस प्रकार के आदेशों को प्राप्त करके प्रमाद न करते हुए वे रक्षकगण अश्व को पृथ्वी पर भ्रमण कराके एक वर्ष के बाद याग स्थान में वापिस आते हैं। उससे पहले नहीं। यदि मार्ग में राजा का कोई शत्रु स्पर्धा से अश्व को पकड़ ले तो उसके साथ युद्ध करके रक्षकगण अश्व को मुक्त कराकर वापिस लायें। जब तक अश्व वापिस यागस्थान में नहीं आता, तब तक याग का अनुष्ठान नहीं किया जा सकता है।

अश्व को छोड़कर अध्वर्यु वेदि के दक्षिण ओर एक जरी की दरी बिछाता है। होता उस पर बैठता है। होता के दाहिनी ओर सोने की तिपाई पर यजमान बैठता है। उसके दाहिनी ओर की दो दरियों पर ब्रह्मा और उद्गाता। उसके सामने सोने के स्टूल या पट्टे पर अध्वर्यु। तब अध्वर्यु होता को पारिप्लवाख्यान के लिए निर्देश देता है। इस आख्यान में सब राजाओं, सब प्रकार की प्रजाओं, सब वेदों, सब देवों, सब भूतों का नाम लेता है। इसके बाद प्रक्रम होम का सम्पादन आज्य से होता है। तदनन्तर धृति होम किया जाता है। इसमें चार आहुतियाँ दी जाती हैं। धृति होम के समय में ही कोई क्षत्रिय यजमान की विजय आदि से सम्बद्ध स्वनिर्मित तीन गाथाओं को वीणा पर गाता है। इस प्रकार प्रथम दिन का कृत्य समाप्त होता है।

इस प्रकार एक वर्ष पर्यन्त वावाता के साथ शयन, तीन सावित्री इष्टियों, वीणागान, पारिप्लवाख्यान, प्रक्रम होम और धृतिहोम होते हैं।

संवत्सर की समाप्ति होने पर, जब अश्व वापिस आ जाये, तब दीक्षा होती है। बारह दिन दीक्षा के होते हैं, बारह उपसदों के और तीन सुत्या (सोम निचोड़ने) के। प्रमुख याग तीन दिनों में सम्पन्न होता है, जिनका विवरण इस प्रकार है—

प्रथम सुत्या-दिवस—

इसमें इक्कीस यूप गाड़े जाते हैं, इक्कीस-इक्कीस हाथ लम्बे। अग्निष्ठ यूप (अर्थात् आह्वनीय के सामने का, बीच का) रज्जुदाल लकड़ी का होता है, उसके दोनों ओर दो पीतदारु के, छः बिल्व के अर्थात् तीन इधर, तीन उधर, छः खदिर के अर्थात् तीन इधर, तीन उधर, छः पलाश के अर्थात् तीन इधर, तीन उधर। इनमें इक्कीस अग्निषोमीय पशुओं का आलभन किया जाता है। अनेक पशु होने पर भी पशुपुरोडाश एक ही होता है। यह प्रथम सुत्या अग्निष्टोम संस्था वाली होती है। सवनीय पशु इक्कीस होते हैं। ग्यारह-ग्यारह के दो समूहों का आलभन करना चाहिए। अग्निष्टोम के समाप्त होने पर अध्वर्यु 'अन्नहोम' की आहुतियाँ देता है। 'प्राणाय स्वाहा', 'अपानाय स्वाहा', आदि बारह अनुवाकों (यजु. 22/23-24) से आहुतियाँ देता है। मरुत्वतीय शस्त्र, निष्कैवल्य शस्त्र का पाठ होता है। तदनन्तर ऋत्विज सोम-भक्षण करते हैं।

द्वितीय सुत्या-दिवस—

द्वितीय दिन उक्थ्य संस्था वाला याग होता है। प्रारम्भ में सोने और चाँदी के ग्रहों का ग्रहण होता है। इसके पश्चात् वीणागान होता है। होता प्रातरनुवाक का पाठ करता है। सभी ऋत्विज अश्व की पूँछ पकड़ लेते हैं और मण्डप से बाहर आ जाते हैं। मण्डप से बाहर आकर उद्गाता बहिष्पवमान स्तोत्र का पाठ करता है। उपाकरण काल में एकादशिनी संज्ञक पशुओं के उपाकरण के अनन्तर अश्व का उपाकरण होता है। तदनन्तर दो एकादशिनी पशुओं को इक्कीस यूपों में बाँधते हैं। अश्व, तूपर (शृङ्गहीन बकरा) और गोमृग (गवय) को बीच के यूप (अग्निष्ठ) में बाँधते हैं। तत्पश्चात् अश्व के ललाट आदि अंगों में तेरह पशु बाँधे जाते हैं। ये पर्यङ्ग पशु कहलाते हैं। पशु बाँधने के लिए अश्व के सम्पूर्ण शरीर को रस्सियों से लपेट कर उस-उस स्थान की रज्जु में पशुओं को विशेष उपाय से बाँधना चाहिए। बन्धन का प्रकार यह है—

1. काली गर्दन वाले अग्नि देवता के बकरे को सामने, अश्व के ललाट पर; 2. सरस्वती की भेड को अश्व के जबड़ों के नीचे; 3. अश्विन के दो बकरे, जिनका निचला भाग काला है, अश्व की अगली बाहुओं (टाँगों) से; 4. सोम और पूषा के श्यामवर्ण बकरों को अश्व की नाभि से; 5. सूर्य और यम के सफेद

और काले बकरों को दो पार्श्वों (बगलों) में; 6. त्वष्टा के बालदार जाँघों वाले दो बकरों को जाँधों से; 7. वायु के श्वेत बकरे, इन्द्र की बाँझ गाय तथा विष्णु के बौने बकरे को पूँछ में बाँधते हैं। अश्व, तूपर और गोमृग के सहित ये सोलह पशु हो गये। एक अन्य आग्नेय पशु बाँधा जाता है। इस प्रकार मध्यम यूप में सत्रह पशु बाँधे जाते हैं। अन्य बीस यूपों में पन्द्रह-पन्द्रह पशु बाँधे जाते हैं। पूर्व में प्रत्येक यूप में एक-एक एकादशिनी पशु बाँधा जाता है। इस प्रकार एक-एक यूप में सोलह-सोलह पशु हो गये। सब मिलकर तीन सौ सैंतीस पशु होते हैं। ये सब ग्राम्य (ग्राम में रहने वाले) पशु हैं। तीन सौ साठ आरण्य (अरण्य में रहने वाले) पशुओं का संग्रह किया जाता है। आरण्य पशुओं में सिंह, हाथी, व्याघ्र, भेडिया आदि तथा मीन, मण्डूक आदि अनेक पशु-पक्षी होते हैं। अरण्य के पशुओं को पकड़ने में कुशल व्यक्तियों के द्वारा इनका संग्रह कराकर उनके द्वारा ही इनको पञ्जर, नीड, जल आदि में यूपों के मध्य में रखा जाता है, क्योंकि इनको यूपों में बाँधना सम्भव नहीं है।

सर्वप्रथम आरण्य पशुओं को देवताओं के लिए उत्सर्ग किया जाता है। अग्नि की परिक्रमा दिलाकर उनका परित्याग किया जाता है। उन आरण्य पशुओं को अरण्य में ले जाकर उपाय से उन्हें वहाँ छोड़ दिया जाता है। ग्राम्य पशुओं का तो संज्ञपन आदि सभी पशु-कर्म करके तदनन्तर ही उस दिन का अनुष्ठान सम्पन्न किया जाता है।

सर्वप्रथम एकादशिन सवनीय पशुओं का प्रोक्षण किया जाता है। तदनन्तर अश्व का प्रोक्षण करके सभी पशुओं का प्रोक्षण किया जाता है। तदनन्तर रानियाँ (राजा की पत्नियाँ) अश्व का घृत से अभिषेक करती हैं। महिषी अश्व के अग्र भाग का, वावाता अश्व के मध्य भाग का और परिवृक्ता अश्व के पिछले भाग का घृत से अभिषेक करती हैं। घृताभिषेक के पश्चात् रानियाँ सुवर्णमणियों से अश्व को सजाती हैं। महिषी अश्व के सिर में सौ सुवर्णमालायें बाँधती है; वावाता अश्व की ग्रीवा में सौ सुवर्णमालायें बाँधती है; परिवृक्ता अश्व की पूँछ में सौ सुवर्ण मालायें बाँधती हैं। रानियों की अनुचरियाँ एक-एक सुवर्णमाला अश्व को बाँधती हैं। इसके पश्चात् अश्व को सक्तु धानादि का भोजन कराया जाता है।

अश्वसंज्ञपन के लिये घृत में भीगे हुए कम्बल को भूमि पर बिछाकर, उसके ऊपर चर्म के आच्छादनपट को बिछाकर, उसके ऊपर सुवर्णफलक को बिछाकर,

उसके ऊपर अश्व को इस प्रकार सुलाया जाता है कि उसका मुख पूर्व की ओर और पैर उत्तर की ओर रहें। अश्व के मुख को चर्म की रज्जु से बाँधकर, उसके साँस को रोककर उसका संज्ञपन (प्राणवियोजन) किया जाता है। उस समय अध्वर्यु परिपशव्य संज्ञक आहुतियाँ प्रदान करता है। तब अन्य पशुओं का संज्ञपन किया जाता है। तब राजा की तीन पत्नियाँ–महिषी, वावाता और परिवृक्ता आती हैं तथा मृत अश्व की तीन बार परिक्रमा करती हैं। तदनन्तर महिषी को मृत अश्व के पास सुलाते हैं, और दोनों को चादर से ढकते हैं। अश्व के शिश्न का महिषी अपने उपस्थ (जननांग) से स्पर्श कराती है और यह मन्त्र कहती है "वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु" (यजु. 23/20)। उसी समय अध्वर्यु तथा यजमान की कुमारी कन्या, ब्रह्मा तथा महिषी, उद्गाता तथा वावाता, होता तथा परिवृक्ता, क्षत्ता तथा पालागली का संवाद होता है। रानियों की ओर से उनकी अनुचरियाँ ऋत्विजों को उत्तर देती हैं। तब महिषी को अश्व के पास से उठाते हैं।

तब अश्व के शरीर से मेद की प्राप्ति के लिए राजा की पत्नियाँ मृत अश्व के शरीर में ताँबे, चाँदी और सोने से बनी हुई सुइयों को प्रविष्ट कराती हैं। वे अश्व के शरीर को जर्जर कर देती हैं, जिससे मेद की प्राप्ति होती है। अध्वर्यु पर्यङ्ग पशुओं का वपोत्खेदन करता है। तत्पश्चात् मेद और वपा का श्रपण करके प्रजापति के लिए होम किया जाता है। तदनन्तर यज्ञशाला के पीछे जाकर 'सदस' में अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता, होता और यजमान ब्रह्मोद्य (शास्त्रार्थ) करते हैं। यथा—होता अध्वर्यु से पूछता है—"कः स्विदेकाकी चरति" (यजु. 23/45)। अध्वर्यु उत्तर देता है—"सूर्यः एकाकी चरति" (यजु. 23/46)। तब एकादशिनी पशुओं का वपाहोम होता है। वनस्पति याग के अनन्तर सम्पूर्ण पशुशेष का होम कर दिया जाता है। तब पत्नीसंयाज किया जाता है।

तृतीय सुत्या–दिवस—

तृतीय दिवस अतिरात्र संस्था वाला याग होता है। सर्वप्रथम प्रकृतियाग के अनुसार सोमयाग का अनुष्ठान किया जाता है। प्रजापति के लिए ग्यारह पशुओं का याग किया जाता है। अवभृथेष्टि का अनुष्ठान करके अवभृथ स्नान किया जाता है। जल से निकलकर ब्राह्मणों के लिए द्वादशौदन पकाता है तथा बारह इष्टियाँ करता है। अवभृथ स्नान करने के बाद यजमान अश्वमेध यज्ञ के प्रारम्भ में गृहीत दीक्षा व्रत से मुक्त हो जाता है।

दक्षिणा—

दिग्विजय से प्राप्त धन तथा राष्ट्र में विद्यमान समस्त धन (ब्राह्मण की भूमि, पुरुष एवं धन छोड़कर) का दान किया जाता था। पूर्व दिशा की समस्त सम्पत्ति ब्रह्मा को, पश्चिम दिशा की अध्वर्यु को तथा उत्तर की उद्गाता को दी जाती थी। इसके अतिरिक्त पालागली और उसकी अनुचरियों को अध्वर्यु को, महिषी और उसकी अनुचरियों को, ब्रह्मा को, वावाता और उसकी अनुचरियों को उद्गाता को, परिवृक्ता और उसकी अनुचरियों को, होता को दान में दिया जाता था।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अश्वमेध की उपादेयता

शास्त्रों के अनुसार अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान सत्य, त्रेता एवं द्वापर युग में ही किया जा सकता है, कलियुग में नहीं। इस आधार पर कुछ लोगों का कहना है कि कलिवर्ज्य होने के कारण वर्तमान काल में अश्वमेध अप्रासंगिक है। अत: अश्वमेध के विषय में विचार करना, इसका ज्ञान प्राप्त करना, इस विषय में गोष्ठियाँ, सम्मेलन आदि करना सर्वथा अनावश्यक है, किन्तु यह मत युक्त नहीं है। इस विषय में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अप्रयुक्त शब्दों के प्रसंग में कहा है 'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्' (महाभाष्य: प्रथमाह्निक) अर्थात् यद्यपि ये अप्रयुक्त हैं, तथापि लम्बे समय तक चलने वाले यज्ञों की तरह शास्त्र द्वारा इनका अन्वाख्यान करना ही होता है। जैसे सौ वर्ष तक और हजार वर्ष तक चलने वाले यज्ञ होते हैं, पर आजकल इन्हें कोई नहीं करता। केवल वेदाध्ययन धर्म है, ऐसा मानकर याज्ञिक लोग शास्त्र से इनका अन्वाख्यान करते हैं। अतएव इन यज्ञों की प्रासंगिकता अब भी अक्षुण्ण है। अश्वमेध आदि महत्त्वपूर्ण विषयों की जानकारी एवं रक्षा के लिए इन पर गोष्ठियाँ, सम्मेलन आदि करना आवश्यक है।

अश्वमेध का सर्वाधिक महत्त्व राजनैतिक दृष्टि से है। श्रौत सूत्रों में विहित अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमासादि अनेक यज्ञ व्यक्तिगत लाभ के लिए किए जाते हैं; चातुर्मास्येष्टि, चित्रेष्टि आदि अनेक यज्ञ परिवार के लाभ के लिए किए जाते हैं; पुत्रेष्टि आदि यज्ञ कुल के लाभ के लिए किए जाते हैं। किन्तु अश्वमेध आदि कतिपय यज्ञ राष्ट्र के लाभ के लिए किए जाते हैं। अतएव अश्वमेध राष्ट्रीय यज्ञ है। यही कारण है कि शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट शब्दों में अश्वमेध को राष्ट्र रूप

माना है।[7] अश्वमेध यज्ञ में राजकीय शक्ति का प्रदर्शन किया जाता है और किसी भी राष्ट्र के लिए यह आवश्यक है। यदि राजकीय शक्ति का प्रदर्शन न किया जाये तो शत्रु-देश राष्ट्र को दुर्बल समझकर उस पर आक्रमण कर देते हैं। जब तक सर्वथा समर्थ, शक्तिसम्पन्न, उत्तरदायित्व का निर्वाह करने वाले, राजवंशोत्पन्न राजा अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करते रहे, तब तक किसी ने भी इस देश पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया। अतएव इस यज्ञ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है—राष्ट्र की सुरक्षा, राष्ट्र की समृद्धि और राष्ट्र की एकता।

सामाजिक एकता भी अश्वमेध का प्रयोजन है। समाज के सभी वर्गों के लोग एक साथ मिलकर एक वर्ष तक इस यज्ञ के सम्पादन में लगे रहते हैं। सभी का एक ही उद्देश्य होता है—अश्वमेध का सफलतापूर्वक अनुष्ठान। उच्च और नीच, धनी और निर्धन, राजा और प्रजा सभी प्रकार के भेदभाव मिट जाते हैं। यज्ञ के अन्त में सभी मिलकर राजा और रानियों के साथ अवभृथ स्नान करते हैं—इस स्नान से सभी सर्वथा पवित्र हो जाते हैं, जिससे सामाजिक एकता सुदृढ़ हो जाती है।

इस यज्ञ से धन का भी विकेन्द्रीकरण होता है। राजा का धन सभी वर्गों के लोगों को प्राप्त होता है, विशेषत: पुरोहित वर्ग को, जिसके जीवन-यापन का साधन मुख्यत: यज्ञों के अनुष्ठान से प्राप्त दक्षिणा ही होती है।

प्रस्तुत लेख को अश्वमेध यज्ञ के प्रकरण में पठित निम्नलिखित मन्त्र से समाप्त किया जाता है—

> "आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्य: शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशु: सप्ति: पुरन्ध्रीर्योषा जिष्णू रथेष्ठा: सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे न: पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधय: पच्यन्तां योगक्षेमो न: कल्पताम्।[8]



सन्दर्भ

1. लुईस रेनो : वैदिक इंडिया, पृ. 109
2. राजा वाऽएष यज्ञानां यदश्वमेध:। श.ब्रा. 13.2.2
3. तस्मादश्वमेधयाजी सर्वा दिशोऽभिजयति भुवनं जयति यन्तारमेवैनं धर्तारं करोति। श.ब्रा. 13.1.2
4. सर्वाह्नि वै कामानाप्नोति सर्वा व्यष्टीर्व्यश्नुते योऽश्वमेधेन यजते..... सर्वमश्वमेध: सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै। श.ब्रा. 13/4/1
5. सर्वस्य वाऽएषा प्रायश्चित्ति: सर्वस्य भेषजं सर्वं वाऽएतेन पाप्मानं देवा अतरन्नपि वाऽएतेन ब्रह्महत्यामतरंस्तरति सर्वं पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते। श.ब्रा. 13.2.10
6. (क) राष्ट्रं वाऽ अश्वमेध:। श.ब्रा. 13.1-6
   (ख) राष्ट्रमश्वमेध:। श.ब्रा. 13.2.2
7. शुक्लयजुर्वेदसंहिता 22.22



15

अश्वमेध यज्ञ का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

डॉ. पुष्कर दत्त शर्मा,
पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष,
डूँगर महाविद्यालय, बीकानेर (राजस्थान)

यज्ञ जैसे बृहद् अनुष्ठानों एवं होली-दीवाली जैसे पर्वों व उत्सवों पर जन-सामान्य का अन्तस्तल एक विशिष्ट उत्साह से उल्लसित हो उठता है। जितना बड़ा आयोजन होगा, उतना ही उत्साह-वर्द्धन होता जाएगा। वस्तुत: आयोजन की सफलता का अनुमान जनता-जनार्दन की सहभागिता के परिमाण से नापा जाता है। एतदर्थ आयोजकों द्वारा कुछ ऐसे प्रयास भी किए जाते हैं, जिससे आयोजन-स्थल जन-सम्मर्द से परिपूर्ण हो उठे। आयोजन में शंकराचार्य, बड़े महन्त, शासक, नेता, वक्ता तथा संगीतज्ञों की सहभागिता का विज्ञापन जन-जन को आकर्षित करने का मूलमन्त्र है। वस्तुत: भीड़ एकत्र करना भी एक कला है।

प्राचीन काल में तो सहज धार्मिक भावना से ही जन-समुदाय यज्ञादि के आयोजन-स्थलों की ओर उमड़ने लगता था। उस समय जनता के आगमन मात्र से आयोजन को सफल मान लिया जाता था, किन्तु आज सहज धार्मिक भावना ह्रास की ओर अग्रसर होने लगी है। अत: आजकल धार्मिक आयोजनों के आयोजन में व्यावसायिकता भी किसी न किसी रूप में जुड़ने लगी है। तदर्थ टी.वी., रेडियो अखबारों तथा पत्र-पत्रिकाओं में लच्छेदार भाषा से आच्छादित विज्ञापन और लाउडस्पीकरों का प्रभूत प्रयोग किया जाने लगा है। व्यावसायिक आयोजनों के लिए प्रायोजकों की उपलब्धि भी कोई दुष्कर कार्य नहीं रह गया है।

इन स्थितियों में जनसामान्य, चाहे प्रबुद्ध वर्ग का हो या अप्रबुद्ध वर्ग का, आयोजनों में सहभागी बनने के लिए न केवल बाध्य, अपितु आतुर-सा हो उठता

है। महिला-वर्ग की तो बात ही क्या? आज का नागरिक तथा ग्रामीण इस तथ्य से परिचित है कि इस प्रकार के भव्य एवं विशाल आयोजनों पर टी. वी. के कैमरामैन अवश्य उपस्थित रहते हैं। अत: धर्म-कार्य से पुण्य-प्राप्ति के साथ-साथ नि:शुल्क फोटो खिंचवाकर टी.वी. पर स्वयं को सहर्ष देखने व मित्रों को उस ओर पूर्वत: सूचित करके दिखाने का अतिरिक्त लोभ भी आयोजन-स्थल को जन-सम्मर्द से समाकुल करने में सक्षम है।

सत्य ही आज व्यक्ति को बुलाने की अधिक आवश्यकता नहीं रह गई है। आज का मानव भीड़ का अंग बनने को स्वत: प्रस्तुत है। निजत्व को खोकर भीड़ में विलुप्त हो जाना आज के मानव की नियति हो गई है। भीड़ में धक्के खाना उसके स्वभाव में आ गया है। इस भीड़ में चोर-उचक्कों तथा बदमाशों की बन आती है। आयोजन-स्थल पर लगे बाजार में विक्रेताओं की तो चाँदी ही चाँदी है। इन अवसरों पर महिलाओं को कितना ही कष्ट क्यों न हो, चाहे कितनी ही दु:स्थिति का अनुभव करना पड़े, किन्तु उनके उत्साहाधिक्य में ह्रास के स्थान पर वृद्धि ही होती है। सत्य ही आयोजन का अर्थ रह गया है भीड़, भीड़ और भीड़।

अश्वमेध की गणना बृहत्तम यज्ञों में की जाती है। सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् बनने के लिए इस यज्ञ को सम्पन्न करना अनिवार्य समझा गया है। इस यज्ञ का प्रारम्भ एक अश्व के समग्र विश्व में स्वच्छन्द विचरण के लिए छोड़ने से होता है और उस अश्व को यदि कोई मार्ग में पकड़ता नहीं तो उसके लौटने पर यज्ञ में उसकी बली दी जाती है और तब अश्वमेध सम्पन्न हो जाता है, किन्तु यदि मार्ग में कोई व्यक्ति उस अश्व को पकड़ ले तो अश्व के पीछे-पीछे चलने वाले सैनिक उस व्यक्ति को पराजित करके अश्व को पुन: मुक्त विचरण के लिए छुड़वाने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुत: उस अश्व के सकुशल लौट आने पर ही उक्त अश्वमेध-यज्ञ को सम्पन्न किया जा सकता है। राम का अश्वमेध-यज्ञ करना और लव-कुश द्वारा अश्व पकड़ लेना एक प्रसिद्ध घटना है, जो सबको ज्ञात है। यहाँ इतना स्पष्ट कर देना उचित है कि इस पत्र का उद्देश्य अश्वमेध-यज्ञ से सम्बन्धित प्रक्रिया या शब्दों के प्रतीकात्मक अर्थों पर किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी करना नहीं है। इस पत्र में तो यज्ञ से सम्बन्धित व्यक्तियों की विभिन्न मानसिक स्थितियों का विश्लेषण करना ही अभिप्रेत है।

सर्वप्रथम तो अश्वमेध-यज्ञ के सम्पादक उस नृपति की मानसिकता पर विचार किया जाए जो ऐसा यज्ञ करने को संकल्पित हो जाता है। निश्चयतः ऐसा नृपति जन-धन-वैभव से संवलित होकर ही अश्वमेध जैसे बृहद् यज्ञ का आयोजन करने के लिए सन्नद्ध होगा। समग्र पृथ्वी का एकछत्र सम्राट् बनने से पूर्व उसने बहुत बड़े देश या प्रदेश पर अधिकार जमा लिया होगा, यह कल्पना भी कोई दुष्कर कार्य नहीं है। उसे यह विश्वास भी निश्चयत: होना चाहिए कि उसकी अजेय सेना के संरक्षण में यज्ञ का अश्व सम्पूर्ण पृथ्वी पर उन्मुक्त विचरण करके सकुशल लौट आएगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसा भूपति, जो जन-धन-वैभव से सम्पन्न हो, वह सम्पूर्ण पृथ्वी का एकछत्र सम्राट् क्यों बनना चाहता है ? क्या वह पूर्वत: प्राप्त धन-वैभव को अपर्याप्त समझता है ? क्या वह चक्रवर्ती सम्राट् बनकर प्रवृद्ध वैभव से सन्तुष्ट हो सकेगा ? क्या वह अन्य राजाओं को अधीनस्थ करके अतुष्ट भावनाओं को तुष्ट कर पाएगा ? क्या विश्व के सभी राजाओं को पराजित करने से विश्व के लाखों करोड़ों लोग नतमस्तक होकर भी किसी अन्तर्वेदना या पराधीनता-जन्य आक्रोशमय प्रतिक्रियाओं से उद्वेल्लित नहीं होंगे ? ऐसे अन्य भी कई प्रश्न समाधान-हेतु उठाये जा सकते हैं।

सर्वप्रथम तो अश्वमेध-यज्ञ के उद्देश्य पर विचार किया जाए। सार्वभौम चक्रवर्ती-सम्राट् बनने के पीछे व्यक्ति या नृपति का मुख्य उद्देश्य क्या हो सकता है ? प्रभूत वैभव से सम्पन्न नृपति की धन-लिप्सा प्रशान्त हो चुकी होगी, यह अनुमान लगाया जा सकता है। अन्यथा धन-लोलुप नृपति इतने बड़े यज्ञ को सम्पन्न करने के लिए आवश्यक धन का व्यय करने के लिए सन्नद्ध ही नहीं होता। यों भी अश्वमेध-यज्ञ में पराजित या अधीनस्थ नृपतियों द्वारा विजेता को वित्तीय भेंट देने का विवरण ही नहीं मिलता। अधिकृत भूमि का विस्तार करने की इच्छा भी इस यज्ञ से पूर्ण होने की सम्भावना से विरहित ही प्रतीत होती है।

सैन्य-बल की प्रदर्शनात्मक वृत्ति (Exhibitionism) को किसी सीमा तक उद्देश्य तो माना जा सकता है, किन्तु इसे प्रमुख उद्देश्य मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि अश्वमेध के अश्व को देखकर यज्ञाभिलाषी नृपति की सैन्य-शक्ति का अनुमान तो हो ही जाता है और सामान्यत: ऐसी स्थिति में कोई भी निर्बल शासक उस यज्ञीय अश्व के मार्ग को अवरुद्ध करने की नहीं सोचेगा। उस स्थिति में सैन्य-बल के प्रदर्शन का अधिक अवसर ही नहीं आएगा।

इससे स्पष्ट है कि अश्वमेध-यज्ञ की विचारणा के पीछे कोई ऐसा उद्देश्य होना चाहिए, जिसे महत् कहा जा सके। इस प्रकार का महत् उद्देश्य लोकैषणा ही हो सकती है, जो वित्तैषणा तथा दारैषणा से भी बृहत्तर है। समग्र विश्व में उसके यश का प्रसार हो जाए, इसी महत् उद्देश्य को लेकर ही अश्वमेध जैसे बृहत् यज्ञ की संकल्पना या संप्रधारणा की जा सकती है। जन-धन तथा वैभव तो अल्पकालीन संप्राप्तियाँ हैं। धन-वैभव तो आता जाता रहता है, पर यश एक अक्षुण्ण वस्तु है। भगवान् राम ने अश्वमेध-यज्ञ किया था, जो लव-कुश द्वारा किंचित्काल के लिए अवरोध उत्पन्न करने के बाद सुसम्पन्न हो सका था। युधिष्ठिर द्वारा आयोजित राजसूय-यज्ञ के पीछे भी लोकैषणा की उद्देश्य-परकता को देखा जा सकता है।

यहाँ स्मरणीय है कि अश्वमेध या राजसूय जैसे बृहत् यज्ञों की सम्पन्नता से यज्ञ-कर्ता को ही यशस्विता प्राप्त होती है, न कि उनके वंशजों को। उदाहरणार्थ राम के द्वारा सम्पन्न अश्वमेध से लव या कुश को पितृ-तुल्य यशस्विता नहीं मिल सकी। इसी प्रकार युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ से उनके पौत्र परीक्षित को भी कीर्ति-लाभ नहीं हो सका। मुगल-काल में जयपुर के एक शासक द्वारा किए गए अश्वमेध-यज्ञ को इतिहास के पृष्ठों पर तो स्थान मिल गया, किन्तु इससे शासक को चक्रवर्ती सम्राट् की तो बात ही क्या, भारत-सम्राट् बनने का गौरव भी नहीं मिल सका।

अश्वमेध-यज्ञ के आयोजन में लोकैषणा के अतिरिक्त एक अन्य कारण है—-अन्य भावना (Superionity Complex) की अनुभूति। जो भी भूपति चक्रवर्ती सम्राट् बनने के लिए अश्वमेध जैसे बृहत् यज्ञ का आयोजन करता है, वह स्वयं को विश्व के अन्य सभी नृपतियों से उच्चतर या उच्चतम समझता है। वह इसी उच्च-भावना से संप्रेरित होकर यज्ञ-विशेष का आयोजन करके विश्व के अन्य शासकों को स्वयं से हीन सिद्ध करना चाहता है। वस्तुत: अश्वमेधादि यज्ञों के आयोजक अन्य नृपतियों से अधिक सबल तो होते ही हैं, किन्तु इस सबलता के प्रदर्शन हेतु आयोजन करना केवल उच्चतर होने की भावना से संचालित होना ही कहा जाएगा। सत्य ही अश्वमेध के आयोजक भगवान् राम तत्कालीन अन्य सभी आर्य-अनार्य शासकों की तुलना में सर्वश्रेष्ठ थे, किन्तु यह भी स्मरणीय है कि उनके पूर्वजों में मान्धाता जैसे अन्य अनेक सूर्यवंशी नृपति हुए हैं, जो अश्वमेधादि

यज्ञों को सम्पन्न कर सकते थे, पर उन्होंने ऐसा किया नहीं। स्पष्टत: उनके अन्तस् को उच्च भावना ने प्रताड़ित नहीं किया होगा। यह भी सम्भव है कि उन्हें अश्वमेध-यज्ञ को सम्पन्न करने में बाधाओं की आशंका रही हो। इतना निश्चित है कि उनके द्वारा कृत-अकृत अश्वमेधादि का विवरण प्रकाश में नहीं आ पाया।

भगवान् श्रीराम के द्वारा अश्वमेध-यज्ञ के आयोजन के पीछे उच्चतर-भावना की सक्रियता मानने की बाध्यता नहीं है, क्योंकि उन्होंने रावणादि सभी छोटे-बड़े राक्षसों के संहार से स्वकीय अलौकिक शक्ति को प्रमाणित कर दिया था, किन्तु विश्व के सभी नृपतियों के लिए वे अलौकिक कृत्य अप्रत्यक्षता के कारण विश्वसनीयता की परिधि से अतीत रहे हों तो आश्चर्य नहीं। अत: अश्वमेध-यज्ञ का आयोजन भगवान् श्रीराम के लिए भी आवश्यक सा हो गया था। बहुत सम्भव है कि भगवती सीता के निर्वासन से जनित खिन्नता एवं जीवन की निरवच्छिन्न विरसता से प्रभावित होकर उन्होंने अश्वमेध-यज्ञ का आयोजन किया हो। भगवती सीता की स्वर्ण-प्रतिमा का निर्माण इस सम्भावना को पुष्ट करता है। यज्ञ के आयोजन को प्रतिमा-निर्माण के लिए अपरिहार्य आधार-संयोजन भी कहा जा सकता है।

निर्वासन के समय आपन्नसत्त्वा भगवती सीता की संतति का अन्वेषण भी उनके अश्वमेध-यज्ञ का अतिप्रच्छन्न उद्देश्य माना जा सकता है। श्रीराम ने गर्भस्थ संतति को दिव्यास्त्र प्रदान किए थे। दिव्य शक्ति से सम्पन्न वह संतति विश्व के किसी न किसी खण्ड पर स्थित रहते हुए यज्ञीय अश्व का मार्ग अवरुद्ध कर सकती है, यह सम्भावना भगवान् श्रीराम की अवधारणा से अतीत नहीं कही जा सकती। वस्तुत: भावी तथ्यों ने उनके पूर्वाभास को असिद्ध नहीं होने दिया। न केवल दिव्य-शक्ति से सम्पन्न अपनी संतति से मिलने की उनकी आकांक्षा पूर्ण हुई, अपितु निर्वासिता सहधर्मिणी से भी वे मिल सके। इस प्रकार अश्वमेध-यज्ञ के आयोजन के पीछे जो महद् उद्देश्य स्वीकरणीयता की परिधि में आ सके हैं, वे हैं—लोकैषणा, उच्चतर भावना की अभिव्यक्ति या प्रदर्शन, विरसता से मुक्ति और संतति अन्वेषण के साथ-साथ सहधर्मिणी से पुनर्मिलन।

युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ का आयोजन भी कुछ महद् उद्देश्यों से संवलित था, जिनमें उच्चतर-भावना के प्रदर्शन के साथ-साथ श्रीकृष्ण के हाथों शिशुपाल का वध आदि सम्मिलित है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अश्वमेध जैसे बृहद् यज्ञों का आयोजन अहेतुक

या अकाम्य नहीं हो सकता। कम से कम लोकैषणा तो इस प्रकार के आयोजनों में अन्तर्निहित होती ही है।

अब यहाँ एक प्रश्न अश्वमेध-यज्ञ के द्वारा सार्वभौम एकछत्र सम्राट् होने की सम्भाव्यता से जुड़ता है। सहस्रों वर्ष पूर्व आयोजित ऐसे अश्वमेध-यज्ञ का अश्व उन्मुक्त विचरण करते हुए समग्र पृथ्वी-मण्डल के कितने बड़े भूखण्ड पर विचरण कर सकेगा और सम्पूर्ण पृथ्वी की परिक्रमात्मक विचरण में उसे कितना सुदीर्घ समय लगेगा ? यह तो सम्भव है कि नदी-नाला तो वह संतरण करके पार कर सकता है, किन्तु समुद्रों की बाधाओं को संतरण द्वारा व्यपोहित करने में अश्व की क्षमता पर सन्देह बना रहता है। लंका तक पहुँचने के लिए शत-योजनात्मक समुद्र को हनुमान् तो पार कर गए, किन्तु अन्य वानरों के लिए तो सेतु का निर्माण किया गया था ? ऐसी संभाव्यता तो सर्वथा अकल्पनीय है। विश्व-परिक्रमा हेतु समय की आवश्यकता के बारे में तो अनुमान ही व्यर्थ है। तो क्या यह अनुमान किया जाए कि तत्कालीन अश्वमेध यज्ञ का अश्व किसी सीमान्त प्रदेश या प्रदेशों की परिक्रमा करके ही लौट आता होगा और तभी अश्वमेध सम्पन्न किया जाता होगा। इसमें समय भी कम लगता होगा। अन्यथा यज्ञ-हेतु दीक्षित नृपति अनन्त समय तक अश्व के लौटने की प्रतीक्षा करता रहे तो आश्चर्य नहीं।

एक बात और ! क्या अश्वमेध के अश्व का आयुष्य इतना सुदीर्घ होता है कि वह समग्र पृथ्वी की परिक्रमा पूर्ण कर सके ? वार्धक्य, रुग्णता या अशक्ततादि कारणों से परिक्रमा पूर्ण करने में उसकी अक्षमता ही परिकल्पित की जा सकती है। उस अश्व के संरक्षणार्थ नियत सैनिकों द्वारा भी समग्र पृथ्वी की परिक्रमा पूर्ण कर पाना सम्भव नहीं लगता।

इससे यही अनुमान होता है कि अश्वमेध-यज्ञ के द्वारा सार्वभौम एकछत्र सम्राट् होने की अवधारणायें तथ्यात्मक संभावनाओं पर आधारित नहीं मानी जा सकती। जरा कल्पना कीजिए उस पुरातनाति पुरातन युग की, जब आवागमन के साधनों समाचार-संप्रेषण तथा भोज्य-सामग्री की उपलब्धता सर्वथा कल्पनातीत थी। कल्पना कीजिए ऐसी स्थिति की, जब किसी दर्पान्ध व्यक्ति द्वारा अश्व को अवरुद्ध कर दिया जाए और उसके संरक्षणार्थ नियुक्त सैन्य-बल को नष्ट कर दिया जाए। तब उस दुःस्थिति की सूचना यज्ञ के सम्पादन-स्थल तक कौन तो पहुँचाए और कैसे व कब तक पहुँचाये ? आप केवल लव-कुश द्वारा श्रीराम के

अश्वमेध-यज्ञ के अश्व को अवरुद्ध करने पर ही विचार न करें। वे तो अयोध्या नगरी से कुछ ही दूरी पर गंगा के पार वाल्मीकि के आश्रम में अवस्थित थे और अश्व के अवरुद्ध किए जाने की सूचना श्रीराम तक शीघ्र ही पहुँचाई जा सकी थी, किन्तु यदि सुदूर लंका जैसे दक्षिण या पूर्वीय प्रदेश तक यज्ञ का अश्व गया हो और बस अश्व को अवरुद्ध किया जाता तो क्या उस स्थिति की सूचना यज्ञ के सम्पादनकर्ता नृपति तक इतनी शीघ्र पहुँचाई जा सकती थी ?

स्पष्टत: ऐसी संभाव्यता पर तो विचार ही नहीं किया जा सकता। धारणा तो यही बनती है कि अश्वमेध जैसे बृहत् यज्ञ की जो संकल्पनायें शास्त्रों में संप्रथित हैं, वे व्यावहारिकता की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। निश्चयत: उन्हें असम्भव कहा जा सकता है। पर राजसूय जैसे यज्ञों के लिए ऐसी असंभाव्यता दृष्टिगत नहीं होती। उनका परिलक्ष्य सीमातीत प्रतीत नहीं होता, पर अश्वमेध-यज्ञ का निष्पादन पूर्ण शास्त्रोक्त पद्धति से किया जाना संभाव्यता की कोटि से अतीत ही कहा जा सकता है। लव-कुश द्वारा अश्वमेध-यज्ञ के अश्व को अवरुद्ध करने के बाद भगवान् श्रीराम ने स्वयं जाकर अश्व को उन्मुक्त तो करा लिया, किन्तु इसके बाद अश्व पुन: कहीं आगे विचरण कर पाया हो, यह सर्वथा संदिग्ध है। तो मान लिया जाए कि यदि वह अश्व वाल्मीकि-आश्रम तक ही जा पाया था तो फिर सम्पूर्ण पृथ्वी क्या उस आश्रम की परिधि में ही सिमट आई थी ?

एक बात और ! अश्व का स्वतन्त्र गति से समग्र विश्व का भ्रमण कर सकना दुष्कर तो है ही, साथ ही समय-साध्य भी। अत: अश्व को यदि मन का प्रतीक माना जाए तो उपर्युक्त दोनों कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। वस्तुत: मन की गति अनवरुद्ध होती है। वह क्षणभर में समग्र विश्व की परिक्रमा करने में समर्थ है। अत: अश्वमेध के नियत समय में मन रूपी अश्व को स्वच्छन्द छोड़कर भी नियत समय पर उसे वापिस लौटा सकते हैं। मन का यह अन्तिम अवरोध ही अश्वमेध है।

लव-कुश द्वारा अश्व का नहीं, अपितु भगवान् श्रीराम के मन को ही अवरुद्ध किया गया था। पिता का मन स्वकीय संतति को सर्वत्र ढूंढते हुए वाल्मीकि के आश्रम में अवरुद्ध हो गया था और इस स्थिति में स्वयं पिता को बालहठ से ग्रस्त या बालकों के प्रति स्नेह-बद्ध मन को समझा बुझाकर वापिस लौटाने में सफलता मिली थी।

इस प्रकार मन का विकल्पात्मक विश्व में स्वच्छन्द भ्रमण करना और अन्त में संकल्पात्मक मन को पूर्णत: विरुद्ध करना ही अश्वमेध है।

इस स्थिति में आज का बुद्धिजीवी मानव इस प्रकार के बृहद् यज्ञों की संप्रधारणाओं तथा इसकी प्रायोगिक व्यावहारिकताओं के मध्य के अन्तराल को किन सेतुओं से पार कर पाएगा ? सत्य तो यह है कि सार्वभौम एकछत्र सम्राट् होने की संकल्पना और एतदर्थ अश्वमेध-यज्ञ का आयोजन वाल्मीकि-रामायण में प्रदर्शित अन्य महद् आदर्शों की तरह एक आदर्श कल्पना-जगत् अर्थात् Uopia का ही द्योतक है, जो सुन्दर तथा आकर्षक होते हुए भी तथ्यों तथा प्रयोग-धर्मिता से सर्वथा अतीत ही होता है। आधुनिक विश्व की परिस्थितियों में तो बड़े से बड़े शक्तिशाली देश अमरीका द्वारा अतिवामन राष्ट्रों को पराजित करना भी सम्भव नहीं रह गया है।

अत: अश्वमेध-यज्ञ एक सुन्दर परिकल्पना मात्र है, जिसके सम्बन्ध में अतिरंजनापूर्ण प्रशस्ति की आवश्यकता नहीं है।



16

राजसूययाग – एक विवेचन

डॉ. युगल किशोर मिश्र
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष सम्पूर्णानन्द
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

"राजा सूयते अभिषूयते सोमो यागार्थमत्रेति"—इस व्युत्पत्ति के अनुसार राज्य में अभिषिक्त क्षत्रिय राजा द्वारा अनुष्ठेय सोमयाग 'राजसूय' पदवाच्य है। वरुणदेव ने राजा हरिश्चन्द्र को सर्वप्रथम इस याग के विषय में उपदेश किया था तथा हरिश्चन्द्र द्वारा अनुष्ठित राजसूययाग में विश्वामित्र होता, आंगिरस् उद्गाता, एवं जमदग्नि अध्वर्यु थे।[1] इस याग में ब्राह्मण तथा वैश्य का अधिकार नहीं है। का.श्रौ. के अनुसार जिस (चक्रवर्ती) राजा ने वाजपेय याग का अनुष्ठान नहीं किया है, वह 'राजसूययाग' कर सकता है।[2] इस सन्दर्भ में यह निर्देष्टव्य है कि 'वाजपेययाग' करने से 'सम्राट्' पद की प्राप्ति बतलाई गई है तथा 'राजसूययाग' करने से 'राट्' (राजा) होता है। अत: वाजपेययाग द्वारा उत्तमपद (सम्राट्) की प्राप्ति के अनन्तर तदपेक्षया अवर पद की प्राप्ति की आकाङ्क्षा किसी को नहीं होती, अत: अननुष्ठित वाजपेययाग राजा को अधिकारी कहा गया है। प्राचीनकाल में सूर्यवंशीय एवं चन्द्रवंशीय राजाओं द्वारा राजसूययाग अनुष्ठित करने के उल्लेख मिलते हैं। महाभारत में युधिष्ठिर द्वारा अनुष्ठित राजसूययाग का वर्णन विस्तार से उपलब्ध होता है।

याग का स्वरूप—राजसूययाग वस्तुत: इष्टि-पशु-सोमयाग का समुदाय है। इसमें 128 इष्टियाँ, 2 पशुयाग, 7 दर्विहोम एवं 6 सोमयाग अनुष्ठित होते हैं। यद्यपि इन सभी का समुदाय 'राजसूययाग' है, किन्तु इनका तन्त्रेण अनुष्ठान नहीं होता, अपितु पृथक्-पृथक् ही अनुष्ठान होता है। तात्पर्य यह है कि इसमें

इष्टि-पशु-सोमयागों का समप्राधान्य है, इतरेतराङ्गभाव नहीं है। इस याग के अनुष्ठान में तैंतीस मास का समय लगता है। यागावधि में यजमान एवं यजमान पत्नी के लिये 'यवागू' का आहार विहित है।[3]

शास्त्रानुसार राजसूययाग का प्रारम्भ फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को होता है। सर्वप्रथम 'पवित्र' संज्ञक सोमयाग का अनुष्ठान किया जाता है। इसमें चार दीक्षा, तीन उपसद एवं एक सुत्या होती है। इसमें अध्वर्यु एक सौ दर्भ से निर्मित पिञ्जूल से यजमान को पवित्र करता है। यहाँ यजमान के क्षत्रिय होने पर भी दक्षिणीयेष्टि में 'दीक्षितोऽयं ब्राह्मण:' यह कहा जाता है। सोमक्रय के अनन्तर न्यग्रोधस्तिमी (बड की कली) का आहरण एवं क्रय होता है।[4] सोमाभिषव के अनन्तर न्यग्रोधस्तिमी के हवन के समय इसके साथ चमस में दही मिलाकर हवन का विधान है। सोमरस पान के समय यजमान को दही और न्यग्रोधस्तिमी दिये जाते है। इस याग में 'तानूनप्त्र' विधि नहीं की जाती। दक्षिणा के रूप में एक सहस्र गौ ऋत्विजों को देने का विधान है। इस प्रकार अष्टदिन साध्य यह सोमयाग फाल्गुन शुक्ल अष्टमी को पूर्ण होता है। फाल्गुन शुक्ल नवमी को यजमानगृह में पूर्णाहुति का अनुष्ठान किया जाता है, जिसमें अध्वर्यु को वर दक्षिणा देने का विधान है।

अनुमतीष्टि:—फाल्गुन शुक्ल दशमी से लेकर पाँच दिनों तक अनुमत्यादि पाँच इष्टियों का अनुष्ठान होता है। इसमें फाल्गुन शुक्ल दशमी को अनुष्ठेय इस अनुमतीष्टि में अनुमति देवता के लिये अष्टाकपाल पुरोडाश हवि विहित है। यहाँ यह वैशिष्ट्य है कि हवि:पेषण के समय शम्या के पीछे कृष्णाजिन के ऊपर जो हविर्द्रव्य गिर जाता है, उसे खदिर के स्रुव में रखकर, दक्षिणाग्नि से उल्मुक लेकर दक्षिण दिशा में जाकर स्वयं प्रदीर्ण (स्फुटित) या ऊषर भूभाग में उल्मुक स्थापित कर निर्ऋति देवता के लिये आहुति दी जाती है। हवन के पश्चात् उस प्रदेश को मुडकर न देखते हुए ब्रह्मा-यजमान-अध्वर्यु वापस लौटते हैं तथा शेष इष्टि विधि देवयजन में सम्पादित करते हैं। अनुमतीष्टि की दक्षिणा के रूप में वस्त्र का विधान है। अनुमतीष्टि में निर्ऋति देवता के लिये आहुति प्रदान से अशुभ (अकल्याण) निवृत्ति एवं अनुमति देवता के लिये हवि: प्रदान से याग की निर्विघ्न सिद्धि रूप फल प्राप्त होते हैं।[5]

फाल्गुन शुक्ल एकादशी को आग्नावैष्णव एकादश कपाल पुरोडाशयाग का अनुष्ठान होता है। श.ब्रा. के अनुसार आग्नावैष्णवयाग इसलिये किया जाता है क्योंकि एक तो अग्नि समस्त देवताओं का प्रतिनिधि है, दूसरे यज्ञ का अवरार्द्ध

अग्नि है तथा परार्द्ध विष्णु है। अत: समस्त देवताओं एवं सम्पूर्ण यज्ञ का परिग्रहण इस पुरोडाशयाग से प्रतीक रूप से हो जाता है।[6] इस कर्म की दक्षिणा के रूप में हिरण्य का विधान है।

फाल्गुन शुक्ल द्वादशी को अग्नीषोम दवेता के लिये एकादश कपाल पुरोडाशयाग किया जाता है। इस अनुष्ठान के पीछे तर्क यह है कि यत: इन्द्र ने इस याग के द्वारा अपने शत्रु को मारकर विजय पाई थी, अत: राजसूययागकर्ता राजा भी अपने द्वेषी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने का सामर्थ्य इस अनुष्ठान से अर्जित कर लेता है। इस कर्म की दक्षिणा के रूप में पुनरुत्सृष्ट गौ विहित है।

फाल्गुन शुक्ल त्रयोदशी को ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाशयाग अनुष्ठित होता है। इसकी दक्षिणा के रूप में साण्ड ऋषभ (= सॉढ) का विधान है।

फाल्गुन शुक्ल चतुर्दशी को आग्रयणेष्टि की जाती है। आग्रयणेष्टि में औषधियों (नवान्न) से हवि तैयार कर हवन किया जाता है जिसके मूल में यह भावना है कि यज्ञकर्ता यजमान के राष्ट्र में फसलें रोग रहित एवं दोष रहित उत्पन्न हों।[7] दक्षिणा के रूप में यजमान द्वारा गोष्ठ में प्रथमोत्पन्न वत्स दिया जाता है।

फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा से चातुर्मास्ययाग का अनुष्ठान प्रारम्भ होता है। फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा के दिन वैश्वदेव पर्व, आषाढी पूर्णिमा को वरुण प्रघास पर्व, कार्तिक पूर्णिमा को साकमेध पर्व तथा फाल्गुन की पूर्णिमा को शुनासीरीय पर्व के अनुष्ठान होंगे। इन चार पर्वों के अनुष्ठान से क्रमश: चार फल होते हैं—(1) पार्थिव प्रजाओं की अभिवृद्धि, (2) प्रजाओं का रोगों एवं दोषों से परिरक्षण, (3) प्रजाओं में द्वेष राहित्य एवं (4) प्रजाओं में शौर्य एवं विजय की स्थापना।[8] यहाँ यह विशेष उल्लेखनीय है कि—फाल्गुन पूर्णिमा को वैश्वदेवपर्वानुष्ठान करके प्रतिपदा से अमावास्या पर्यन्त कृष्णपक्ष में प्रतिदिन पौर्णमासेष्टि एवं शुक्लपक्ष में प्रतिदिन दर्शेष्टि करने का विधान हैं। यह क्रम शुनासीरीय पर्वानुष्ठान तक चलेगा।

पञ्चवातीय हवन—इसी अवधि में पञ्चवातीय हवन अनुष्ठित किया जाता है। इसमें आहवनीय खर में अग्नि को पाँच भागों में विभक्त कर विहित मन्त्रों से ह्वन का विधान है। इस कर्म की दक्षिणा के रूप में तीन अश्वों से युक्त रथ दिया जाता है। श.ब्रा. के अनुसार मनुष्य शरीर में मुख्य पञ्च प्राण हैं और यही उपबृंहित होकर दश प्राण हो जाते है। प्राण वायुस्वरूप हैं और यह वायुरूप प्राण जब तक शरीर में है तब तक ही आयु है। अत: सम्पूर्ण आयु की प्राप्ति एवं स्थिरता के लिये प्रतीकात्मक हवन किया जाता है।[9]

इन्द्रतुरीययाग—द्वितीय दिन इन्द्रतुरीय संज्ञक याग होता है। इसमें (1) आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश, (2) वारुण यवचरु, (3) रौद्र गावेधुक चरु, (4) ऐन्द्र वाहिनी दधियाग—ये चार हवियाँ हैं। दक्षिणा के रूप में वाहिनी गौ दी जाती है। इस याग का फल राष्ट्र के चतुर्दिक् आक्रमणकारी शत्रुओं का पराभव है।

अपामार्ग तण्डुल हवन—फाल्गुन कृष्ण तृतीया को अपामार्ग तण्डुल होम दक्षिणाग्नि में स्रुव से किया जाता है। यहाँ यह वैशिष्ट्य है कि हवन के पश्चात् स्रुव को उसी दिशा में मन्त्रपूर्वक फेंक देते हैं तथा लौटते समय पीछे नहीं देखते। राक्षसों के वध की कामना से सामान्यतया यह किया जाता है, किन्तु अभिचार के उद्देश्य से भी किया जा सकता है, यह कल्पसूत्र का विधान है।

त्रिषंयुक्तेष्टि—फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को त्रिषंयुक्तारव्य प्रथम इष्टि का याग होता है। इसमें तीन हवियाँ—(i) आग्नावैष्णव एकादशकपाल पुरोडाश (ii) ऐन्द्रावैष्णव चरुयाग (iii) वैष्णव चरु होती हैं। इस प्रथम इष्टि की दक्षिणा के रूप में वामन गौ का विधान है। फाल्गुन शुक्ल द्वितीया को त्रिषंयुक्ताख्य द्वितीय इष्टि में तीन हवियाँ हैं—आग्नापौष्ण एकादशकपाल पुरोडाश, ऐन्द्रापौष्ण चरु, पौष्ण चरु। इसकी दक्षिणा के रूप में श्यामा गौ विहित है। फाल्गुन शुक्ल तृतीया को त्रिषंयुक्ताख्य तृतीय इष्टियाग होता है। इसकी तीन हवियाँ हैं—अग्नीषोमीय एकादशकपाल पुरोडाश, ऐन्द्रासौम्यश्चरु, सौम्यचरु। दक्षिणा के रूप में बभ्रुवर्णा गौ विहित है। इसका फल यज्ञकर्ता यजमान के परिकरों की वृद्धि, पशुबल की वृद्धि तथा वर्चस् की वृद्धि है।[10]

फाल्गुन शुक्ल चतुर्थी को द्विहविष्येष्टि होती है। इसमें वैश्वानर का द्वादशकपाल पुरोडाश और वरुण के लिये यव का चरु विहित है। अन्वाहार्य दक्षिणा दी जाती है।

द्वादशरत्नहविर्याग—फाल्गुन शुक्ल चतुर्थी से बारह दिनों में द्वादशरत्नहवियाँ तत्तत्स्थानों पर अनुष्ठित होती हैं। इनमें—

प्रथम—सेनापति के गृह में—अग्निरनीकवान् देवता के लिये अष्टा कपालपुरोडाश, दक्षिणा-हिरण्य।

द्वितीय—पुरोहित गृह में—बार्हस्पत्य चरु, दक्षिणा—श्वेतपृष्ठा गौ।

तृतीय—यजमान गृह में—ऐन्द्र एकादशकपालपुरोडाश, दक्षिणा—ऋषभ।

चतुर्थ—महिषी (प्रथम परिणीता) गृह में—अदिति चरु, दक्षिणा—धेनु।

पंचम—सूत (अश्वसारथि) गृह में—वारुणयवचरु, दक्षिणा—अश्व।

षष्ठ—ग्रामणी (धनाढ्यवैश्य) गृह में—मारुत सप्तकपालपुरोडाश दक्षिणा—विचित्रवर्णा गौ।

सप्तम—क्षत्ता (प्रतीहार) गृह में—सावित्रपुरोडाश, दक्षिणा—श्वेतवृषभ।

अष्टम—सङ्ग्रहीता (रथयोजक) गृह में—अश्वि द्विकपालपुरोडाश, दक्षिणा—युग्म गौ।

नवम—परिवेष्टा (राजपाचक) गृह में—पौष्ण चरु, दक्षिणा—श्यामा गौ।

दशम—यजमानगृह में—रौद्र चरु (गावेधुक)[11], दक्षिणा—श्वेतबाहु गौ आदि।

एकादश—दूत गृह में—अध्वदेव के निमित्त आज्यहवि, दक्षिणा—धनु।

द्वादश—अपुत्रास्त्री—निर्ऋति देव के निमित्त चरु (कृष्णव्रीहि), दक्षिणा—रुग्णा गौ।

उपर्युक्त द्वादश रत्न हवियों से सम्बन्धित व्यक्ति - देवता - हवि एवं दक्षिणा के विषय में शतपथ ब्राह्मण (5/3/1) में संगतिपूर्ण विवेचन किया गया है। बारहवीं रत्नहवि के नैर्ऋत्य चरु के समाप्ति पर राजा परिवृत्ती को कहता है—''मत्स्वाम्ये मा वात्सीः'' (अर्थात् मेरे स्वामित्व के क्षेत्र में निवास न करना)। इस प्रकार कहने पर परिवृत्ती (अपुत्रा स्वामीविरहिता पत्नी) वह स्थान छोड़कर ब्राह्मण के घर में रहने के लिये चली जाती है, क्योंकि ब्राह्मण गृह में राजा का स्वामित्व नहीं होता, ऐसा कल्प का विधान है। श.ब्रा. का कथन है कि बारहवीं रत्न हवि पाप, दौर्भाग्य के देवता निर्ऋति के निमित्त है, अतएव यह याग परिवृत्ती के घर अनुष्ठित होता है तथा याग के पश्चात् जो स्थानत्याग के लिये राजा निर्देश देता है, वह निर्ऋति के अपसारण का प्रतीक है।

सोमारौद्रयाग एव मैत्राबृहस्पति चरु का याग—फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को सोमारौद्रदैवत चरु याग अनुष्ठित होता है। चरु श्वेतवर्णा गौ जिसके श्वेतवर्ण का ही वत्स हो, उसके दूध में पकाया जाता है। दक्षिणा के रूप में श्वेतवत्सा श्वेतधेनु को ही दिया जाता है।[12] कल्प का विधान है कि—विद्वान् होने पर भी जो अनुरूप यश प्राप्त न कर सका हो, उसे यशः प्राप्ति के लिये यह चरुयाग करना चाहिये। किलास नामक व्याधि (श्वित्र) के निराकरण के लिये भी यह याग किया जा सकता है।

मैत्राबार्हस्पत्य चरु के लिये पाक अग्नि में चढाकर उसे अश्वत्थ वृक्ष की स्वयं भग्न हुई प्राची-उदीची शाखा से निर्मित पात्र (स्थाली) से ढंके। एतदनन्तर

मित्र देवता के लिये हवि तैयार की जाती है। इसमें वैशिष्ट्य यह है कि चर्मघट (विनाट) में दही जमाकर उसे रथ पर रखा जाता है तथा रथ को वेग से दौडाया जाता है। रथधावन से उछलते दही में जो स्वयं नवनीत उत्पन्न हो उसे अश्वत्थ काष्ठ के पात्र में रखकर तण्डुल प्रक्षेप करते हैं। इस मैत्र चरु का अग्नि में पाक न कर स्थालीगत ऊष्मा से ही पाक होगा। इस चरु का हवन कर गौ दक्षिणा दी जाती है।

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को अभिषेचनीय एवं दशपेय संज्ञक दो सोमयागों का युगपत् आरम्भ होता है। इसमें होता ऋत्विक् भृगु गोत्रीय होना चाहिये, ऐसा उल्लेख है। पाँच दिनों में इसकी समाप्ति होती है।

सोमयागद्वय की समाप्ति के अनन्तर देवसूहविर्याग सम्पादित होता है, जिसमें देवता एवं द्रव्य निम्नवत् हैं—

देवता	द्रव्य
सवितासत्यप्रसव	प्लाशुक (एक बार काटने पर पुनः उगी व्रीहि)
अग्निगृहपति	आशु (तीन पक्ष में फलीभूत होने वाली व्रीहि)
सोमवनस्पति	श्यामाक व्रीहि
बृहस्पति	नीवार (बिना बोये उगी व्रीहि)
इन्द्रज्येष्ठ	व्रीहि (एक वर्ष में पकने वाली व्रीहि)
रुद्रपशुपति	गवेधुक (जंगली गेहूँ)
मित्रसत्य	नाम्ब (बिना बोये उगी व्रीहि)
वरुणधर्मपति	यव

देवसूहविर्याग के अनन्तर अभिषेकार्थ 17 (सत्रह) प्रकार के जल या अभिषेक वस्तुओं का उदुम्बरकाष्ठ के पात्रों में ग्रहण किया जाता है।[13] ये हैं—

(i) वर्षा जल, (ii) सरस्वती नदी का जल, (iii) जल में प्रविष्ट होने पर पूर्वापर कल्लोल का जल (स्यन्दमान जल), (iv) उलटा बहने वाला जल, (v) अपयती (प्रवाह से हटकर मार्गान्तर में जाकर पुनः उसी प्रवाह में जाने वाला) जल, (vi) सूद्याः (समुद्र के लहरों पर उछलता) जल, (vii) निवेष्या (नदी के भंवर का) जल, (viii) प्रत्याताप (सर्वदा सूर्य की किरणों से युक्त रहने वाला) जल, (ix) आतपवर्ष्या (धूप में हुई वर्षा का जल भूमिपतन से पूर्व (अन्तरिक्ष

में ग्रहण किया) जल, (x) तडाग जल, (xi) कूप जल, (xii) प्रुष्वा (ओस का) जल, (xiii) उल्व जल, (xiv) मधु, (xv) पय, (xvi) घृत, (xvii) मरीचि (सूर्य की किरणों से गर्म हुआ) जल।

चैत्र शुक्ल पंचमी को उक्थ्य संस्थ अभिषेचनीय क्रतु होता है। इसकी दक्षिणा के रूप में एक लक्ष गौ (शतं सहस्राणि) विहित है। अभिषेक के समय यजमान व्याघ्रचर्म पर आसीन रहता है। व्याघ्रचर्म के पीछे सीसा स्थापित किया जाता है। यजमान दीक्षितवस्त्र का परित्याग कर 'तार्प्य' नामक विशिष्ट वस्त्रधारण करता है। 'तार्प्य' के विषय में कई मत हैं। कुछ के अनुसार 'तार्प्य' शुद्ध सिल्कवस्त्र है। अन्य मत में—बुनाई के समय तीन बार जल से भिगोकर बनाया हुआ वस्त्र 'तार्प्य' है। कुछ लोग वल्कल को 'तार्प्य' कहते हैं तथा कुछ का मत है कि यज्ञोपकरण की कढाई या छ्पाई से युक्त वस्त्र 'तार्प्य' है। यजमान 'तार्प्य' वस्त्र के ऊपर रक्तवर्ण का ऊनीवस्त्र (उत्तरीय) धारण करता है। तदनन्तर महाकंचुक धारण करने का विधान है एवं सिर पर उष्णीष (पगडी) बाँधता है। यजमान के पैर के नीचे 'रुक्म' (स्वर्ण का गोलाकार आभूषण विशेष) रखा जाता है तथा सिर पर स्वर्ण का नौ छिद्र अथवा शतछिद्र का वर्तुलाकार द्वितीय रुक्म रखा जाता है। इस प्रकार सज्जित यजमान ऊर्ध्वबाहु स्थित होगा तथा सम्मुख स्थित अध्वर्यु सर्वप्रथम पलाशपात्र में स्थित जल से अभिषेक तदनन्तर क्षत्रिय मित्र राजा न्यग्रोधपात्र स्थित जल से अभिषेक, तदनन्तर वैश्य अश्वत्थ पात्र स्थित जल से अभिषेक करता है।[14]

अभिषेकानन्तर शौन:शेपशस्त्र का शंसन होता है, जिसमें होता एवं अध्वर्यु हिरण्मयकशिपु पर बैठकर 'ओम्' (ऋचा शंसन में) एवं 'तथा' (गाथा शंसन) कहकर प्रतिगर देते हैं। शंसन के अनन्तर शालाद्वार्य अग्नि में आहुति प्रदान की जाती है। यहाँ यह वैशिष्ट्य है कि आहुतिमन्त्रगत ''आयममुष्यपिता'' इसमें पितृ शब्द पुत्र में करके (यथा—रामो दशरथस्य पिता) तदनन्तर पुत्र के स्थान पर पुत्रनाम एवं पिता के स्थान पर पितृनाम रखकर उच्चरित करे।

तदनन्तर रथयोजन, यजमान का रथारोहण तथा रथ को गोयूथ के मध्य स्थापन विहित है। रथारोहण के समय यजमान सूकर चर्म निर्मित उपानह (जूता) धारण करता है। रथावतरण के पश्चात् आसन्दी पर अधीवास बिछाकर उस पर यजमान बैठता है। यजमान स्वर्ण के पासे लेकर क्रीडा करता है। इस समय यजमान के पीठ पर अध्वर्यु आदि ऋत्विक् यज्ञीय वृक्षदण्ड से शनैः शनैः ताडन करते हैं।

एतदनन्तर त्रैधातवी-उदवसानीयेष्टि याग किया जाता है। तत्पश्चात् संतृपसंज्ञक दश हवियों का याग होता है जिसकी दक्षिणा के रूप में पुण्डरीक (कमल) देने का विधान है। यजमान भी द्वादश कमलपुष्पों की माला धारण करता है।

उपर्युक्त के अनन्तर दशपेयारव्य सोमयाग अनुष्ठित होता है। तत्पश्चात् एक वर्ष पर्यन्त केशवपन का निषेध एवं भूमि पर नंगे पाँव चलने का निषेध है।

चैत्र शुक्ल दशमी से अमावास्या पर्यन्त कोई विशिष्ट कर्म नहीं होता। वैशारव शुक्ल पक्ष में किसी दिन पञ्चबिलसंज्ञक चरु याग (पाँच हवियों का समूह) अनुष्ठित होता है। इसे 'अवेष्टि' भी कहते हैं। तदनन्तर द्वादश प्रयुग् हवियाँ बारह मास में (प्रत्येक मास में एक) अनुष्ठित होती हैं।[15] इसमें दूसरा पक्ष यह है कि एक ही काल में बारह हवियों का अनुष्ठान इस प्रकार करे—

आहवनीय के पास खड़े होकर अध्वर्यु पूर्व दिशा में शम्या प्रक्षेप करे, वह जहाँ गिरे वहाँ गार्हपत्य का स्थान मानकर प्रथम हवि, पुन: वहाँ से शम्या प्रक्षेप इस प्रकार छ हवियों का अनुष्ठान कर वहाँ से पश्चिम (वापसी की ओर) शम्याप्रास करते हुए छ हवियों का अनुष्ठान करे। इस प्रकार बारहवीं हवि अग्निहोत्र शाला में होगी।

वैशाखी अमावास्या को पशुबन्धद्वय का अनुष्ठान विहित है। पशुबन्ध के अनन्तर केशवपनीय संज्ञक अतिरात्रसंस्थ सोमयाग का अनुष्ठान ज्येष्ठ पूर्णिमा को विहित है। इसके बाद क्रमश: चार सोमयाग एक-एक मास में अनुष्ठित होते है। यथा—ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया से प्रारम्भ कर व्युष्टिद्विरात्रसंज्ञक सोमयाग, आषाढ में त्रिष्टोम, श्रावणमास में क्षत्रधृतिसंज्ञक सोमयाग, भाद्रपद में ज्योतिष्टोम।

सोमयागों की समाप्ति के अनन्तर राजसूयान्तर्गत चरक सौत्रामणीयाग होता है। तत्पश्चात् त्रैधातवीष्टि अनुष्ठित होती है और इसी के साथ राजसूययाग की समाप्ति होती है।

यह ध्यातव्य है कि शास्त्र के अनुसार यज्ञविद्या सृष्टिविद्या का प्रतीक है। यज्ञ न केवल सृष्टि का प्रतीक है, अपितु प्रकृति का पोषक एवं प्रकृति से अभिलषित पदार्थों एवं कामनाओं के दोहन का साधन भी है। अत: प्रकृति के पोषण एवं उससे लोकक्ल्याण के साधन प्राप्ति के निमित्त 'यज्ञ' का अनुष्ठान परम उपादेय है। यज्ञ में जो क्रियाओं के साथ विभिन्न उपादानों, साधनों एवं भौतिक पदार्थों व द्रव्यों का सम्बन्ध है उस पर वैज्ञानिक ढंग से शोध की आवश्यकता है, ताकि रहस्यों का भेदन हो सके एवं लोकमंगल के लिये नये वातायन उद्घाटित हो सकें।



सन्दर्भ

1. ''तस्मै हरिश्चन्द्राय वरुणो एतं राजसूयाख्यं यज्ञक्रतुं प्रोक्तवान्। तस्य क्रतोर्विश्वामित्रो होता बभूव। अथास्य आंगिरस उद्गातासीत्। जमदग्निर्नामर्षिः सोऽध्वर्युरासीत्।''—शा. श्रौ. भा. 15/20/21
2. राज्ञो राजसूयोऽनिष्टितो वाजपेयेन (का.श्रौ. 15/1/1)
3. यवागू राजन्यस्य (का.श्रौ. 8/4/25)
4. वटस्य फलानि अंकुराश्च। सोमनिधानानन्तरमुपरवदेशे न्यग्रोधस्य निधानम्। (दे. या. प. 464)
5. ''तद्यदेवास्या अत्र नैर्ऋतं रूपं तदेवैतच्छमयति तथो हैनं सूयमानं निर्ऋतिर्न्न गृह्णाति'' --------'' इयं वा अनुमतिः स यस्तत्कर्म शक्नोति कर्तुं यच्चिकीर्षतीयं हास्मै तदनु मन्यते'' (श.ब्रा. 5/2/3)
6. ''अग्निर्वै सर्वा देवताः-------अग्निर्वै यज्ञस्यावराद्ध्यो विष्णुः परार्द्ध्यः------। (श.ब्रा. 5/2/3)
7. शतपथ ब्राह्मण 5/2/10
8. द्र.श.ब्रा. 5/2/4
9. द्र.श.ब्रा. 5/2/4
10. द्र.श.ब्रा. 5/2/5
11. इस हवि के लिये गावेधुक द्रव्य अक्षावाप (अक्षक्षेप्ता) तथा गोविकर्त (हालिक) के घर से लाने का विधान है। द्र.का.श्रौ. 15/3/22
12. श.ब्रा. (5/3/2) का कथन है कि राजा को राजसूययाग एवं अन्य लोकहितकारी कार्यों को मूर्त रूप देने के प्रसंग में कई अप्रिय निर्णय लेने पडते हैं, जिनसे यशःश्री म्लान होती है। सोमारौद्रयाग की इस विधि से वह अपहतपाप्मा होकर धवलकीर्ति युक्त हो जाता है।
13. श.ब्रा. (5/3/4) के अनुसार सृष्टि का बीज तत्त्व अप् (जल) हैं। अतः राष्ट्र की प्रजाओं में वीर्य, अन्न, विद्या, शक्ति, विशालता, प्रजावृद्धि, कान्ति,

अपराजेयता, माधुर्य, तेजस्विता, पशुवृद्धि एवं अखण्डता का आधान करने के उद्देश्य से राष्ट्र के प्रतीक रूप राजा का सत्रह प्रकार के जलों से अभिषेक किया जाता है।

14. श.ब्रा. (5/3/5) के अनुसार राष्ट्र में ब्रह्मवर्चस, तेज, अन्नसम्पदा, प्रेम-करुणा एवं दूरगामी आर्थिक समृद्धि प्राप्ति की दृष्टि से यह कर्म किया जाता है।

15. श.ब्रा. (5/5/2) के अनुसार प्रयुग् हवियों के अनुष्ठांन से राष्ट्र में षट् ऋतुओं की शोभन युक्ति कामित है। प्रयुग्घवियों की संख्या बारह इसलिये है, क्योंकि बारह मास का एक संवत्सर होता है और संवत्सर के अन्तर्गत ही ऋतु चक्र घूमता है। अतः राष्ट्र के लिये ऋतुओं की अनुकूलता ही इन हवियों के अनुष्ठान का उद्देश्य है।



17

राजसूय यज्ञ: विधि और महत्त्व

प्रो. (डॉ.) सत्यप्रकाश सिंह
पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ

'राजसूय' का शाब्दिक अर्थ है—''वह धार्मिक अनुष्ठान, जिससे राजा का जन्म-संस्कार होता है।'' जन्म से तात्पर्य राजसत्ता के अधिकार से है। राजसत्ता प्राप्ति के क्रम में जो कुछ याज्ञिक अनुष्ठान होता है, उसे **'राजसूय'** कहते हैं। राजसूय वस्तुत: अनेक अनुष्ठानों का सातत्यबद्ध अनुक्रम है, जो दो वर्षों से अधिक काल तक चलता है। इसका आरम्भ फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से होता है तथा पर्यवसान दो वर्ष व्यतीत करके नववर्ष के आगमन के साथ होता है। इसके आरम्भ में अनेक प्रकार की इष्टियाँ आती हैं तथा इसका अन्त सिंहासनरोहण के साथ होता है। स्पष्ट है कि जब कोई युवराज राजगद्दी का अधिकारी बनने वाला होता होगा तो दो वर्ष पहले से ही ये अनुष्ठान आरम्भ हो जाते होंगे।

इससे भी अधिक मौलिक वस्तुस्थिति का संकेत शतपथ ब्राह्मण में मिलता है, जहाँ इस यज्ञ का सर्वप्रथम प्रतिपादक प्राप्त होता है। यहाँ राजसूय के अनुष्ठान को पूर्णाहुति के साथ आरम्भ करने का विधान किया गया है। सारे विधान के प्रारम्भ में ही ब्राह्मण वाक्य आता है—''पूर्णाहुतिं जुहोति।'' वास्तविकता तो यह होनी चाहिये थी कि पूर्णाहुति को सारे अनुष्ठान के पर्यवसान में आना चाहिए था। इसके विपरीत आरम्भ में ही पूर्णाहुति का विधान इस बात को सूचित करता है कि इस यज्ञ की भूमिका में विजयाभियान का पर्यवसान निहित होता था। यह बात ब्राह्मण की व्याख्या से पुष्ट भी हो जाती है। 'पूर्णाहुतिं जुहोति' की व्याख्या में ब्राह्मण कहता है—

सर्वं वै पूर्णं सर्वं परिगृह्य सूया इति। शत.ब्रा. 5/2/3/1

अर्थात् पूर्णता वहाँ होती है, जहाँ सब कुछ होता है; सब कुछ ग्रहण करके ही मैं (राजा के रूप में) जन्म लूँ, इस संकल्प के साथ वह पूर्णाहुति का अनुष्ठान करता है। इस प्रकार राजा के द्वारा अनुष्ठित पूर्णाहुति उसकी विजय-यात्रा की पूर्णता को सूचित करती थी। विजय-यात्रा की पूर्णता के अवसर पर की गई यही पूर्णाहुति कालक्रम में राजसूय यज्ञ के विस्तृत आयाम को प्राप्त करती है। इस विस्तार को प्राप्त कर लेने पर आरम्भिक पूर्णाहुति गौण होकर वैकल्पिक मात्र रह जाती है। इसीलिए ब्राह्मण-वाक्य आता है—

स यदि कामयेत जुहुयादेतां यद्यु कामयेताऽपि नाऽद्रियेत।

शत.ब्रा. 5/2/3/1

पूर्णाहुति की गौणता राजतन्त्र के उस ऐतिहासिक विकास की सूचक है जिसके अनुसार न केवल विजेता ही राजा बनता था, अपितु उसके वंशज भी अनुक्रमेण राजा बनने लगे थे।

इस प्रकार राजसूय राजा के द्वारा कृत्य अनुष्ठान होता था, उसका राज्यत्व चाहे स्वयं उपार्जित हो अथवा वंश परम्परा से प्राप्त, महर्षि कात्यायन ने इस बात को राजसूय प्रकरण के अपने प्रथम सूत्र में ही स्पष्ट कर दिया है—

राज्ञो राजसूयः। का.श्रौ.सू. 15/1

अर्थात् राजसूय राजा के द्वारा अनुष्ठेय होता है, परन्तु उनके भाष्यकार आचार्य कर्क ने इस बिन्दु पर एक विवाद की सम्भावना उत्पन्न करते हुए अन्ततोगत्वा निर्णय दिया है कि राजसूय का अधिकारी जो कोई राजा न होकर केवल क्षत्रिय जातीय राजा हो सकता है। उनका तर्क यह है कि राज्य तो राजा का कर्म होता है, परन्तु राज्य का कर्त्ता प्रत्येक दशा में राजा नहीं हो सकता; राजा कहलाने के लिए तो राज्यकर्ता को क्षत्रिय-जातीय होना अनिवार्य है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने से स्पष्ट है कि इस प्रकार का विवाद परवर्ती सामाजिक स्थिति की उपज है, जबकि भारतीय समाज रूढजातियों में प्रतिबद्ध हो चुका था। अन्यथा प्राचीन वैदिक अवधारणा के अनुसार जब लोगों की जाति कर्मणा निर्धारित होती थी, राजसूय यज्ञ की पात्रता में राज्यकर्त्ता के समक्ष सम्भवतः कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती थी।

कोई भी यज्ञ तत्त्वतः दिव्यशक्ति का आह्वान होता है, कार्य विशेष को चरितार्थता

अथवा लक्ष्यविशेष की अभिप्राप्ति के लिए। इसका कारण मानव के द्वारा न केवल अपनी शक्तियों की परिसीमितताओं का आभास है, प्रत्युत सृष्टि की संरचना और प्रक्रिया में अपने से भिन्न और महत्तर शक्तियों के योगदान की सम्यक् प्रतीति भी है। वे शक्तियाँ मानव से पृथक् स्वतन्त्र रूप में तो कार्य करती ही रहती हैं, मानव के माध्यम से भी कार्य कर सकती हैं। उनकी स्वतन्त्र कार्यवत्ता जहाँ प्राकृतिक वस्तुस्थिति को उत्पन्न करती है, वहीं मानव के माध्यम से कार्य करने की सम्भावना यज्ञ की अवधारणा को जन्म देती है। राजा बनता है और उसका संचालन करता है, आपाततः अपने भुजबल और बुद्धिबल के आधार पर। परन्तु स्वयं इन उभयविध बलों के आधार यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि ये अपनी-अपनी प्रकृति के अनुरूप महत्तर वैश्व-शक्तियों की प्रसूति हैं। अतः इनके उन मूल स्रोतों से सर्वथा निरपेक्ष होकर हम इनका सम्यक् उपयोग नहीं कर सकते। राजसूय यज्ञ के क्रम में भी इन्हीं वैश्वशक्तियों का अनेक प्रकार से आह्वान किया जाता है, जिससे वे प्रभविष्णु राजा को हर प्रकार से शासन चलाने में अपना-अपना सहयोग प्रदान करें। यह आह्वान मौखिक ही न रह कर प्रायोगिक भी बना दिया जाता है। इसकी प्रायोगिकता प्रतीकों के माध्यम से चरितार्थ होती है। प्रभविष्णु राजा के द्वारा राज्य-संचालन के निमित्त अनुष्ठित इन्हीं प्रतीक परक धार्मिक कृत्यों की शृङ्खला राजसूय यज्ञ के नाम से अभिहित हुई है।

इन समूचे अनुष्ठानों के पीछे जो आधारभूत मन्त्र हैं, वे प्रायः शुक्ल यजुर्वेद के नवें और दसवें अध्यायों से लिये गये हैं। शतपथ ब्राह्मण का राजसूय विषयक प्रकरण वस्तुतः इन्हीं मन्त्रों के संयोजित निरपेक्ष भाव से अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि इनके अन्तराल में राष्ट्र, राज्य, साम्राज्य, क्षत्र, क्षत्रिय, रथारोहण, नानाविध जलों से स्नान इत्यादि अवधारणाएँ रही हैं और अनुष्ठान पहले से विद्यमान थे, जिनका संग्रथन ब्राह्मण ने किया है। यह तथ्य राजसूय यज्ञ के इतिहास को कम से कम यजुर्वेद के काल तक ले जाता है। स्वयं शुक्ल यजुर्वेद का अपने दो प्रशस्त अध्यायों को और वह भी अपने प्रथम चरण के अन्तर्गत ही इस यज्ञ के निमित्त संकल्पित करना इस के महत्त्व का अपने आप में ख्यापक है। यज्ञों का राजा स्वयं अश्वमेध इस संहिता में राजसूय के उपरान्त ही स्थान पाता है। इसका कारण यह है कि जहाँ अश्वमेध सिद्धान्ततः चक्रवर्ती राजा के द्वारा ही करना सम्भव था, वहाँ राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान राज्यत्व ग्रहण करते

समय प्रत्येक राजा के लिये आवश्यक था। इस दृष्टि से अश्वमेध यज्ञ राजसूय ही के ऊपर एक अवान्तर विकास प्रतीत होता है।

जहाँ तक राजसूय यज्ञ के अन्तर्गत समागत अनुष्ठानों का प्रश्न है, सर्वप्रथम यजमान को फाल्गुन शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को दीक्षित किया जाता है। इस सम्बन्ध में कात्यायन का विधान है—**''माघीपक्षयजनीये दीक्षा।''** का.श्रौ.सू. 15/6/ इसके बाद अनुक्रम से अनुमति, चातुर्मास्य, इन्द्रतुरीय, पञ्चवातीय, अपामार्ग होम, रत्निनां हवींषि और मित्रावरुणेष्टि इष्टियाँ अनुष्ठित होती हैं।

सर्वप्रथम अनुमति देवी के लिए आठ कपालों में पुरोडाश अर्पित किया जाता है। कपालों की संख्या गायत्री मन्त्र के प्रत्येक पाद में निहित अक्षरों के आधार पर निश्चित की गई है। सभी छन्दों का आधार स्वरूप होने के नाते गायत्री पृथ्वी को प्रतीकायित करती है। प्रस्तुत प्रसंग में क्योंकि अनुमति देवी से पृथ्वी पर राज्य करने की अनुमति माँगी जाती है, अत: आठ कपालों में पुरोडाश उसे अर्पित किया जाता है। प्राप्तव्य के अनुरूप ही उपास्य को उपासना प्रदान करनी पड़ती है। इसी क्रम में पुरोडाश तैयार करते समय अन्न के जो कण चक्की की खूँटी के छिद्र में गिर जाते हैं, उन्हें दक्षिण दिशा में जाकर किसी गड्ढे में अग्नि प्रज्वलित करके निर्ऋति देवी को अर्पित कर दिया जाता है। राजा के भाग्य में जो कोई नकारात्मक तत्त्व होता है, उसे इस आहुति के द्वारा निर्मूल कर दिया जाता है।

अगले दिन अग्नि और विष्णु के लिए ग्यारह कपालों में पुरोडाश अर्पित किया जाता है। समग्र देवतत्त्व का अपरार्ध अग्नि को तथा परार्ध विष्णु को माना गया है। इस अनुष्ठान के द्वारा इन दोनों देवताओं के माध्यम से मानों सम्पूर्ण देवतत्त्व को तृप्त कर दिया जाता है। क्योंकि स्वर्ण अग्नि का विकार है। अत: इस अनुष्ठान के बाद स्वर्ण की दक्षिणा दी जाती है।

उसके अगले दिन अग्नि और सोम के लिए ग्यारह कपालों में पुरोडाश अर्पित किया जाता है। इस अनुष्ठान के द्वारा राजा के शत्रुओं का विनाश होना माना जाता है। शत्रु से रहित राज्य का शासकत्व ही वास्तविक शासकत्व होता है।

उसके अगले दिन इन्द्र और अग्नि के निमित्त बारह कपालों में पुरोडाश तैयार किया जाता है। इस अनुष्ठान के द्वारा राजा को इन्द्र की ऐन्द्रिक शक्ति तथा अग्नि का तेज प्राप्त होता है, जो दोनों ही शक्तियाँ राजा के लिए आवश्यक होती है।

उसके बाद आग्रायण इष्टि का अनुष्ठान होता है। इस इष्टि का प्रयोजन होता है, राज्य में औषधियों एवं वनस्पतियों की निर्विकार तथा स्वस्थ वृद्धि।

आग्रायण इष्टि के उपरान्त चातुर्मास्य इष्टियाँ आरम्भ होती हैं। इन्हें चातुर्मास्य इसलिए कहते हैं, क्योंकि ये चार-चार महीने बाद अनुष्ठित होती हैं। राजसूय का अनुष्ठान करने वाला राजा सभी यज्ञों और इष्टियों का लाभ प्राप्त करना चाहता है। ब्राह्मण के अनुसार, चातुर्मास्य के भीतर सभी यज्ञों और इष्टियों के फल अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। अत: राजा इनका भी अनुष्ठान करता है। ये इष्टियाँ है—वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनाशीरीय। इनका अनुष्ठान करते हुए पूरा एक वर्ष व्यतीत हो जाता है। वैश्वदेव इष्टि के द्वारा प्रजावृद्धि की कामना की जाती है। वरुणप्रघास इष्टि के द्वारा प्रजाओं को रोग और पापाचरण से मुक्त समझा जाता है। साकमेध इष्टि के द्वारा राज्य से शत्रुओं का विनाश सम्भावित होता है। साकमेध के बाद शुनासीरीय इष्टि का अनुष्ठान होता है, जिसे पञ्चवातीय भी कहते हैं, क्योंकि इसकी अन्तिम पाँच आहुतियों के साथ रथी और सारथी सहित तीन घोड़ों वाला रथ दक्षिणा में प्रदान किया जाता है, जिसके पाँचों प्राणी पाँच प्राणों के प्रतीक होते हैं, तथा राजा के पाँचों प्राणों को पुष्ट करते हैं।

इन चारों के बाद इन्द्रतुरीय इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। इसके अन्तर्गत अग्नि को आठ कपालों में पुरोडाश, वरुण को यवमय चरु, रुद्र को गाय के दूध का चरु और इन्द्र को दधि प्रदान किया जाता है। इस अनुष्ठान के द्वारा इन चार महत्त्वपूर्ण देवताओं की कृपा प्राप्त की जाती है तथा सम्भावना की जाती है कि इनकी विशिष्ट-विशिष्ट शक्तियाँ राजा के भीतर प्रविष्ट हो जायेगी। इस इष्टि के उपरान्त अपामार्ग होम का विधान किया गया है। इस होम में पलाश के स्रुवे का प्रयोग किया जाता है और अन्वाहार्य पचन अग्नि से उल्का ली जाती है। इसके अनुष्ठान से राजा के शत्रुओं का नाश होता है।

अपामार्ग होम के बाद त्रिषंयुक्त इष्टि और द्विहविष्क इष्टि का विधान किया गया है। त्रिषंयुक्त इष्टि के अन्तर्गत अग्नि और विष्णु के लिए ग्यारह कपालों में पुरोडाश अग्नि और पूषा के लिए चरु तथा अग्नि और सोम के लिए पुरोडाश प्रदान किया जाता है। इन अनुष्ठानों से राजा को तेज, राज्य-विस्तार, पुष्टि आदि का लाभ होता है।

इसके उपरान्त रत्नहविष् नामक इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। इसके

अन्तर्गत राजा और राजकार्य से सम्बन्धित ग्यारह सबसे महत्त्वपूर्ण पदाधिकारियों के आवास पर अनुक्रम से एक-एक दिन जाकर राजा को अनुष्ठान करना पड़ता है। इन्हीं पदाधिकारियों को रत्नी कहते हैं। सर्वप्रथम वह सेनानी के घर जाता है। वहाँ वह अग्नि के लिए आठ कपालों में पुरोडाश प्रदान करता है। अगले दिन वह पुरोहित के घर जाता है और बृहस्पति के लिए चरु प्रदान करता है। इसके बाद वह क्षत्रिय के घर जाता है और इन्द्र के लिए ग्यारह कपालों में पुरोडाश प्रदान करता है। अगले दिन वह महिषी के आवास पर जाकर आदित्य को चरु प्रदान करता है। इसके बाद वह सूत के घर जाकर वरुण के लिए यव से बना चरु अर्पित करता है। इसके अगले दिन वह ग्रामणी के घर जाकर मरुद्गण के लिए सात कपालों में पुरोडाश प्रदान करता है। इसके उपरान्त वह क्षत्रा के घर जाकर सवितृदेव के लिए बारह कपालों में पुरोडाश प्रदान करता है। इसके बाद अगले दिन वह संगृहीता के घर जाकर अश्विनों के लिए दो कपालों में पुरोडाश प्रदान करता है। अगले दिन भागदुध के घर जाकर वह पूषा के लिए चरु प्रदान करता है। अगले दिन अक्षावाप के घर जाकर रुद्र के लिए गाय के दूध का चरु प्रदान करता है। इसके बाद अगले दिन पालागल के घर जाकर वह घी की आहुति देता है। इस अनुष्ठान से वह राज्य संचालन में इन महत्त्वपूर्ण लोगों का हार्दिक सहयोग प्राप्त करता है।

रत्नहविष् के बाद सौमारौद्र याग का अनुष्ठान किया जाता है। यह श्वेतवत्सा श्वेत गाय के दूध से अनुष्ठित होता है। इसमें सोम और रुद्र की उपासना की जाती है। इसके अनुष्ठान से राजा के जीवन से अन्धकार की अपसारणा होती है और उसमें प्रकाश का अनुप्रवेश हो जाता है।

पिछले सारे अनुष्ठान भूमिका तैयार करते हैं, सबसे महत्त्वपूर्ण याग के लिए जिसे अभिषेचनीय कहते हैं। इसके अन्तर्गत अग्नि, सोम, सविता, बृहस्पति, इन्द्र, रुद्र, मित्र और वरुण देवता के लिए उनकी अलग-अलग विशेषता के अनुरूप पुरोडाश और चरु का आयोजन किया जाता है। इसके बाद यजमान के दाहिने हाथ को पकड़कर पुरोहित निम्नांकित मन्त्र का जाप करता है—

सविता त्वा सवानां सुवतामग्निर्गृहपतीनां सोमो वनस्पतीनाम्।
बृहस्पतिर्वाच इन्द्रो ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणो
धर्मपतीनाम्। इमं देवाः। असपत्नं सुबद्धमितीमं देवा अभ्रातृव्यं

सुबद्धमित्येवै तदाह 'महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय...... महते जानराज्याय। शत.ब्रा. 5/3/3/11-12

इस प्रकार कामना की जाती है कि आहूत देवगण अपनी-अपनी विशेषता के अनुरूप राजा को शक्ति प्रदान करें, जिससे वह राज्य को प्रजा, पशु और यहाँ तक कि वनस्पति के साथ न्याय कर सके और सबकी अभिवृद्धि में सहायक हो सके। इसी मार्ग से चलकर महान् एवं स्थायी जनराज्य का निर्माण हो सकता है।

उपर्युक्त संकल्प के साथ राजा को प्रजावर्ग के समक्ष उपस्थित कराकर सबसे परिचित कराया जाता है। इसके बाद सत्रह प्रकार के जलों से उसका अभिषेक किया जाता है। इनमें से पहला सरस्वती का जल होता है। सरस्वती के वाणी स्वरूप होने के कारण यह जल भी वाक्स्वरूप होता है। इसके ऋत्विज् राजा का सर्वप्रथम अभिषेक करता है। इसके बाद पूर्व की ओर बहने वाला, पश्चिम की ओर बहने वाला, वेग के साथ बहने वाला, पीछे की ओर वेग से बहने वाला, दूर बह निकलने वाला जल, समुद्र का जल, झरने का जल, धूप में जो वर्षा होती है उसका जल, तालाब का स्थिर जल, कूप जल, ओस का जल, मधुमय जल, गाय के उल्व का जल, दूध, घृत और सूर्य की किरणों में निहित जल लाया जाता है। इन सभी प्रकार के जलों को गूलर की लकड़ी से बने पात्र में वरुण की धिष्ण्या के समक्ष रख दिया जाता है, जिससे वे अनाधृष्य बन सकें तथा राजा को भी अनाधृष्य बना सकें।

अभिषेक का कार्य माध्यन्दिन सवन के अवसर पर किया जाता है। सर्वप्रथम मैत्रावरुण धिष्ण्या के आगे शार्दूलचर्म बिछाया जाता है। इससे आशा की जाती है कि शार्दूल का तेज राजा के भीतर प्रविष्ट होगा। इसके बाद बारह पार्थ आहुतियाँ दी जाती हैं। इनमें से छह आहुतियाँ अभिषेक से पूर्व दी जाती हैं और छह अभिषेक के बाद। पार्थ आहुतियाँ राजा के राज्यत्व के इतिहास के साथ जोड़ती हैं। ब्राह्मण के अनुसार पृथी वैन्य का मनुष्यों में सर्वप्रथम राजा के रूप में अभिषेक किया गया था। उन्हीं के नाते इन आहुतियों को 'पार्थ' कहा जाता है।

इन आहुतियों के बाद पलाश, गूलर, न्यग्रोध, अश्वत्थ आदि वृक्षों को लकड़ियों से बने पात्रों में रखे जल से लोग राजा का अभिषेक करते हैं। सबसे पहले पलाश के पात्र में रखे जल से ब्राह्मण उसका अभिषेक करता है। अभिषेक करके मानों

वह अपनी ब्राह्मशक्ति उसे प्रदान कर देता है। इसके बाद उदुम्बर के पात्र में रखे जल से राजा का सम्बन्धी अभिषेक करता है। न्यग्रोध के जल से मित्र राजन्य तथा अश्वत्थ के जल से वैश्य उसका अभिषेक करता है।

अभिषेक के बाद अभिषिक्त राजा को वस्त्र पहनाया जाता है। सबसे पहले उसे तार्प्य नामक वस्त्र से परिहित किया जाता है। इस वस्त्र के मध्य से वह उसी प्रकार शोभायमान होता है, जिस प्रकार उल्ब में से निकलता हुआ शिशु। यही राजसूय यज्ञ का मूल बिन्दु है। इसके बाद उसे एक ऊनी वस्त्र पहनाया जाता है। यह मानों उदीयमान राजशिशु का जरायु है। इसके उपरान्त अधिवस्त्र पहनाया जाता है। अन्त में उसे उष्णीष पहनाया जाता है। उष्णीष पहनाने के बाद उसके हाथ में धनुष दिया जाता है। धनुष देने के उपरान्त उसे तीन तीर प्रदान किये जाते हैं। राज्य वर्ग की शक्ति उसके धनुष में निहित होती है। तीर सहित धनुष प्रदान करके राजा को अभिषेक के समय शक्तिशाली बनाया जाता है। इसके बाद प्रजापति, अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, पूषा, द्यावापृथ्वी और अदिति जैसे देवों और देवियों के समक्ष अभिषिक्त रूप में राजा को आवेदित किया जाता है, जिससे वे उसे इस रूप में अपनी अनुमति प्रदान करें।

इसके उपरान्त एक अनुष्ठान होता है, जिसके अन्तर्गत लम्बे केश वाले हिंजड़े के मुख में एक लौह शलाका डाली जाती है। इस अनुष्ठान के द्वारा राजा की सम्भावित अकाल मृत्यु से सुरक्षा की जाती है। इस अनुष्ठान के बाद उसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और ऊर्ध्व सभी दिशाओं की ओर उन्मुख किया जाता है। क्योंकि देश काल को भी अपने भीतर समाहित किये होता है, अतः देश पर आरोहण करके वह काल पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। देश और काल के ऊपर इस विजय से वह सर्व विजयी हो जाता है। सब कुछ उसके वशीभूत हो जाता है।

दिग्दर्शन के उपरान्त सीसनिरसन और रुक्मनिधान नामक अनुष्ठान सम्पन्न किये जाते हैं। सीसनिरसन के अन्तर्गत शार्दूलचर्म के ऊपर एक शीशे का टुकड़ा रख दिया जाता है, जिसे अभिषिक्त राजा अपने पैर से मार कर दूर कर देता है। यह अनुष्ठान इन्द्र के द्वारा नमुचि के अपसारण का पुनरावर्तन व्यापार है। सीसनिरसन के बाद राजा के शार्दूलचर्म पर चलाया जाता है। इस अनुष्ठान के द्वारा शादूर्लचर्म में निहित सोम की दीप्ति अभिषिक्त राजा को प्राप्त होती है।

इसके बाद उसके पैर के नीचे एक सोने का टुकड़ा डाल दिया जाता है। सोना अमृतत्व का प्रतीक होता है। अतः इस अनुष्ठान के द्वारा मानों राजा मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसी के साथ एक सोने का टुकड़ा उसके सिर पर रखा जाता है। इस टुकड़े में सौ या नौ छिद्र बने होते हैं। सौ छिद्र राजा को शतायु बनाते हैं और नौ छिद्र पुरुष के शरीर के नौ छिद्रों को प्रतीकायित करते हैं। इस टुकड़े के सिर पर रखने से अभिषिक्त राजा नीचे और ऊपर दोनों ओर से मृत्यु से सुरक्षित हो जाता है।

इसके उपरान्त आहवनीय अग्नि के उत्तर की ओर राजा के किसी सम्बन्धी की एक सौ या इससे भी अधिक गायें लाकर खड़ी कर दी जाती हैं। अपने अभिषेक के समय शक्ति से रिक्त हो जाने वाले वरुण देव ने पशुओं में अपनी खोई शक्ति प्राप्त की थी। क्योंकि राजसूय एक प्रकार से वरुण के ही राज्याभिषेक का भौतिक रूप है। अतः अभिषिक्त राजा के सामने ये गायें लायी जाती हैं, जिससे वह अपनी खोयी हुई शक्ति को स्वतः प्राप्त कर ले।

इस अनुष्ठान के बाद राजा के पास एक रथ लाया जाता है। रथ को अग्निशाला के भीतर आवर्तित किया जाता है। इसमें चार घोड़े जोते जाते हैं। रथ को दक्षिणावर्त घुमाया जाता है। इसके बाद उसे चत्वाल पर ले जाया जाता है। यहाँ राजा उस पर आरोहण करता है। रथ पर आरूढ़ होकर धनुष की नोक से वह एक गाय का स्पर्श करता है तथा इस व्यापार के द्वारा अपने को गोशक्ति से सम्वलित करता है। इसके बाद वह रथ को आगे हाँकता है। दक्षिणावर्त यूप के आगे से तथा वेदि के दक्षिण से होता हुआ सदस् के पीछे से चलकर शाला के आगे निकल आता है। रथ को रोककर उसके विमोचन के लिए यहाँ वह अग्नि में चार आहुतियाँ प्रदान करता है। ये आहुतियाँ अग्नि, सोम, मरुद्गण और इन्द्र को अर्पित की जाती है।

इसके उपरान्त राजा वराह-चर्म का उपानह् पहनता है। इस अनुष्ठान के द्वारा वह अपने राज्य में पशु की समृद्धि करता हुआ माना जाता है।

इसके बाद पृथ्वी की ओर देखता हुआ राजा निम्नांकित मन्त्र का जप करता है—

पृथिवि मातर्मा मा हिंसीर्मो अहन्त्वाम्

जिसका तात्पर्य है कि हे पृथ्वी माता! तुम मेरा वध मत करना तथा मैं

तेरा वध न करूँ। इस जप की आवश्यकता यों पड़ती है कि जब वरुणदेव का राज्याभिषेक हुआ था तो पृथ्वी उसके अभिवर्धित महत्त्व से आतंकित हो गई थी। उसे डर लगने लगा था कि कहीं वह उसे विदीर्ण न कर डाले। अत: वरुण की ही भाँति अभिषिक्त राजा से पृथिवी को डर लगने लगता है। इसी निमित्त राजा के लिए आवश्यक होता है कि वह इस अवसर पर पृथ्वी से मित्रता का संकल्प करे, जिससे कि पृथ्वी भी उसके अनुकूल हो सके। पृथ्वी और अभिषिक्त राजा माता और पुत्र जैसे होते हैं। पुत्र माता का वध न करे तथा माता पुत्र का वध न करे, इस बात के लिए राजा इस अवसर पर यह संकल्प करता है।

इसके बाद हंसपदी जैसे कतिपय मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है, जिसके माध्यम से राजा को सर्वोपरि रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है और उसकी सार्वजनीनता की अवधारणा को उजागर किया जाता है। तदुपरान्त आसन्दी लायी जाती है। यह खदिर की बनी होती है। इसे मैत्रावरुण धिष्ण्या के समक्ष रखा जाता है। पुन: इसके ऊपर एक चादर बिछायी जाती है। इस पर अभिषिक्त राजा को बैठाया जाता है। व्रतधारी के रूप में राजसूय यज्ञ के पीछे आद्यबिम्बात्मक आदर्श वरुण के राज्याभिषेक का होता है। उनके अपने राज्याभिषेक के अवसर पर वरुण देव को भी आसन्दी पर बैठाया गया था और इसी रूप में कल्पित किया गया था कि वे सम्पूर्ण संसार की बागडोर अपने हाथ में सम्भालेंगे। इसके निमित्त उन्हें आत्मसंयमी भी होना होता था। जो अपने आप पर संयम नहीं रख सकता वह दूसरों को संयमित कैसे कर सकता है? राजा से भी वरुणवत् संयमी होने की अपेक्षा की जाती हैं। इस प्रसंग में उसकी तुलना श्रोत्रिय ब्राह्मण से की गई है। जिस प्रकार देवलोक में वरुण सबसे अधिक संयमी तथा संयम के अधिष्ठाता हैं, उसी प्रकार पृथ्वी पर दो व्यक्ति सबसे बड़े संयमी हैं। उनमें से एक है राजा और दूसरा है वह श्रोत्रिय, व्यक्ति जिसने वेदों के मर्म को समझा है और पूरी तरह जीवन में उतारा है। ऐसा व्यक्ति वही बोलता है और वही कार्य करता है जो साधु होता है। राजा से भी इसी बात की अपेक्षा की जाती है। ब्राह्मण का कथन है—

> 'निषसाद धृतव्रत' इति धृतव्रतो वै राजा न वा एष सर्वस्मा इव वदनाय न सर्वस्मा इव कर्मणे। यदेव साधु वदेद्यत्साधु कुर्यात्तस्मै वा एष च श्रोत्रियश्चैतौ ह वै द्वौ मनुष्येषु धृतव्रतौ।
>
> शत.ब्रा. 5/4/4/5

इसके बाद राजा के हाथ में पाँच अक्ष के पांसे रख दिये जाते हैं। ये पाँचों पांसे पाँचों दिशाओं के प्रतीक होते हैं। इस प्रतीकात्मक अनुष्ठान के द्वारा समझा जाता है कि अभिषिक्त राजा ने पञ्चदिगात्मक समूची वसुन्धरा को हस्तामलकवत् वशीभूत कर लिया है।

इसके उपरान्त अध्वर्यु आदि ऋत्विज् राजा की पीठ पर डण्डों से चुपचाप प्रहार करते हैं। यह दण्ड-प्रहार भी नितान्त प्रतीकात्मक होता है। यह इस बात को प्रतीकायित करता है कि राजा को जो कुछ दण्डित करना अवशिष्ट था, वह उसने निरवशेष झेल लिया तथा अब से भविष्य में उसे किसी भी प्रकार दण्डित होने का आधार नहीं बनेगा। वस्तुत: राज्य संचालन करने के निमित्त राजा को कठोर से कठोर निर्णय लेने पड़ते हैं तथा तदनुरूप कार्य करने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में यदि दण्ड के सामान्य नियम उस पर चरितार्थ होने लगे तो वह एक दिन भी नहीं चल सकता। क्योंकि उसके निर्णय जनहित में होते हैं, अत: वे दण्ड्य नहीं होते।

इसके बाद राजा वरदान माँगता है। जो कुछ भी वह माँगता है, उसे वह दिया जाता है। यह उसके संकल्प की चरितार्थता को प्रतीकायित करता है। इस क्रम में ऋत्विज् उसे इन शब्दों से आशीर्वाद देता है—

त्वं........सवितासि सत्यप्रसवः
त्वं........वरुणोऽसि सत्यौजा
त्वं........इन्द्रोऽसि विशौजा
त्वं........रुद्रोऽसि सुशेव

इस प्रकार के शब्दों के द्वारा मानों वह राजा के भीतर इन-इन देवताओं की शक्तियों का आधान करता है। पुनश्च इन शक्तियों को भी अन्ततोगत्वा परिमित मानकर राजा को अन्त में ब्रह्म कहते हुए उसके भीतर अपरिमित शक्ति का निक्षेप किया जाता है।

इसके अनन्तर ऋत्विज् राजा के हाथ में लकड़ी की एक तलवार देता है, जिसे स्फ्य कहा गया है। स्फ्य इन्द्र के वज्र को प्रतीकायित करता है। स्फ्य को देकर ब्राह्मण राजा को अपने से अबलीयान् सिद्ध करता है तथा राजा को अपने शत्रुओं से बलीयान्। स्वयं राजा स्फ्य को राजभ्राता को प्रदान करता है। इस व्यापार के द्वारा राजा अपने भाई को अपने से अबलीयान् सिद्ध करता है। राजभ्राता

उस स्फ्य को सूत अथवा स्थपति को देता है। सूत अथवा स्थपति उसे ग्रामणी को देता है। ग्रामणी उसे सजात और प्रतिप्रस्थाता को प्रदान करता है। स्फ्य का यह आनुक्रमिक आदान-प्रदान राज्य की नानास्तरीय शक्तियों की उच्चावचता निर्णीत करने के साथ-साथ सबको एक सूत्र में बद्ध करता है।

सजात और प्रतिप्रस्थाता उस स्फ्य से अधिदेवन का खनन करते हैं। इसके उपरान्त वहाँ अक्षों के द्वारा खेल होता है। अक्ष इस सन्दर्भ में अग्नि के अङ्गार बताये गये हैं। इस प्रकार इस खेल को अग्नि की ही उपासना का एक रूप माना गया है। इस अनुष्ठान के बाद ऋत्विजों को गाय की दक्षिणा प्रदान की जाती है।

इसके बाद संसृपा हवि का विधान किया गया है। इस विधान के पीछे भी वरुण का आद्यबिम्ब आधार का कार्य करता है। ब्राह्मण के अनुसार जब वरुण का अभिषेक किया गया तो उनका भर्ग अर्थात् तेज उनसे दूर चला गया। अपने खोये हुए तेज को प्राप्त करने के लिए वे क्रम से निम्नलिखित दस देवताओं के पास गये—सविता, सरस्वती, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, अग्नि, सोम तथा विष्णु। अन्त में उन्होंने उसे विष्णु के सहयोग से प्राप्त किया। इसी दैवी अनुष्ठान का प्रतिरूप बनाते हुए राजा इन दसों देवताओं की उपासना करता है। वह सविता के लिए बारह अथवा आठ कपालों में पुरोडाश तैयार कराता है तथा साथ ही एक कमल पुष्प प्रदान करता है। इसके बाद वह सरस्वती के लिए चरु और एक कमल का पुष्प चढ़ाता है। तदुपरान्त त्वष्टा के लिए वह दस कपालों में पुरोडाश और एक कमल का फूल भेंट करता है। इसके बाद वह पूषा के लिए चरु तैयार कराता है, और एक कमल-पुष्प उपहृत करता है। इसके बाद इन्द्र के लिए ग्यारह कपालों में पुरोडाश और एक कमल का फूल दिया जाता है। इसके अनन्तर बृहस्पति के लिए चरु और एक कमल का फूल चढ़ाया जाता है। इसके उपरान्त वरुण के लिए यव का चरु और एक कमल का फूल दिया जाता है। इन दसों के अतिरिक्त उपसद् देवताओं के लिए दो फूल अतिरिक्त प्रदान कर दिये जाते है। इन बारहों फूलों से एक माला तैयार की जाती है। माला के बारहों कमल वर्ष के बारहों महीनों को प्रतीकायित करते हैं। अपनी दीप्ति के कारण वे द्युलोक को भी उपस्थापित करते है, उनका रज नक्षत्रों का प्रतीक है तथा उनका डण्ठल पृथ्वी का। इस प्रकार इस अनुष्ठान के द्वारा राजा को समूचे काल के लिए लोकत्रयी में प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। बारहों महीने संवत्सर को प्रतीकायित करते हैं, संवत्सर प्रजापति का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि प्रजापति समूचे यज्ञ

को उपस्थापित करता है। इस तरह बारह पुण्डरीकों की माला यज्ञ की पूर्णता को द्योतित करती है।

इस सन्दर्भ में यह पुष्पोहार विशेष रूप से अवधेय है। इस प्रकार के सन्दर्भों से अनभिज्ञ कतिपय इतिहासज्ञों की स्थापना है कि जहाँ अग्नि में आहुति आर्य संस्कृति की विशेषता है, वहाँ देवता के लिए पुष्पोहार अनार्य संस्कृति का तत्त्व है। प्रस्तुत सन्दर्भ इस आनुमानिक स्थापना की निराधारता सिद्ध करता है। आर्य संस्कृति में आरम्भ से ही देवताओं को पुष्पोहार दिया जाता रहा है। तभी तो अश्विनीकुमार 'पुष्पस्रजौ' हो सकते थे, जैसा कि संहिताओं में उनका वर्णन मिलता है।

संसृपाहवि के अनुष्ठान के बाद अभिषिक्त राजा दशपेय नामक सोमयाग का अधिकारी बन जाता है। संसृपाहवि के अनुष्ठान क्रम में दसवें दिन जो सवन किया जाता है, उसे दशपेय कहते हैं। इसके अन्तर्गत दस-दस लोग एक-एक प्याले सोम के पीछे लग जाते हैं। इसीलिए इसे दशपेय की संज्ञा प्रदान की गई है।

इनके उपरान्त पञ्चबिल नामक अनुष्ठान होता है। इसे पञ्चबिल इसलिए कहते हैं, क्योंकि जिस पात्र में इसके निमित कपालों में पुरोडाशादि वेदी तक ले जाया जाता है, उसमें पाँच बिल होते हैं। इस अनुष्ठान के अन्तर्गत अग्नि के लिए आठ कपालों में पुरोडाश वेदी पूर्वार्ध में रखा जाता है, इन्द्र के लिए ग्यारह कपालों में पुरोडाश अथवा सोम के लिए चरु दक्षिणार्ध में रखा जाता है, वैश्वदेव चरु पश्चार्ध में रखा जाता है, मित्र और वरुण के लिए खीर उत्तरार्ध में रखी जाती है, बृहस्पति के लिए चरु मध्य में रखा जाता है। इस अनुष्ठान को करके अभिषिक्त राजा दिक्, ऋतु, स्तोम और छन्द पर जो राजसूय यज्ञ के अनुष्ठान के क्रम में आरोहण किये होता है, उससे प्रमादवश च्युत नहीं होता। इस प्रकार यह अनुष्ठान उसे उसकी उच्चतर भूमिका पर अच्युत रूप से बने रहने में सहायक होता है। इस अनुष्ठान के बाद वह अग्नीध्र को सोने की दक्षिणा देता है, ब्राह्मण को ऋषभ अथवा भूरी गाय दक्षिणास्वरूप देता है, होता को चितकबरी गाय प्रदान करता है, अध्वर्युओं को वशा की दक्षिणा देता है, तथा ब्रह्मा को श्वेत पीठ वाला बैल प्रदान करता है।

पञ्चबिल के उपरान्त प्रयुग्घवि नामक अनुष्ठान किया जाता है। राजसूय करने वाला राजा जहाँ एक ओर देश का अधिकारी बनता है वहीं दूसरी ओर काल का भी। कालरूपी रथ ही उसके दैशिक आधिपत्य का वाहक बनता है।

स्वयं काल की भी वाहिकाएँ हैं ऋतुयें। ये ऋतुयें राजा को समीचीन ढंग से शासन-क्रम में वहन करती रहें, इस निमित्त प्रयुग्घवि नामक यह अनुष्ठान किया जाता है। इसके अन्तर्गत अग्नि के लिए आठ कपालों में पुरोडाश, सोम के लिए चरु, सविता के लिए बारह अथवा आठ कपालों में पुरोडाश, बृहस्पति के लिए चरु, त्वष्टा के लिए दस कपालों में पुरोडाश तथा वैश्वानर के लिए बारह कपालों में पुरोडाश प्रदान किया जाता है।

इसके बाद केशवपनीय संस्कार होता है। यह अभिषेचनीय अनुष्ठान से लगभग एक वर्ष बाद आता है। अभिषेचनीय अनुष्ठान के उपरान्त अभिषिक्त राजा अपने बाल नहीं कटवाता। हाँ, वह दाड़ी कटवा सकता है। बाल न कटवाने के कारण यह मान्यता है कि उसके बालों में अभिषेचन से जो श्री आयी है, वह बालों के साथ चली जायगी। एक वर्ष के अनुष्ठान के उपरान्त जब व्रत का विसर्जन किया जाने लगता है, उस समय बालों का कर्त्तन विहित होता है। परन्तु इस अवसर पर भी केवल कर्त्तन विहित है, मुण्डन नहीं। मुण्डन से राज्यश्री के समूल चले जाने का संशय होता है। राज्यश्री को आत्मसात् किये रखने के लिए राजा के लिए यहाँ एक निर्देश किया गया है कि वह नंगे पाँव भूमि पर कदापि न चले। आसन्दी से उतरने पर उसे उपानह् पहनना चाहिए तथा वाहन पर बैठने के बाद ही उसे उपानह् से पैरों को पृथक् करना चाहिए।

राजसूय यज्ञ के अन्तर्गत अन्तिम अनुष्ठान सौत्रामणी है। 'सौत्रामणी' शब्द सुत्रामन् से बना है, जिसका तात्पर्य सुरक्षित इन्द्र से है। इसमें अश्विनों और सरस्वती के साथ विशेष रूप से इन्द्र की उपासना की जाती है। इसके पीछे आख्यान यह है कि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप का, जो त्रिशीर्षा, षडक्ष और त्रिमुख था, इन्द्र ने वध कर दिया। इससे क्रुद्ध होकर त्वष्टा ने इन्द्र के लिए सोम के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया। इन्द्र ने ज़बरदस्ती सोमपान कर लिया। त्वष्टा ने उस पर प्रहार किया। फलस्वरूप सोम इन्द्र की मुखेतर सभी इन्द्रियों से बहने लगा। वे सोम से नितान्त रिक्त हो गये। ऐसी स्थिति में अश्विनों ने उनका उपचार किया। यही स्थिति राजसूययाजी की होती है। दो वर्षों से अधिक काल तक यज्ञ करते-करते वह क्षीण हो जाता है। अत: उसे सौत्रामणी इष्टि करने की आवश्यकता पड़ती है। इसमें अश्विनों की उपासना इसलिए की जाती है, क्योंकि उन्होंने इन्द्र का उपचार किया था तथा अब वे राजा का भी उपचार करते हैं। सरस्वती की उपासना का कारण उसका वाक्स्वरूप होता है। वाणी के द्वारा ही अश्विनों ने इन्द्र का उपचार किया था। अत: सरस्वती की उपासना आवश्यक हो जाती है। इन्द्र की

उपासना तो इसलिए आवश्यक होती है, क्योंकि वह राजसूय यज्ञ का प्रमुख देवता है।

इस इष्टि में अन्य आहुतियों के साथ एक घड़ा लिया जाता है, जिसमें एक सौ अथवा नौ छिद्र होते हैं। इसे आहवनीय अग्नि के ऊपर टिकाया जाता है और उसमें अवशिष्ट सुरा का सेचन किया जाता है। इस सेचन के द्वारा आशा की जाती है कि जो सोम इन्द्र के शरीर से निकल कर पितरों के पास गया होगा, वह इस अनुष्ठान के नाते पुनः इन्द्र को प्राप्त हो जायगा।

इसके उपरान्त सविता के लिए बारह अथवा आठ कपालों में पुरोडाश, वरुण के लिए यव का बना चरु तथा इन्द्र के लिए ग्यारह कपालों में पुरोडाश प्रदान किया जाता है।

अन्त में त्रैधातवी इष्टि सम्पन्न की जाती है। इसका प्रयोजन अभिषिक्त राजा के भीतर तीनों वेदों की प्रतिष्ठा है। इसका आधारस्वरूप आख्यान यह है कि आरम्भ में ऋचाएँ, यजुष् और सामवृत्र के भीतर विद्यमान थीं। इन्द्र ने विष्णु से कहा कि मैं वृत्र पर प्रहार करूँगा, आप मेरे पास खड़े रहें। जब उन्होंने प्रथम बार प्रहार करना चाहा तो वृत्र ने कहा कि यदि आप मेरे ऊपर प्रहार न करें तो मैं आपको यजुष् दे दूँगा। इस प्रकार प्रहार से भयभीत करके इन्द्र ने वृत्र से तीनों वेद प्राप्त कर लिए। इस इष्टि का अनुष्ठान करके अभिषिक्त राजा भी तीनों वेदों के मर्म को आत्मसात् कर लेता है।

इस क्रम में यजमान व्रीहि और यव का पुरोडाश प्रदान करता है। व्रीहि यजुष् और साम को उपस्थापित करता है, जबकि यव ऋक् को। इनका पुरोडाश प्रदान करके राजा इन तीनों प्रकार के मन्त्रों को प्राप्त कर लेता है। यही राजसूय यज्ञ की उदवसानीया इष्टि होती है। इसके उपरान्त यदि अन्य कोई कार्य अवशिष्ट रह जाता है तो वह दक्षिणा का है। इस क्रम में ब्रह्मा को तीन शतमान स्वर्ण दिया जाता है, होता को तीन गायें दी जाती हैं, अध्वर्यु को तीन वस्त्र दिये जाते हैं, तथा अग्नीध्र को एक बैल प्रदान किया जाता है। दुधारु गायों के तीन बछड़ों सहित सब तेरह पदार्थ दक्षिणा में दिये जाते हैं। वर्ष में सब मिलाकर बारह तथा कभी-कभी तेरह महीने होते हैं। वर्ष सम्पूर्ण काल के नाते पूर्णता का द्योतक होता है। बारह अथवा तेरह पदार्थों की दक्षिणा इस यज्ञ की निरवशेष पूर्णता को सूचित करती है।



18

राजसूय यागः

डॉ. रमेशचन्द्र दाशशर्मा

वरिष्ठव्याख्याता, वेद श्रीला. शा. रा. सं.

विद्यापीठ, कटवारियासराय, नईदिल्ली-16

श्रौतयज्ञों की शृङ्खला में राजसूययाग का एक विशिष्ट स्थान है। 'राज्ञा सोतव्यः राजा वा इह सूयते'[1] इस व्युत्पत्ति के अनुसार राजा के द्वारा अभिषव के योग्य अथवा राजा सोम निचोड़ा जाता है इसमें, इसलिए इस याग को राजसूय नाम से कहा जाता है। यह काम्य याग है। क्षत्रिय राजा जिसने वाजपेय याग न किया हो, वही इस का अधिकारी है।[2] शाखान्तर में स्वर्गकाम के लिए राजा राजसूय याग करे, ऐसा विधान मिलता है।[3] एक आख्यायिका के आधार पर इस याग को राजा हरिश्चन्द्र ने वरुण से प्राप्त किया। हरिश्चन्द्र के राजसूय याग में विश्वामित्र होता, आङ्गिरस उद्गाता और जमदग्नि अध्वर्यु थे।[4] युधिष्ठिर के राजसूय याग का विवरण महाभारत में मिलता है।[5] पुराणों तथा शिलालेखों में भी इस यज्ञ को राजाओं के द्वारा अनुष्ठित किये जाने का प्रमाण मिलता है। शाखा भेद से इस याग की पद्धति में भी थोड़ा भेद देखने को मिलता है। यहाँ 'राजसूययाग' कात्यायन श्रौतसूत्र के आधार पर वर्णित है।

श्रौतयागों का मुख्यतः तीन भागों में वर्गीकरण किया गया है, इष्टि, पशु तथा सोम।[6] "पाङ्क्तो वै यज्ञः" इस श्रुति के अनुसार यज्ञ अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास, पशु, सोम के रूप में पञ्चधा विभक्त है। इस से आगे सब मिलाकर "एकविंशतिविधः सर्वो हि यज्ञः" कहा गया है।[7] इस पक्ष में—औपासनहोम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिकश्राद्ध सर्पबलि, ईशानबलि भेद से सात पाकसंस्था हैं।

अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रायण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञ ये सात हविर्यज्ञसंस्था हैं।[8]

अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, वाजपेय, आप्तोर्याम, ये सात सोम संस्था हैं।

दूसरे प्रकार से भी समस्त यज्ञों को पाँच प्रकार से बाँटा गया है—शिरोयज्ञ।[9] अतियज्ञ, महायज्ञ, हविर्यज्ञ और पाक यज्ञ।

इस विभाजन क्रमानुसार अतियज्ञप्रकरण के अन्तर्गत यह राजसूय यज्ञ आता है। इष्टि, हवन, पशुयाग और सोमयोगात्मक ही राजसूययाग होता है। इस याग को साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न करने के लिए तैंतीस मास का समय अपेक्षित है।

राजसूययाग का शुभारम्भ (प्रायणीय) पवित्र नामक सोमयाग से होता है।[10] जो अग्निष्टोमसंस्थाक होता है। इस में चार दीक्षा, तीन उपसत् एवं एक सुत्यादिवस होता है। फाल्गुन शुक्ल प्रतिपत् को प्रथम दीक्षा आरम्भ कर के फाल्गुन शुक्ल अष्टमी को पवित्र अग्निष्टोम की समाप्ति होती है। इसकी दक्षिणा एक हजार गायें हैं। राजसूय में यजमान क्षत्रिय होता है, परन्तु सोमयाग के अधिकारी केवल ब्राह्मण ही होते हैं। अत: सोमक्रय के समय वटवृक्ष के फलसहित अङ्कुर अथवा जटाओं के अग्रभाग का क्रय करके उनका रस निकाल कर उसमें दही मिला कर चमसोन्नयन के समय रस को चमस में भरकर फलचमस का हवन करता है और यजमान हुतशेष का भक्षण करता है। अन्य ऋत्विक् सोमपान करते हैं। अवभृथ के पश्चात् तीन अनुबन्ध्याओं का अनुष्ठान किया जाता है। पवित्र के अन्त में पूर्णाहुति यजमान के घर में फाल्गुन शुक्ला नवमी को होती है।[11]

(I) फाल्गुन शुक्ला दशमी को अनुमति इष्टि का अनुष्ठान होता है। इसकी देवता अनुमति तथा द्रव्य अष्टकपालपुरोडाश है।[12] इस इष्टि में विशेष कर्तव्य यह है कि—तण्डुलपेषण के समय हवि का जो भाग शम्या के पश्चिम में कृष्णाजिन पर गिरता है, उसे खादिर के स्रुवा में रखते हैं। दक्षिणाग्नि से अग्नि लेकर ब्रह्मा-यजमान-अध्वर्यु[13] दक्षिणदिशा में जाकर पृथ्वी के प्राकृतिकगर्त में अथवा ऊसर भूमि पर अग्निस्थापना कर स्रुवा में पूर्व से घृत हवि को[14] निऋति देवता के निमित्त अध्वर्यु आहुति देता है। बिना पीछे देखे तीनों व्यक्ति देवयजन स्थान पर लौट आते हैं। इष्टि के बाकी अनुष्ठान पूर्ण करते हैं। इस इष्टि की दक्षिणा वस्त्र है।[15]

(II) दो एकादशियों (एकादशी तिथियों को) को अग्निविष्णु देवताओं के लिए एकादश कपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है। इस इष्टि की दक्षिणा सोना है।[16]

(III) द्वादशी तिथि को अग्निषोमपुरोडाश की आहुति दी जाती है। इस इष्टि की दक्षिणा भारवहन करने में असमर्थ होने के कारण परित्यक्त बैल है।[17]

(IV) द्वादशकपालपुरोडाश की आहुति त्रयोदशी तिथि के दिन इन्द्राग्नी देवता के लिए दी जाती है। इसकी दक्षिणा सांड हैं।[18]

(V) चतुर्दशी तिथि को आग्रयणेष्टि की जाती है। इसमें इन्द्राग्नी का द्वादशकपालपुरोडाश, विश्वदेव का चरु और द्यावापृथ्वी का एक कपालपुरोडाश होते हैं। एक कपाल पर अधिश्रित पूरे पुरोडाश की आहुति द्यावा पृथ्वी देवता के लिए सर्वत्र विहित है। प्रथमोत्पन्न गोवत्स इस इष्टि की दक्षिणा है।

राजसूयान्तर्गत चातुर्मास्य याग

फाल्गुन पूर्णिमा को चातुर्मास्य याग का वैश्वदेवनामक[19] प्रथम पर्व अनुष्ठित होता है। प्रतिपत् से अमावास्या पर्यन्त पूरे कृष्ण पक्ष में पौर्णमासेष्टि करनी चाहिए। शुक्ल पक्ष भर प्रतिदिन दर्शेष्टि करनी चाहिए। राजसूयिक-चातुर्मास्य याग नित्यचातुर्मास्य याग से भिन्न है, यद्यपि अनुष्ठान विधि समान ही है। अत: नित्यचातुर्मास्य करने वाला यजमान पहले राजसूयिक चातुर्मास्य करता है, फिर नित्यचातुर्मास्य भी करता है। एक वर्ष तक चातुर्मास्य का अनुष्ठान किया जाता है। आषाढ़पूर्णिमा को द्वितीय वरुणप्रघास[20] कार्तिक पूर्णिमा को तृतीय साकमेधपर्व, फाल्गुन पूर्णिमा को चतुर्थ सुनासीरीयपर्व का अनुष्ठान करे।

ऊपर कहे गये वर्ष भर चलने वाले चातुर्मास्यों के शेष दिनों में दर्श पूर्णमास इष्टियाँ चलती रहती हैं, जिनका स्वरूप नित्य दर्शपूर्णमास के समान है। इन का क्रम इस प्रकार है—फाल्गुन पूर्णिमा को वैश्वदेवपर्व का अनुष्ठान करके अगले दिन प्रतिपत् से अमावास्या तक कृष्णपक्ष में पूर्णमासेष्टि की जाती है, और शुक्ल पक्ष में दर्शेष्टि की जाती है। पिण्डपितृ यज्ञ नहीं होता है। प्रतिपत् के पहले राजसूयिक पश्चात् नित्य दर्शपूर्णमासेष्टि की जाती है। अगले वर्ष में फाल्गुन शुक्ल प्रतिपत् को पवित्र दीक्षा के स्थान में राजसूयिक सुनासीरीय पर्व का अनुष्ठान होता है।

पञ्चवातीय होम

आहवनीय अग्नि को आहवनीय कुण्ड में ही पूर्व, पश्चिम, उत्तर-दक्षिण एवं मध्य भागों में विभक्त करके स्रुव से ''अग्निनेत्रेभ्य:[20]'' मन्त्रों से पृथक्-पृथक् पाञ्चघृत आहुति दी जाती हैं। फिर पाँच यागों को एकत्र कर के ''ये देवा''[21] मन्त्रों से पाँच आहुति दी जाती है। इसकी दक्षिणा तीन घोडों से युक्त रक्ष है।

इन्द्रतुरीय कर्म

पंचवातीय के बाद इन्द्रतुरीय कर्म किया जाता है। इस कर्म में इन्द्र को अष्ट कपालपुरोडाश, वरुण को यवमय चरु, रुद्र को गवेधुक् चरु और इन्द्र को गाडी में जुडने वाली गौ के दही की आहुति दी जाती है।[22] याग में प्रयुक्त गौ को दक्षिणा में दे दें।

अपामार्ग होम[23]

उसके बाद दूसरे दिन अपामार्ग होम किया जाता है। अध्वर्यु-यजमान-ब्रह्मा ढाक की लकडी के स्रुव में अपमार्ग के दोनों को लेकर,[24] दक्षिणाग्नि में से अग्नि लेकर उत्तर की ओर जाय, अग्निस्थापना कर अपामार्ग दोनों की आहुति देकर राक्षसों के वध की कामना से जिस दिशा की ओर आहुति दी गयी हो, उसी दिशा की ओर स्रुवा को फेंक कर[25], पीछे न देखता हुआ लौट आए।

त्रिषंयुक्तेष्टि

यह इष्टि फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा के दिन की जाती है। इस इष्टि में अग्नाविष्णु का ग्यारह कपाल का पुरोडाश, इन्द्राविष्णु का चरु, विष्णु का तीन कपाल का पुरोडाश प्रयुक्त किया जाता है। इस याग की दक्षिणा विष्णुदैवत है। विष्णु के वामन रूप होने से दक्षिणा रूप में ह्स्वाङ्ग वाली गौ को देने का विधान है। दूसरे दिन दूसरी त्रिषंयुक्ता इष्टि करे। इसमें अग्नापौष्ण के लिए एकादश कपाल का पुरोडाश, ऐन्द्रापौष्ण के लिए चरु एवं पौष्ण के लिए चरु इस तरह तीन हवि तैयार करे। यहाँ कृष्णा गौ दक्षिणा है। तीसरे दिन तीसरी त्रिषंयुक्ता इष्टि करे। इसमें एकादश कपाल का पुरोडाश ऐन्द्राग्न चरु एवं पौष्ण चरु इस तरह तीन हवि तैयार करे। भूरे रंग वाली गौ दक्षिणा में दे।

द्विहविष्केष्टि

चौथे दिन दो हवि वाली इष्टि की जाती है। इस इष्टि में वैश्वानर का द्वादशकपालपुरोडाश और वरुण के लिए यव का चरु करे।[21] अन्वाहार्य दक्षिणा दे।

रत्नहविर्याग

रत्नहविर्याग 12 संख्या की है। प्रत्येक का अनुष्ठान सेनापति प्रभृति के घर जाकर किया जाता है। इनका प्रारम्भ फाल्गुन शुक्ल तृतीया या चतुर्थी से होकर प्रतिदिन एक याग का अनुष्ठान होता है।

क्र.सं.	यागस्थान	देवता	हवि:	दक्षिणा
1.	सेनापति का घर	अग्नीरनीकवान्	अष्टकपाल पुरोडाश	सुवर्ण ०
2.	पुरोहित का घर	बृहस्पति	चरु	श्वेतपृष्ठा गौ
3.	स्वगृह	इन्द्र	एकादशकपाल पुरोडाश	ऋषभ
4.	प्रथम परिणीता पत्नी का घर	अदिति	चरु	धेनु
5.	सूत	वरुण	चरु	अश्व
6.	ग्रामणी	मरुत्	सप्तकपाल पुरोडाश	विचित्रवर्णा गौ
7.	प्रतीहार	सविता	द्वादशकपाल पुरोडाश	श्वेतवृषभ
8.	रथयोजक	अश्विनौ	द्विकपाल पुरोडाश	युग्म गौ
9.	परिवेषक	पूषा	चरु	श्याम गौ
10.	स्वगृह	रुद्र	चरु	श्वेतबाहु गौ
11.	दूत	अध्वदेव	आज्य	धनुष
12.	अपुत्रा पत्नी	निर्ऋति	चरु	रुग्णा गौ

मैत्राबार्हस्पत्य इष्टियाँ[22]

यह इष्टि-याग फाल्गुन पूर्णिमा को होता है। इसमें श्वेत गौ के दूध में सोमारौद्र देवता के निमित्त चरु बना कर याग करे। उसी गौ को दक्षिणा रूप में दे, जिसका दूध याग के उपयोग में लिया गया हो। पूर्व की ओर बढ़ी पीपलशाखा को काटकर थाली तैयार करे। उसमें दही जमावे। दही को निकाल कर चर्मघट में रखकर उसको रथ में लटका दे। रथ को तेज चलाने से जो मक्खन तैयार हो, उस को

पीपल की थाली में डालकर उसमें मित्र देवता के लिए बड़े-बड़े तण्डुल डालकर ऊष्मा से चरु पकाया जाता है। छोटे तण्डुलों को बृहस्पति देवता के लिए पीपल की स्थाली में पानी डालकर अग्नि पर पकावे। दोनों चरुओं को एक साथ मिलाकर आहुति दी जाती है। इस इष्टि की दक्षिणा गौ है।

अभिषेचनीय सोम याग

फाल्गुन कृष्णपक्ष में कोई अनुष्ठान नहीं होता। चैत्रशुक्ल प्रतिपद् को अभिषेचनीय तथा दशपेय नामक सोमयागों का आरम्भ होता है। इनके लिए दो देवयजनों का निर्माण किया जाता है। उत्तरी यज्ञ शाला में दशपेय और दक्षिणी देवयजन में अभिषेचनीय का अनुष्ठान होता है। ये दोनों याग पाँच दिन में सम्पन्न होते हैं। एक दीक्षा, तीन उपसद् तथा एक सुत्या होती है। दोनों के लिए सोम (तथा न्यग्रोधस्तिभि) का क्रय एक साथ किया जाता है। इसमें से आधाभाग दशपेय के लिए ब्रह्मा के घर में रखा जाता है। अभिषेचनीय याग उक्थ्य संस्थाक है और इसकी दक्षिणा एक लाख गौए हैं। इसकी विशेष विधियाँ आगे लिखी जाती हैं।

देवसू हविर्याग

अग्निषोमीय पशु पुरोडाश के पश्चात् आठ देवसू हवियों का अनुष्ठान किया जाता है।[23] सविता सत्यप्रसव के लिए एक बार काटने पर पुनः उगी व्रीहि (प्लाशुक) का अष्ट कपाल पुरोडाश या द्वादश कपाल पुरोडाश, अग्निगृहपति के लिए तीन पक्षों में उगने वाली व्रीहि का अष्टकपाल पुरोडाश, सोम वनस्पति के लिए श्यामक व्रीहि का चरु, बृहस्पति के लिए नीवार का चरु, इन्द्र ज्येष्ठ के लिए एक वर्ष में पकने वाली व्रीहि का चरु, पशुपति रुद्र के लिए गवेधुक चरु, सत्यमित्र के लिए बिना जुती भूमि पर उगने वाली व्रीहि का चरु, धर्मपति वरुण के लिए जौ का चरु बना कर याग करे। याग के पश्चात् अध्वर्यु यजमान का हाथ पकड़ कर मन्त्र पाठ करे। देवसू हविओं का अनुष्ठान याग परिहरण तक किया जाता है।

अभिषेक

देवसू हविओं के पश्चात् अभिषेक के लिए सत्रह स्थानों का जल मैत्रावरुण धिष्ण्या के पास रखे बड़े उदुम्बर काष्ठपात्र में रखा जाता है। उस में दूध, मधु, घी भी मिलाया जाता है। जलों का विवरण इस प्रकार हैं—1. सरस्वती नदी का जल, 2. अनुलोम बहता जल, 3. प्रतिलोम बहता जल, 4. मार्ग बदलकर

पुनः उसी नदी में मिलने वाली धारा का जल, 5. समुद्र की लहरों का जल, 6. लकड़ी के आघात से ऊपर उठा समुद्र जल, 7. नदी के भंवर का जल, 8. स्थावर जल, 9. वर्षा जल, 10. तालाब, 11. कुएँ, 12. ओस का जल, 13. मधु, 14. गौ के उल्व का जल, 15. दूध, 16. दही, 17. घी। सुत्यादिवस को मरुत्वतीय ग्रह ग्रहण के पश्चात् अध्वर्यु अभिषेक जल के पूर्व की ओर व्याघ्र चर्म बिछाकर उसके ऊपर पश्चिम तरफ सीसा रखे। सदोमण्डप के निकट स्थित बड़ी मूँछ और दाढ़ी वाले केशवसंज्ञक पुरुष के मुँह में ताँबा छोड़ दे (शब्रा. 5.3.3.2, का.श्रौ.सू. 15.5.22) यजमान की बाहू पकड कर दिशाओं में भ्रमण करावे (श.ब्रा. 5.3.3.2) पार्थहोम की छैः आहुतियाँ देकर यजमान को रेशमी वस्त्र पहना कर, धनुषबाण देकर यजमान के हाथ को पकड़कर सीसे पर पैर रखवाकर तथा सीसे को पैर से पीछे फिंक्वा[24] कर व्याघ्र चर्म पर चढ़ाकर उसके पैरों के नीचे तथा सिर पर सोना रखता है। पुरोहित या अध्वर्यु चारों दिशाओं में यजमान का अभिषेक सदोमण्डप में करता है। पार्थहोम की शेष छैः आहुतियाँ देता हैं। अध्वर्यु के प्रैष करने पर होता शुनःशेप शस्त्र पढ़े[25] एवं अध्वर्यु और होता को एक-एक सौ गौ दक्षिणा में दे। अभिषेक का अवशिष्टजल प्रिय पुत्र को दे। पालाशपात्र से अभिषेकोदक का आग्नीध्रीया में हवन करे।

रथारोहण

शान्ति पौष्टिक कृत्य के लिए अग्नि रखकर यजमान एक शकट लावे, देवयजन के पूर्व की ओर उसको खड़ा करे। उस शकट पर एक रथ रखे। अध्वर्यु रथ को नीचे उतारे। रथ में अश्व जोते। यजमान और सारथी रथ पर बैंठे। यजमान रथ को भाई के गौ समूह के बीच ले जाए। धनुष्कोटी से एक गौ का स्पर्श करे। उस यूथ में जितने गौ हो, उनसे अधिक गौ गौस्वामी को दे। रथ को वापस लावे। यजमान वराहचर्म का जूता पहने। रथ से उतरे। रथ चक्र में सोना बाँधे। रथमार्ग पर औदुम्बरी गाडकर व्याघ्रचर्म के निकट पयस्या रखे। अध्वर्यु पयस्या आहुति देकर स्विष्ट याग से पूर्व तक के कृत्य करे।

यजमान द्वारा वर याचना

जो मैत्रावरुणधिष्ण्या से पूर्व की ओर रखी हुई है, उस खादिर काष्ठ की आसन्दी[26] पर वस्त्र बिछाकर यजमान को बैठावे,[27] यजमान हाथ में धारण किए

हुए सुवर्ण के पाँच अक्ष दे, अध्वर्यु यज्ञकाष्ठ से यजमान पीठ पर स्पर्श करे। यजमान अध्वर्यु से राज्य एवं यश माँगे।

द्यूतक्रीडा

यजमान बहुकार, श्रेयस्कर और भूयस्कर प्रभृति पुरुषों को बुलावे। अध्वर्यु यजमान को वर दे, यजमान अपने भाई को, भाई सूत या स्थपति को, स्थपति ग्रामनेता को, ग्राम नेता सजाता को, सजाता प्रतिप्रस्थाता को वज्र दे। प्रतिप्रस्थाता वज्र से द्यूत भूमि तैयार करे। मध्य में सोना रखकर अध्वर्यु आहुति दे। चार युगों के नाम पर चार द्यूत कहे जाते हैं। राजा कृत (सत्य) राजभ्रातृ त्रेता, सूत द्वापर और ग्रामणी कलि संज्ञक द्यूत खेलते हैं। राजसूय याग में कृत या कलि संज्ञक द्यूत की क्रीडा होती है। बाजी में लगाई गौ को स्पर्श करना होता है। उसके बाद स्विष्टकृत प्रभृति यागविधि करे। अध्वर्यु पृष्ठोपाकरण तक याग विधि करके यजमान को आसन्दी पर से उठाकर सदोमण्डप जाने को कहे। यह याग अग्निष्टोम संस्थ किया जाता है। अन्त में अवभृथ याग करे।

अनुवन्ध्या–त्रैधातवी इष्टि

तीन अनुवन्ध्याओं की इष्टि के बाद उदवसानीय के स्थान में त्रैधातवी इष्टि की जाती है। इस इष्टि के देवता इन्द्र एवं विष्णु और द्रव्य द्वादश कपाल पुरोडाश होते हैं। पुरोडाश व्रीहि–यव से तैयार किया जाता है, जिसमें तीन भाग यव होता है। विधि निर्वाप के समय पहली मुट्ठी में व्रीहि, दूसरी मुट्ठी में एक भाग व्रीहि तथा दो भाग यव, तृतीय मुट्ठी में दो भाग यव तथा एक भाग व्रीहि, चतुर्थ मुट्ठी में केवल व्रीहि लिए जाते हैं। अधिश्रयण में भी यव मध्य में होते हैं। व्रीहि पिण्ड के दो पिण्ड बनाकर, एक को पृथु करके, यवमय पिण्ड को मध्य में रखकर, पिण्ड बनाकर, फिर व्रीहि पिण्ड के दूसरे पिण्ड को उसके ऊपर रखकर पृथु किया जाता है। अवदान तीनों धातुओं (प्रेक्षेपों) से किया जाता है। ब्रह्मा को तीन शतमान (1 शतमान = 100 रत्ती) सोना, होता को दूध देने वाली तीन गौएँ, अध्वर्यु को तीन वस्त्र और अग्नीत् को तीन गायें दक्षिणा में दी जाती हैं।

संसृपा हवियाँ

अभिषेचनीय याग के पश्चात् दस संसृपा हविओं[28] का अनुष्ठान चैत्र शुक्ला षष्ठी को अन्य मत से सात दिन में होता है। चैत्र शुक्ला षष्ठी से प्रतिदिन एक-एक

का, द्वादशी को चार का अनुष्ठान किया जाता है। इनके देवता द्रव्य इस प्रकार हैं—सविता के लिए द्वादश कपाल पुरोडाश, सरस्वती के लिए चरु, त्वष्टा के लिए दश कपाल पुरोडाश, पूषा के लिए चरु, रुद्र के लिए एकादश कपाल पुरोडाश, बृहस्पति के लिए चरु, विष्णु के लिए त्रिकपाल पुरोडाश या चरु। इनका अनुष्ठान प्रकार इस प्रकार है कि—अभिषेचनीयशाला के उत्तर की तरफ अग्निस्थापना कर प्रथम हवि की आहुति दी जाती है। उसके बाद उत्तर की तरफ हटते हुए अग्निस्थापन पूर्वक एक-एक हवि की आहुति दी जाती है। दशमी हवि दशपेयशाला के अन्दर दी जाती है। संसृपा हविओं की दक्षिणा कमल पुष्प है।

दशपेय याग

इस याग में एक ही चमस पात्र से दस व्यक्ति सोमरस का पान करते हैं; इसलिए इस याग का नाम दशपेय पडा। चैत्र शुक्ला सप्तमी को इसका प्रारम्भ होता है। कमलपुष्पों की माला यजमान के गले में पहनाई जाती है। यही दीक्षा है। सप्तमी को ब्रह्मा के घर से सोम को लाकर सोमासन्दी की स्थापना आदि प्राकृत्त कार्य किए जाते हैं। सुत्या में विशेषता यह है कि प्राकृत्त दशचमसों के साथ अन्य दस चमसों का सादन पूर्ण किया जाता है और होम के बाद एक-एक चमस का पान दस-दस ब्राह्मण करते हैं। इसलिए अविच्छिन्नसोमपा कुलों के सौ ब्राह्मण भी सदोमण्डप में उपस्थित रहते हैं। दशपेय ब्राह्मणों की दक्षिणा अलग-अलग बताई गई है। इस याग के पश्चात् यजमान एक साल तक वपन नहीं करता। भूमि पर नंगे पैर खड़ा नहीं होता।[29]

पञ्चविल इष्टि

वैशाख के शुक्ल पक्ष में[30] किसी दिन भी इस याग को किया जाता है। इस याग में पञ्च हवि होने से इसको पञ्चविल याग कहते हैं। अग्नि को अष्टकपाल पुरोडाश, इन्द्र को ग्यारह कपाल पुरोडाश, विश्वेदेवा: को चरु, मित्रावरुण को पयस्या और बृहस्पति को चेरु प्रदान करे। पाँचों हवियों को इस प्रकार स्थापन करे—पूर्व में अग्नि का पुरोडाश, दक्षिण में इन्द्र की, पश्चिम में विश्वदेवा: की, उत्तर में मित्रावरुण की और मध्य में बृहस्पति की हवि की स्थापना करे। याग देवता समृद्धि के लिए ऋत्विजों को दक्षिणा दी जाती है। अग्निदेवता समृद्धि के लिए आग्नीध्र को[31] सोना, इन्द्र के लिए ब्रह्मा को ऋषभ, वैश्वदेव के लिए होता को गौ, मैत्रावरुण के लिए अध्वर्यु एवं आग्नीध्र को पृषती गौ और बार्हस्पत्य के लिए ब्रह्मा को गौ।

द्वादशप्रयुग् हविर्याग

पञ्चविल याग के बाद प्रयुग् नामक बारह हविर्याग किये जाते हैं। इस याग का अनुष्ठान स्थान और समय भेद से तीन प्रकार का है। प्रथम पक्ष में वैशाख शुक्ला पूर्णिमा से प्रारम्भ कर चैत्र शुक्ला पूर्णिमा तक प्रत्येक मास पूर्णिमा को एक-एक याग किया जाता है। सभी यागों की अन्वाहार्य ही दक्षिणा होती है। वैशाखमास के अग्नि देवता का अष्टकपाल पुरोडाश, ज्येष्ठ मास के सोम देवता का चरु, आषाढ़ मास के सविता का द्वादशकपाल पुरोडाश, श्रावण के बृहस्पति का चरु, भाद्रपद के त्वष्टा का दशकपाल पुरोडाश, आश्विन के वैश्वानर का द्वादश कपाल पुरोडाश, कार्तिक की सरस्वती का चरु, मार्गशीर्ष के पूषा का चरु, पौष के मित्र का चरु, माघ के क्षत्रपति का चरु, फाल्गुन के वरुण का चरु, चैत्र की अदिति का चरु।

द्वितीय पक्ष—वैशाख पूर्णिमा को बारह यागों का अनुष्ठान करे। देवयजन में खड़े होकर अध्वर्यु पूर्व की ओर शम्या फेंके। जहाँ शम्या गिरे, वहाँ गार्हपत्य का मध्य मानकर यज्ञशाला बनाकर याग करे।[32] पुन: पूर्ववत् शम्या पूर्व की ओर फेंके। जहाँ गिरे, वहाँ द्वितीय याग करे। इस प्रकार आगे बढ़ते हुए छह हविर्याग करे। उसके बाद पश्चिम की ओर वापस लौटे। अन्तिम छठा याग जिस शाला में किया है, उसके गार्हपत्य खर के निकट खड़े होकर पश्चिम की ओर शम्या फेंके। जहाँ शम्या गिरे उस स्थान को आहवनीय का मध्य मान कर शाला बनाकर याग करे। पूर्ववत् शम्या फेंकता हुआ पश्चिम की ओर बढ़कर ग्यारह याग करे। बारहवाँ याग प्रथम यज्ञशाला में किया जाता है।

तृतीय प्रकार—एक ही स्थान पर छै: हविर्याग करे। बैलगाड़ी दक्षिणा में दे। पुन: सात से बारह याग करे और दक्षिणा दे। वैशाख की अमावास्या को अनूवन्ध्यायाग यथाविधि करे और गौ दक्षिणा में दे।

केशवपनीय अतिरात्र[33]

ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी से पूर्णिमा पर्यन्त पाँचदिन में केशवपनीय अतिरात्र याग सम्पन्न होता है। पौर्णमासी को इस याग की सुत्या होती है। राजसूय याग में होने वाले विशेष कृत्य पवित्र सोम के समान होते हैं। दीक्षा दक्षिणा प्रकृतिवत् करे।

व्युष्टि द्विरात्र

आषाढ़ में व्युष्टि याग किया जाता है। यह अहीनसंज्ञक होने के कारण इसका प्रारम्भ ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया को होता है। यह याग एक मास में समाप्त होता है। इसमें 16 दीक्षा, 12 उपसद् और दो सुत्या होती हैं।

क्षत्रधृति आदि याग

श्रावण पूर्णमासी को एक मास में सम्पन्न होने वाले क्षत्रधृति नामक सोमयाग का अनुष्ठान होता है। भाद्रपद में त्रिष्टोम अतिरात्र, आश्विन में ज्योतिष्टोम अतिरात्र और कार्तिक में राजसूय याग में विहित चरक सौत्रामणी का अनुष्ठान किया जाता है। इस प्रकार राजसूय याग सम्पन्न होता है।

राजसूय याग में कुल 449 इष्टियाँ, दो पशु याग, आठ सोम याग एवं सात दर्विहोम होते हैं। इसके बाद अनेक अङ्गभूत कर्म होते हैं।



सन्दर्भ

1. काशिका 3.1.144, पू.मी. 4.4.1. शाबरभाष्यम्।
2. अनिष्ठितो वाजपेयेन॥ (का.श्रौ.सू. 15.1.1.) राज्ञ एव राजसूयम्। राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति न वै ब्राह्मणो राज्यायमलमवरं वै राजसूयं परं वाजपेयम्॥ सम्राड्वाजपेयेनावरं हि राज्यं परं साम्राज्यं कामयेत वै राजा सम्राड् भवितुम्.....॥ (श.ब्रा. 5.1.12-13, आप. श्रौ. 18.8.1, लाट्या. 9.1.1.)
3. राजा राजसूयेन स्वर्गकामो यजेत। शतसहस्रं सर्वेषु राजसूयिकेषु सोमेषु क्रमशः प्रतिविभज्यान्वहं ददाति। (सत्या.श्रौ. 13.3.1.6.) यद्राजसूयेन यजते सर्वेषां राज्यानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति। (शां.श्रौ. 15.12.1)
4. तस्मै हरिश्चन्द्राय वरुणो एतं राजसूयाख्यं क्रतुं प्रोक्तवान्। तस्य क्रतोर्विश्वामित्रो होता बभूव। अथास्य आङ्गिरस उद्गाता आसीत्। जमदग्निर्नामर्षिः सोऽध्वर्युरासीत्। तदानीं बभूव। (शां.श्रौ.भा. 15.20.21)

5. यत्राज्याहुतौ पशुहिंसा नास्ति तत्रेष्टि शब्दः। यत्र मांसमपि देवतायै दीयते तत्र पशुशब्दः। यत्र ग्रह्यागे सोमाहुतिस्तत्र सोमशब्दः।
6. सप्तसुत्याः सप्त च पाकयज्ञाः हविर्यज्ञाः सप्त तथैकविंशतिः। सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपियन्ति नूतना यानृषयः सृजन्ति ये च सृष्टाः पुराणैः॥ (गो.ब्रा. 5.25)

   सायं प्रातर्नित्यहोमौ स्थालीपाको नवश्च यः।

   बलिश्च पितृयज्ञश्च अष्टका सप्तमः पशुः॥ (इत्येते पाकयज्ञाः)

   अग्न्याधेयमग्निहोत्रं पौर्णमास्यमावास्ये।

   नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्धोऽत्र सप्तमः॥ (इत्येते हविर्यज्ञाः)

   अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशिमांस्ततः।

   वाजपेयोऽतिरात्रश्च आप्तोर्यामोऽत्र सप्तमः॥ (इत्येते सुत्याः)
7. हविर्यज्ञविधो ह वा अन्यः पशुबन्धः (गो.ब्रा. 5 प्र. 23)। सवविधोऽन्यः स हैष हविर्यज्ञविधो यस्मिन्व्रतमुपनयति यस्मिन्नपः प्रणयति यस्मिन्पूर्णपात्रन्निनयति यस्मिन् विष्णुक्रमान्क्रमत्यथ हैष सवविधो यस्मिन्नेतानि न क्रियन्ते॥ (श.ब्रा. 11.7.2.1)
8. यज्ञो वै विष्णुः। सोऽसावादित्यः। तस्य धर्मः प्रवर्ग्यः शिरोभागः। छिन्नशीर्षा हि सर्वो यज्ञः। स शिरोयज्ञेन शीर्षण्वान् भवति। स यदेनेन यज्ञस्य शिरः प्रतिसन्धत्ते तेनासौ शिरोयज्ञो नाम। नात्र प्रणीताः प्रणयन्ति। नात्र प्रयाजानुयाजाः। नाज्यभागावत्र जुहोति। मृन्मयैरेवात्र जुहोति न वानस्पत्यैरिति विशेषः। तत्र सहस्रे प्रवृज्ज्यात्, सर्ववेदसे च विश्वजिति च वाजपेये च राजसूये च सत्रे च एतान्येवास्य प्रवर्जनानि। नातोऽन्यत्र। तेनाग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि पशुबन्धः सौम्योऽध्वरश्चेत्येते सर्वेऽप्यप्रवर्ग्याः सोऽयं धर्मयागः। प्रवर्ग्ययागः। सम्राड्यागः। महावीरोपासना चेत्येभिः शब्दैर्व्यपदिश्यते। इति शिरो **यज्ञाधिकारः।**

   अग्निचित्या, वाजपेयः, राजसूयः, अश्वमेधः, इत्येते चत्वारो**ऽतियज्ञाः।** **महायज्ञो** द्वेधा सोम सुरा च। **हविर्यज्ञस्त्रिधा**–इष्टिः पशुः पित्र्यञ्च। पाकयज्ञो द्विविधः लाट्यायनमते, त्रिविधो मानवगृह्यादौ, चतुर्विधः पारस्करमते।
9. पवित्रश्चतुर्दीक्षः सहस्रदक्षिणः॥ (का.श्रौ. 15.1.3)
10. पूर्णाहुतिं जुहोति (श.ब्रा. 5.2.2-1)।

11. अनुमत्यै हविरष्टकपालं पुरोडाशम् (श.ब्रा. 5.2.22)।
12. दक्षिणां गत्वा स्वयं प्रदीर्णे ईरिणे वा (का.श्रौ. 15.1.8.)।
13. एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व (श.ब्रा. 5.2.2.3)।
14. वासो देयम् (का.श्रौ. 15.1.10)।
15. हिरण्यमाग्नावैष्णवे (का.श्रौ. 15.1.11)।
16. पुनरुत्सृष्टो गौरग्नीषोमीये (का.श्रौ. 15.1.12)।
17. अनड्वान् साण्ड ऐन्द्राग्ने (का.श्रौ. 15.1.13)।
18. वैश्वदेवेन यजते (श.ब्रा. 5.2.3.1)।
19. वरुणप्रघासैर्यजते (श.ब्रा. 5.2.3.2.)।
20. शु.प.वे.मा.सं. 9.35
21. शु.प.वे.मा.सं. 9.36
22. अनडुह्वै वहलाया ऐन्द्रं दधि भवति (श.ब्रा. 5-2.3.13)
23. अथापामार्गहोमेन चरन्ति (श.ब्रा. 5.2.3.14)
24. अपामार्ग तण्डुत्वान् कृत्वा (का.श्रौ. 15-2.2)
25. रक्षांसित्वेतिस्रुवमस्यति। (का.श्रौ. 15.2.7)
26. श्वो वैश्वानरो0 वारुप्यश्चैक तन्त्रे (का.श्रौ. 15.2.18)।
27. अथ मैत्राबार्हस्पत्यं चरुं निर्वपति (श.ब्रा. 5.2.6.4)।
28. श.ब्रा. 5.2.7.2-9
29. श.ब्रा. 5.3.3.9
30. का.श्रौ.सू. 15.6.1
31. का.श्रौ.सू. 15.7.1-3
32. का.श्रौ. सू. 15.7.13
33. श.ब्रा. 5.4.2.6.16, का.श्रौ. 15.8.1
34. का.श्रौ. 18.8.24-26
35. का.श्रौ. 15.9.1
36. का.श्रौ. 15.9.5
37. का.श्रौ. 15.9.8
38. का.श्रौ. 15.9-21

